प्रकरण-सूची

भूमिका ।

इस सग्रहमें भगवत्कुन्दकुन्दाचार्यके षट्प्राभृत (दर्शन, चारित्र, सूत्र, बोध, भाव और मोक्ष प्राभृत), लिंगप्राभृत, शीलप्राभृत, रयणसार, और बारह अणुवेक्खा ये पाँच ग्रन्थ प्रकाशित किये जाते हैं। समयसार, प्रवचनसार, पंचास्तिकाय और नियमसार ये चार ग्रन्थ पहले कई स्थानोंसे प्रकाशित हो चुके हैं। अभी तक कुन्दकुन्द स्वामीके बनाये हुए ये नौ ही ग्रन्थ उपलब्ध हुए हैं।

इनमेंसे षट्प्राभृत सटीक प्रकाशित किया जाता है और शेष ४ संस्कृतच्छायासहित। इन पिछले ग्रन्थोंकी कोई टीका अभीतक देखने सुननेमें नहीं आई।

भगवत्कुन्दकुन्द।

दिगम्बर-जैन-सम्प्रदायमें आचार्य कुन्दकुन्द सबसे प्रसिद्ध और सबसे अधिक पूज्य आचार्य गिने जाते हैं। पिछले अधिकांश आचार्योंने आपको उन्हींके अन्वय या आम्नायका बतलाया है। उनकी रचना जैनसाहित्य भरमें अपनी तुलना नहीं रखती।

अबसे लगभग ६ वर्ष पहले हम उनके सम्बन्धमें एक विस्तृत लेख प्रकाशित कर चुके हैं।* वे द्रविड देशके 'कोण्डकुण्ड' नामक स्थानके रहनेवाले थे और इस कारण 'कोण्डकुण्ड' नामसे प्रसिद्ध थे। 'कोण्डकुण्ड' का ही श्रुतिमधुर संस्कृतरूप 'कुन्दकुन्द' हो गया है। 'एलाचार्य' के नामसे भी ये प्रसिद्ध थे। तामिल भाषाके सुप्रसिद्ध महाकाव्य 'कुरल' के विषयमें महाराजा कालेज विजयानगरमके इतिहासाध्यापक श्रीयुत एम० ए० रामस्वामी आयंगरने लिखा है कि "जैनियोंके मतसे उक्त ग्रन्थ 'एलाचार्य' नामक जैनाचार्यकी रचना है और तामिल काव्य 'नीलकेशी' के टीकाकार समयदिवाकर नामक जैनमुनि कुरलको

---

* देखो जैनहितैषी भाग १०, अंक ६–७।

अपना पूज्य ग्रन्थ बतलाते हैं " । * इससे आश्चर्य नहीं कि कुरलके रचयिता भगवत्कुन्दकुन्द ही हों। कहते हैं एलाचार्यने इसे रचकर अपने एक शिष्यको इस लिए दे दिया था कि वह मदुराके कविसंघमें जाकर पेश करे।

नन्दिसंघकी गुर्वावलीमें लिखा है कि भगवत्कुन्दकुन्दको वि० संवत् ४९ में आचार्यपद मिला और १०१ में उनका स्वर्गवास हुआ। तामिलदेशके विद्वानोंने कुरलकाव्यका रचना-काल भी ईसाकी पहली शताब्दि निश्चित किया है। यदि सचमुच ही वह इन्हीं एलाचार्यका बनाया हुआ है, तो पट्टावलीके समयके साथ उसका रचनाकाल मिल जाता है।

हमने अपने पूर्वोल्लिखित लेखमें भगवत्कुन्दकुन्दका समय विक्रमकी तीसरी शताब्दि निश्चित किया था।

उसके बाद जैनसिद्धान्त-प्रकाशिनी संस्थाद्वारा प्रकाशित 'समयप्राभृत' की भूमिकामें दक्षिणके सुप्रसिद्ध इतिहासज्ञ प्रो० के० बी० पाठकका यह मत प्रकाशित हुआ है कि कुन्दकुन्दाचार्य वि० संवत् ५८५ के लगभग हुए हैं। अपने मतकी पुष्टिमें उन्होंने लिखा है कि जिस समय राष्ट्रकूट-वंशीय राजा तृतीय गोविन्द राज्य करता था उस समय, शक संवत् ७२४ का लिखा हुआ एक ताम्रपत्र मिला है। उसमें निम्नलिखित पद्य दिये हुए हैं —

कोण्डकोन्दान्वयोदारो गणोऽभूद्भुवनस्तुत ।
तदैतद्विषयविख्यातं शाल्मलीग्राममावसन् ॥
आसीद(?)तोरणाचार्यस्तपःफलपरिग्रहः ।
तत्रोपशमसंभूतभावनापास्तकल्मप ॥
पण्डितः पुष्पनन्दीति बभूव भुवि विश्रुतः ।
अंतेवासी मुनेस्तस्य सकलश्चन्द्रमा इव ॥
प्रतिदिवसमभवद्वृद्धिर्निरस्तदोषो व्यपेतहृदयमलः ।
परिभूतचन्द्रबिम्बस्तच्छिष्योऽभूत्प्रभाचन्द्रः ॥

उक्त तृतीय गोविन्द महाराजके ही समयका शक संवत् ७१९ का एक और ताम्रपत्र मिला है, जिसमें नीचे लिखे पद्य हैं —

* देखो जैनहितैषी भाग १५ अंक १–२।

आसीद (?) तोरणाचार्यः कोण्डकुंदान्वयोद्भवः ।
स चैतद्विषये श्रीमान् शाल्मलीग्राममाश्रितः ॥
निराकृततमोऽरातिः स्थापयन् सत्पथे जनान् ।
स्वतेजोद्योतितक्षौणिश्चण्डार्चिरिव यो बभौ ॥
तस्याभूत्पुष्पनंदी तु शिष्यो विद्वान् गणाग्रणी. ।
तच्छिष्यश्च प्रभाचंद्रस्तस्येयं वसतिः कृता ॥

इन दोनों श्लोकोंका अभिप्राय यह है कि कोण्डकोन्दान्वयके तोरणाचार्य नामके मुनि इस देशमें शाल्मली नामक ग्राममें आकर रहे। उनके शिष्य पुष्पनंदि और पुष्पनन्दिके शिष्य प्रभाचन्द्र हुए।

पाठक महोदयका कथन है कि पिछला ताम्रपत्र जब शक सवत् ७१९ का है तो प्रभाचन्द्रके दादा-गुरु तोरणाचार्य शक सवत् ६०० के लगभग रहे होंगे और तोरणाचार्य कुन्दकुन्दान्वयमें हुए है—अतएव कुन्दकुन्दका समय उनसे १५० वर्ष पूर्व अर्थात् शक सवत् ४५० लगभग मान लेनेमें कोई हानि नहीं है।

चालुक्यवंशी कीर्तिवर्म महाराजने बादामी नगरमें शक सवत् ५०० में प्राचीन कदम्बवंशका नाश किया था और इसलिए इससे लगभग ५० वर्ष पूर्व कदम्बवंशी महाराज शिवमृगेशवर्म राज्य करते थे ऐसा निश्चित होता है। पंचास्तिकायके कनडी-टीकाकार बालचन्द्र और संस्कृत-टीकाकार जयसेनाचार्यने लिखा है कि यह ग्रन्थ आचार्य कुन्दकुन्दने शिवकुमार महाराजके प्रतिबोधके लिए रचा था और ये शिवकुमार शिवमृगेशवर्म ही जान पड़ते हैं। अतएव भगवत्कुन्दकुन्दका समय शक सवत् ४५० (वि० ५८५) ही सिद्ध होता है।

परन्तु हमारी समझमें भगवत्कुन्दकुन्द इतने पीछेके आचार्य नहीं हैं। जब तक शिवकुमार और शिवमृगेशवर्माके एक होनेके एक दो पुष्ट प्रमाण न दिये जावें तब तक इस समयको ठीक मान लेनेकी इच्छा नहीं होती। तोरणाचार्य कुन्दकुन्दके अन्वयमें थे, अतएव यह नहीं कहा जा सकता कि वे उनके १५० वर्ष बाद ही हुए होंगे। तीनसौ चारसौ वर्ष या इससे भी अधिक पहले हो सकते हैं।

इस भूमिकाका कंपोज हो चुकने पर हमें मालूम हुआ कि पंचास्तिकायके अँग्रेजी टीकाकार प्रो० ए० चक्रवर्ती नायनार एम० ए०, एल० टी०, ने भगवत्कुन्दकुन्दके समयके सम्बन्धमें एक विस्तृत लेख लिखा है। उसमें उन्होंने

प्रो० पाठकके मतका विरोध करते हुए यह सिद्ध किया है कि शिवकुमार महाराज कदम्बवंशी शिवमृगेशवर्मा नहीं, किन्तु पल्लववंशी शिवस्कन्दवर्मा होने चाहिए। स्कन्द, कुमार और कार्तिकेय षडाननके नामान्तर हैं। अतएव शिवस्कन्द और शिवकुमार दोनों निस्सन्देह एक हो सकते हैं। पल्लववंशी राजाओंकी राजधानी काञ्चीपुर या वर्तमान् कॉंजीवरम् थी। विद्या और कलाओंके लिए यह स्थान बहुत ही प्रसिद्ध था। दूरदूरके विद्वान् और कवि यहाँके दरबारमें आते थे। धार्मिक वादविवाद भी वहाँ होते थे। पल्लव राजा जैनी या जैनधर्मके आश्रयदाता थे, इसके भी प्रमाण मिलते हैं। उनकी दरबारी भाषा भी शायद प्राकृत थी। 'मायिडावोली' नामका सुप्रसिद्ध ग्रन्थ उसी समयका बना हुआ है और प्राकृतमें है। आचार्य कुन्दकुन्द द्रविडदेशके थे। इसके अनेक प्रमाण हैं, अतएव उनका शिष्य शिवकुमार यही शिवस्कन्दवर्मा होगा और उसका अवस्थितिकाल विक्रमकी प्रथम शताब्दि है।

श्रीश्रुतसागरसूरि।

षट्प्राभृत या षट्पाहुड़के टीकाकार आचार्य श्रुतसागर बहुश्रुत विद्वान् थे। इस टीकासे और यशस्तिलक-चन्द्रिकाटीकासे मालूम होता है कि वे कलिकालसर्वज्ञ, कलिकाल गौतमस्वामी, उभयभाषाकविचक्रवर्ती आदि महती पदवियोंसे अलंकृत थे। उन्होंने 'नवनवति' (९९) महावादियोंको पराजित किया था!

वे मूलसंघ, सरस्वतीगच्छ और बलात्कारगणके आचार्य और विद्यानन्दि भट्टारकके शिष्य थे। उनकी गुरुपरम्परा इस प्रकार थी—पद्मनन्दि--देवेन्द्रकीर्ति-विद्यानन्दि।

परन्तु विद्यानन्दि भट्टारकके पट्टपर जान पड़ता है उनकी स्थापना नहीं हुई थी। क्यों कि विद्यानन्दिके बादकी गुरुपरम्परा इस प्रकार मिलती है—विद्यानन्दि—मल्लिभूषण—लक्ष्मीचन्द्र।

स्वर्गीय दानवीर सेठ माणिकचन्द्रजीके ग्रन्थभण्डारमें पं० आशाधरके महाभिषेक नामक ग्रन्थकी टीका है। उसके अन्तमें इस प्रकार लिखा है:—

"श्रीविद्यानंदिगुरोर्बुद्धिगुरोः पादपंकजभ्रमर ।
श्रीश्रुतसागर इति देशव्रती तिलकष्टीकते स्मेदं ॥
इति ब्रह्मश्रीश्रुतसागरकृता महाभिषेकटीका समाप्ता ॥
श्रीरस्तु लेखकपाठकयोः ॥ शुभं भवतु ॥ श्री ॥

संवत् १५८२ वर्षे चैत्रमासे शुक्लपक्षे पंचम्यां तिथौ रवौ श्रीआदिजिन-चैत्यालये श्रीमूलसंघे सरस्वतीगच्छे बलात्कारगणे श्रीकुन्दकुन्दाचार्यान्वये भट्टारकश्रीपद्मनंदिदेवास्तत्पट्टे भट्टारकश्रीदेवेन्द्रकीर्तिदेवास्तत्पट्टे भट्टारकश्रीविद्यानंदिदेवास्तत्पट्टे भट्टारकश्रीमल्लिभूषणदेवास्तत्पट्टे भट्टारकश्रीलक्ष्मीचन्द्रदेवास्तेषां शिष्यवरब्रह्मश्रीज्ञानसागरपठनार्थं ॥ आर्या श्रीविमलश्री चेली भट्टारक श्रीलक्ष्मीचन्द्र-दीक्षित. विनयश्रिया स्वयं लिखित्वा प्रदत्तं महाभिषेकभाष्यं ॥ शुभं भवतु ॥ कल्याणं भूयात् ॥ श्रीरस्तु ॥"

इससे मालूम होता है कि विद्यानंदिके पट्टपर मल्लिषेणकी और उनके पट्टपर लक्ष्मीचन्द्रकी स्थापना हुई थी। यशस्तिलकटीकामें श्रुतसागरने मल्लिभूषणको अपना गुरुभ्राता लिखा है। इससे भी मालूम होता है कि विद्यानंदिके उत्तराधिकारी मल्लिभूषण ही हुए होंगे। यशस्तिलकचन्द्रिका टीकाके तीसरे आश्वासके अन्तमें लिखा है—

"इतिश्रीपद्मनंदिदेवेंद्रकीर्तिविद्यानंदिमल्लिभूषणाम्नायेन भट्टारकश्रीमल्लिभूषण-गुरुपरमाभीष्टगुरुभ्रात्रा गुर्जरदेशसिंहासनभट्टारकश्रीलक्ष्मीचन्द्रकाभिमतेन मालवदेशभट्टारकश्रीसिंहनंदिप्रार्थनया यतिश्रीसिद्धान्तसागरव्याख्याकृतिनिमित्तं नवनवतिमहामहावादिस्याद्वादलब्धविजयेन तर्कव्याकरणछंदोऽलंकारसिद्धांतसाहित्यादिशास्त्रनिपुणमतिना प्राकृतव्याकरणाद्यनेकशास्त्रचञ्चुना सूरिश्रीश्रुतसागरेण विरचितायां यशस्तिलकचंद्रिकाभिधानायां यशोधरमहाराजचरितचम्पुमहाकाव्यटीकायां यशोधरमहाराजराजलक्ष्मीविनोदवर्णनं नाम तृतीयाश्वासचन्द्रिका परिसमाप्ता।"

इससे मालूम होता है कि उस समय गुर्जर देशके पट्टपर भट्टारक लक्ष्मीचन्द्र स्थित थे और मल्लिभूषणका शायद स्वर्गवास हो चुका था।

लक्ष्मीचन्द्रके बाद भी श्रीश्रुतसागरके पट्टाधिकारी होनेका कोई उल्लेख नहीं मिलता। जान पड़ता है वे कभी सिंहासनासीन हुए ही नहीं।

ये पद्मनंदि, विद्यानंदि आदि सब गुजरातके ही भट्टारक हुए हैं। परन्तु यह मालूम न हो सका कि गुजरातकी किस स्थानकी गद्दीको इन्होंने सुशोभित किया था। ईडर, सूरत, सोजित्रा आदि कई स्थानोंमें भट्टारकोंके पट्ट रहे हैं। यशस्तिलककी रचनाके समय मालवेके पट्टपर सिंहनंदि भट्टारक थे। इन्हींकी प्रेरणासे श्रुतसागरसूरिने नित्यमहोद्योत या महाभिषेककी भी टीका लिखी थी।

श्रुतसागरसूरिके भी अनेक शिष्य रहे होंगे । इसी ग्रन्थमालाके तत्त्वानुशासनादिसंग्रहमें इनके एक श्रीचन्द्र नामक शिष्यकी रची हुई वैराग्यमणिमाला प्रकाशित हुई है । आराधनाकथाकोश, नेमिपुराण, आदि अनेक ग्रन्थोंके कर्त्ता ब्रह्मचारी नेमिदत्तने भी—जो मल्लिभूषणके शिष्य थे—श्रुतसागरको गुरुभावनासे स्मरण किया है * । नेमिदत्तने भी मल्लिभूषणकी वही गुरुपरम्परा दी है, जो श्रुतसागरके ग्रन्थोंमें मिलती है । उन्होंने सिंहनन्दिका भी उल्लेख किया है।

श्रुतसागरका अभी तक टीकाग्रन्थोंके अतिरिक्त कोई स्वतन्त्र ग्रन्थ उपलब्ध नहीं हुआ है ।

उनके बनाये हुए ग्रन्थोंका परिचय आगे दिया जाता है —

१ यशस्तिलकचन्द्रिका । यह निर्णयसागर प्रेसकी 'काव्यमाला' में प्रकाशित हो चुकी है । यह टीका अपूर्ण है–५ वें आश्वासके कुछ अंशकी और छठे आश्वासकी टीका नहीं है । जान पड़ता है, यही उनकी अन्तिम रचना है । यह टीका अनेक स्थानोंके ग्रन्थभण्डारोंमें मिलती है, परन्तु सवत्र ही अपूर्ण है।

२ महाभिषेकटीका । सुप्रसिद्ध पंडित आशाधरजीके बनाये हुए नित्य महोद्योत या महाभिषेक नामक ग्रन्थकी यह टीका है । इसका अन्तिम अंश ऊपर उद्धृत किया जा चुका है । उससे मालूम होता है कि उस समय श्रुतसागर देशव्रती या ब्रह्मचारी थे, सूरि या आचार्य नहीं हुए थे ।

३ तत्त्वार्थटीका । यह श्रुतसागरी टीकाके नामसे प्रसिद्ध है । इस लेखके लिखते समय हमें इसकी प्राप्ति नहीं हो सकी । परन्तु यह दुष्प्राप्य नहीं है–इसका भाषानुवाद भी हो चुका है ।

४ तत्त्वत्रयप्रकाशिका । आचार्य शुभचन्द्रकृत ज्ञानार्णवके अन्तर्गत जो गद्यभाग है, यह उसीकी टीका है । इसकी एक प्रति स्व० सेठ माणिकचन्द्रजीके ग्रंथसंग्रहमें† मौजूद है । उसकी प्रशस्ति देखिए —

---

* जीयान्मे सूरिवर्यो व्रतनिचयलसत्पुण्यपुष्टः श्रुतादिः ॥ ४
तथा पादपयोज युग्मकृपया . . . । इत्यादि ।
—आराधनाकथाकोशप्रशस्ति ।

† ग्रन्थ नं० १ ।

" आचार्यैरिह शुद्धतत्त्वमतिभिः श्रीसिंहनन्द्याह्वयैः,
संप्रार्थ्य श्रुतसागरं [रं] कृ [कि] तवरं भाष्यं शुभं कारितं ।
गद्यानां गुणवत्प्रियं विनयतो ज्ञानार्णवस्यांतरे,
विद्यानंदिगुरुप्रसादजनितं देयादमेयं सुखम् ॥

इतिश्रीज्ञानार्णवस्य (?) स्थितगद्यटीका तत्त्वत्रयप्रकाशिना [का] समाप्त [सा] ॥ शुभमस्तु ॥ "

५ जिनसहस्रनाम टीका। यह पं० आशाधरकृत जिनसहस्रनामकी विस्तृत टीका है। इसकी भी एक प्रति सेठजीके मन्दिरमें मौजूद है। शब्द-बोध और व्युत्पत्तिबोधके अभिलाषियोंके लिए बड़े कामकी चीज है। इसकी भी प्रशस्ति देखिए —

" श्रीपद्मनन्दिपरमात्मपरः पवित्रो, देवेंद्रकीर्तिरथ साधुजनाभिवंद्यः ।
विद्यादिनंदिवरसूरिरनल्पबोध., श्रीमल्लिभूषण इतोऽस्तु च मंगलं मे ॥२॥
अतः पट्टे भट्टारकमतघटाघट्टनपटुः,
घटद्धर्मध्यानं स्फुटपरमभट्टारकपदं ।
प्रभापुञ्जः संयद्विजितवरवीरस्मरनरः,
सुधीर्लक्ष्मीचन्द्रश्चरणचतुरोऽसौ विजयते ॥ ३ ॥
आत धन सुविदुषां हृदयांवुजानां,
आनन्दनं मुनिजनस्य विमुक्तिहेतोः
सट्टीकनं विविधशास्त्रविचारचारु-
चेतश्चमत्कृतिकृतं श्रुतसागरेण । ४ ॥
श्रुतसागरकृतिवरवचनामृतपानमत्रयैर्विहित ।
जन्मजरामरणहरं निरतरं तैः शिवं लब्धं ॥ ५ ॥
अस्ति स्वस्ति समस्तसंघतिलकं श्रीमूलसंघोऽनर्घ,
वृत्तं यत्र मुमुक्षुवर्गशिवदं संसेवितं साधुभि ।
विद्यानंदिगुरुस्त्विहास्तिगुणवद्गच्छे गिरः सांप्रतं,
तच्छिष्य· श्रुतसागरेण रचिता टीका चिरं नंदतु ॥ ६ ॥

इति सूरिश्रीश्रुतसागरविरचितायां जिननामसहस्रटीकायामंतकृच्छत विवरणो नाम दशमोऽध्यायः ॥ १० ॥ श्रीविद्यानंदिगुरुभ्यो नमः । "

६ प्राकृतव्याकरण। यह ग्रन्थ हमें अभी तक प्राप्त नहीं हुआ। यशस्तिलक-टीकामें एक जगह उन्होंने अपने लिए यह विशेषण भी दिया है—" प्राकृतव्याकरणाद्यनेकशास्त्ररचनाचञ्चुना।" इससे और षट्प्राभृतटीकामें जो जगह जगह प्राकृत व्याकरणके सूत्र दिये हैं उनसे भी मालूम होता है कि इनका बनाया हुआ कोई प्राकृत व्याकरण अवश्य है। इस ग्रन्थका पता लगानेकी बहुत आवश्यकता है।

इनके सिवाय तर्कदीपक, विक्रमप्रबन्ध, श्रुतस्कन्धावतार, आशाधरकृत पूजाप्रबन्धकी टीका, बृहत्कथाकोश आदि और भी कई ग्रन्थ इनके बनाये हुए कहे जाते हैं।

इन्होंने अपने किसी भी ग्रन्थमें अपने समयका उल्लेख नहीं किया है, परन्तु यह प्रायः निश्चित है कि ये विक्रमकी १६ वीं शताब्दिमें हुए हैं। क्यों कि—

१—ऊपर जिस महाभिषेकटीकाकी प्रतिका उल्लेख किया गया है वह वि० सं० १५८२ की लिखी हुई है और वह भट्टारक मल्लिभूषणके उत्तराधिकारी लक्ष्मीचन्द्रके शिष्य ब्रह्मचारी ज्ञानसागरके पढ़नेके लिए दान की गई है और इन लक्ष्मीचन्द्रका उल्लेख श्रुतसागरने स्वयं अपनी टीकाओंमें कई जगह किया है।

२—आराधनाकथाकोशके कर्ता ब्र० नेमिदत्त वि० १५७५ के लगभग हुए हैं और वे श्रुतसागरके गुरुभ्राता मल्लिभूषणके शिष्य थे।

३—स्वर्गीय बाबा दुलीचन्दजीकी सं० १९५४ की बनाई हुई हस्तलिखित ग्रन्थोंकी सूचीमें श्रुतसागरका समय वि० संवत् १५५० लिखा हुआ है।

४—षट्प्राभृतटीकामें जगह जगह लोंकाशाहपर तीव्र आक्रमण किये गये हैं और श्वेताम्बरसम्प्रदायमेंसे यह मूर्तिपूजाका विरोधी पन्थ वि० संवत् १५०८ के लगभग स्थापित हुआ है। अतएव श्रुतसागरका समय इसकी स्थापनासे अधिक नहीं तो ४०–५० वर्ष पीछे अवश्य मानना चाहिए।

ग्रन्थ सम्पादन।

इस संग्रहका सम्पादन और संशोधन पण्डित पन्नालालजी सोनीने नीचे लिखी प्रतियोंसे किया है। जिन जिन सज्जनोंने इस कार्यके लिए ग्रन्थ भेजनेकी कृपा की है, उनके प्रति हार्दिक कृतज्ञता प्रकट किये बिना हमसे नहीं रहा जाता।

क–षट्पाहुडकी यह सटीक प्रति जो प्राय शुद्ध है जयपुरके लश्करीमन्दिरके भण्डारसे पं० इन्द्रलालजी शास्त्रीके द्वारा प्राप्त हुई थी। यह प्राय शुद्ध है।

ख–यह सटीक प्रति पूनेके 'डा० भाण्डारकर प्राच्यविद्यासंशोधनमन्दिर' से प्राप्त हुई थी। यह प्राय अशुद्ध है।

ग–यह षट्पाहुडका मूल पाठ मात्र है और बम्बईके तेरहपंथी मन्दिरके एक प्राचीन गुटकेमें लिखा हुआ है।

घ–यह प्रति सेठ विनोदीराम बालचन्दजीके फर्मके मालिक सेठ लालचन्दजी सेठीकी कृपासे प्राप्त हुई थी। इसमें मूलके सिवाय बहुत ही संक्षिप्त संस्कृतटीका किसी अज्ञातनामा विद्वानकी की हुई है। यह वि० सं० १६१० की लिखी हुई है।

लिंगप्राभृत और **शीलप्राभृत**का संशोधन श्रीमान् पं० धन्नालालजी काशलीवालकी एक ही प्रतिपरसे किया गया है। प्रयत्न करनेपर भी इन प्राभृतोंकी दूसरी प्रतियाँ नहीं मिल सकीं।

रयणसारका संशोधन जैनेन्द्र प्रेसके अध्यक्ष पं० कलाप्पा भरमाप्पा निटवे द्वारा प्रकाशित मराठी अनुवादयुक्त प्रतिसे और बम्बईके तेरहपंथी मन्दिरकी एक हस्तलिखित प्रतिसे किया गया है। इसकी छाया नई तैयार की गई है।

बारह अणुवेक्खा जैनग्रन्थरत्नाकर कार्यालयकी भाषाटीकासहित मुद्रित प्रतिपरसे छपाई गई है।

सम्पादक महाशयने प्रथमसंशोधन करनेमें शक्तिभर परिश्रम किया है। इतने पर भी यदि अशुद्धियाँ रह गई हों तो उनके लिए क्षमाप्रार्थना है।

बम्बई।
माघसुदी ९ सं०
१९७७ वि०।

निवेदक—
नाथूराम प्रेमी,
मंत्री।



नमः सिद्धेभ्यः ।

श्रीमत्कुन्दकुन्दाचार्यविरचितं

षट्प्राभृतम् ।

श्रीमच्छ्रुतसागरसूरिविरचितया टीकया सहितम् ।

दृग्वृत्तसूत्रबोधाढ्यं भावमोक्षसमाह्वयं ।
षट्प्राभृतमिति प्राहुः कुन्दकुन्दगुरूदितं ॥ १ ॥

अथ श्रीविद्यानन्दिभट्टारकपदाभरणभूतश्रीमल्लिभूषणभट्टारकाणामादेशादप्येषणावशाद्दृष्ट्वा प्रार्थनावशात्कलिकालसर्वज्ञविरुदावलीविराजमाना श्रीमद्धर्मोपदेशाकुशला निजात्मस्वरूपप्राप्तिं पञ्चपरमेष्ठिचरणान् प्रार्थयन्तः सर्वजगदुपकारिण उत्तमक्षमाप्रधानतपोरत्नसभूषितहृदयस्थला भव्यजनजनकतुल्याः श्रीश्रुतसागरसूरयः श्रीकुन्दकुन्दाचार्यविरचितषट्प्राभृतग्रन्थं टीकयन्तः स्वरुचिविरचितसद्दृष्टयः सम्यग्दर्शनप्राभृतस्यादौ परापरगुरुप्रवाहमङ्गलप्रसिद्धिप्रार्थनपरा नान्दीसूत्रस्य विवरणमाहुः—

काऊण णमुक्कारं[1] जिणवरवसहस्स[2] वड्ढमाणस्स ।
दंसणमग्गं वोच्छामि जहाकम्मं समासेण ॥ १ ॥

कृत्वा नमस्कारं जिनवरवृषभस्य वर्धमानस्य ।
दर्शनमार्गं वक्ष्यामि यथाक्रमं समासेन ॥

---

१ णमोकारं. ग । णमोयारं घ । २ वसहस्स ग ।

अष्टपदा नान्दी। **वोच्छामि** वक्ष्यामि कथयिष्यामि। क कर्ता, अहं श्रीकुन्दकुन्दाचार्य । क, कर्मतापन्न **दंसणमग्गं** सम्यग्दर्शनस्वरूपं। कथं वक्ष्यामि, **जहाकम्मं** यथाक्रममनुक्रमेण। केन कृत्वा, **समासेण** सक्षेपेण। किं कृत्वा, पूर्वं **वड्ढमाणस्स णमुकारं काऊण** वर्द्धमानस्य प्रियकारिणीवल्लभश्रीसिद्धार्थमहाराजनन्दनस्यासिमतीर्थकरपरमदेवस्य भरतक्षेत्रस्थविदेहदशसम्बन्धिश्रीकुण्डपुरपत्तनोत्पन्नस्य सुवर्णवर्णशरीरस्य किंचिदधिकद्वासप्ततिवर्षपरमायुष सप्तहस्तोन्नतशरीरस्य निर्भयत्वरंजितसगमनामधेयदेवकृतस्तवनस्य वीरवर्द्धमानमहावीरमहतिमहावीरस मतिनामपंचकप्रसिद्धस्य। **नमुक्कारं** नमोऽस्त्विति वचनेन मनसा कायेन वचसा साष्टाङ्ग प्रणाम। **काऊण** कृत्वा। कथंभूतस्य वर्धमानस्य, **जिणवरवसहस्स** जिनवराणा श्रीगौतमादिगणधरदेवादीना मध्ये वृषभस्य श्रेष्टस्य। इत्यनेन विशेषणेन प्रथमतीर्थकरश्रीमदादिनाथादीनामपि सर्वतीर्थकरसमुदायस्यापि नमस्कारः कृतो भवतीति वेदितव्य।

दंसणमूलो धम्मो उवइट्ठो जिणवरेहिं सिस्साणं।
तं सोऊण सकण्णे दंसणहीणो ण वंदिव्वो ॥ २॥

दर्शनमूलो धर्मः उपदिष्टो जिनवरैः शिष्याणाम्।
तं श्रुत्वा स्वकर्णे दर्शनहीनो न वन्दितव्यः ॥

दंसणमूलो धम्मो दर्शनं सम्यक्त्वं मूलमधिष्ठानमाधारं प्रासादस्य गर्तापूरवत् वृक्षस्य पाताळगतजटावत् प्रतिष्ठा यस्य धर्मस्य स दर्शनमूल एवं गुणविशिष्टः धर्मो दयालक्षण। **जिणवरेहिं** तीर्थकरपरमदेवैरपरकेवलिभिश्च। **उवइट्ठो** उपदिष्टः प्रतिपादितः। केषामुपदिष्टः, **सिस्साण** शिष्याणा गणधरचक्रधरवज्रधरादीना भव्यवरपुण्डरीकाणां। **तं सोऊण सकण्णे** तं धर्मं श्रुत्वाऽऽकर्ण्य स्वकर्णे निजश्रवणे आमशब्दमहे।

१ सोदूण ग। २ न क।

दंसणहीणो न वंदिव्वो दर्शनहीनः सम्यक्त्वरहितो न वन्दितव्यो नैव वन्दनीयो न माननीयः । तस्यान्नदानादिकमपि न देयं । उक्तं च-

मिथ्यादृग्भ्यो ददद्दानं दाता मिथ्यात्ववर्धकः ।

अथ कोऽसौ दर्शनहीन इति चेत् तीर्थकरपरमदेवप्रतिमां न मानयन्ति न पुष्पादिना पूजयन्ति । किमिति न पूजयन्ति? मिथ्यादृष्टय. किलैवं वदन्ति तीर्थकरपरमदेवः किं देवान् पूजयति ? तथा वयमपि न पूजयाम. । पंचमकाले किल मुनयो न वर्तन्ते तदयुक्तं । उक्तं च—

भर्तारः कुलपर्वता इव भुवो मोहं विहाय स्वयं
रत्नानां निधयः पयोधय इव व्यावृत्तवित्तस्पृहाः ।
स्पृष्टाः कैरपि नो नभोविभुतया विश्वस्य विश्रान्तये
सन्त्यद्यापि चिरंतनान्तिकचराः सन्त कियन्तोऽप्यमी ॥ १ ॥

मिथ्यादृष्टय. किल वदन्ति व्रतैः किं प्रयोजनं, आत्मैव पोषणीयः, तस्य दुःखं न दातव्यं, मयूरपिच्छं किल रुचिरं न भवति, सूत्रपिच्छं रुचिरं, मयूरपिच्छेन आत्मेटन छोतिर्भवति तदसत्यं। उक्तं च भगवत्याराधनाग्रन्थे—

रजसेदाणमगहणं मद्दवसुकुमालदालहुत्तं च ।
जत्थेदे पंच गुणा तं पडिलिहणं पसंसंति ॥ १ ॥

शासनदेवता न पूजनीयाः, आत्मैव देवो वर्तते, अपरः कोऽपि देवो नास्ति, वीरादनन्तरं किल केवलिनोऽष्ट जाता न तु त्रयः, महापुराणादिकं किल विकथा इत्यादि ये उत्सूत्रं मन्वते ते मिथ्यादृष्टयश्चार्वाका नास्तिकास्ते । यदि जिनसूत्रमुल्लघंते तदाऽऽस्तिकैः युक्तिवचनेन निषेधनीयाः । तथापि यदि कदाग्रहं न मुञ्चन्ति तदा समर्थैरास्तिकैरुपानद्भि गूथलिप्ताभिर्मुखे ताडनीया , तत्र पापं नास्ति ।

१ उक्तं चासरपुराणस्य वर्धमानपुराणे—(अग्रे)

दंसणभट्ठा भट्ठा दंसणभट्ठस्स णत्थि णिव्वाणं ।
सिज्झंति चरियभट्ठा दंसणभट्ठा ण सिज्झंति ॥ ३ ॥

दर्शनभ्रष्टा भ्रष्टा दर्शनभ्रष्टस्य नास्ति निर्वाणम् ।
सिद्ध्यन्ति चरित्रभ्रष्टा दर्शनभ्रष्टा न सिद्ध्यन्ति ॥

दर्शनभ्रष्टा भ्रष्टा सम्यग्दर्शनात्पतिता पतिता उच्यन्ते । दर्शनभ्रष्टस्य नास्ति निर्वाण—सम्यग्दर्शनात्पतितस्य सर्वकर्मक्षयलक्षणो मोक्षो न भवति किन्तु सम्यग्दर्शनात्पतिता नरकादिगतिषु परितो दीर्घकालं पर्यटन्ति । **सिज्झंति चरियभट्ठा** सिद्ध्यन्ति आत्मोपलब्धिमनुभवन्ति प्राप्नुवन्ति, के, ते चरियभट्ठा–चारित्रात्पतिता यतिश्रावकलक्षणब्रह्मचर्यप्रत्याख्यानाभ्यां स्खलिता , सामग्रीं प्राप्य श्रेणिकमहाराजादिवत् स्तोकेन कालेन मोक्षं प्राप्नुवन्ति । **दंसणभट्ठा न सिज्झंति** सम्यग्दर्शनात्पतिता न सिद्ध्यन्ति मोक्षं न प्राप्नुवन्ति भव्यसेनादिवत् वशिष्ठर्ष्यादिवच्च संसारे निमज्जन्ति इति ज्ञात्वा श्रुतकीर्तिश्रेयासादिप्रमाणपुरुषैरुपप्रवर्तितं दानपूजादिसत्कर्म न निषेधनीयं, आस्तिकभावेन सदा स्थातव्यमित्यर्थः ।

सम्मत्तरयणभट्ठा जाणंता बहुविहाइं सत्थाइं ।
आराहणाविरहिया भमंति तत्थेव तत्थेव ॥ ४ ॥

सोऽपि पापः स्वयं क्रोधाद्रक्तीभूतवीक्षणः ।
उद्यमी किंद्रमाहर्तुं प्रस्फुरद्दशनच्छदः ॥ १ ॥
सोढुं तदक्षमः कश्चिदसुरः पुरुदष्टः सदा ।
हनिष्यति तमन्यायं दक्षः सन् सहते न हि ॥ २ ॥
सोऽपि रत्नप्रभां गत्वा सागरोपमजीवितः ।
चिरं चतुर्मुखो दुःखं लोभादनुभविष्यति ॥ ३ ॥
धर्मनिर्मूलविध्वंसं सहन्ते न प्रभावकाः ।
नास्ति मावपल्लोन विना धर्मप्रभावना ॥ ४ ॥
धर्मध्वंसे सतां ध्वंसस्तस्माद्धर्मद्रुहोऽधमान् ।
निवारयन्ति ये सन्तो रक्षितं तैः सतां जगत् ॥ ५ ॥

१ न क । २ घ ग ।

सम्यक्त्वरत्नभ्रष्टा जानन्तो बहुविधानि शास्त्राणि ।
आराधनाविरहिता भ्रमन्ति तत्रैव तत्रैव ॥

सम्मत्तरयणभट्टा सम्यक्त्वरत्नभ्रष्टा सम्यक्त्वमेव रत्नं सर्वेभ्यो भावेभ्य उत्तम वस्तु त्रैलोक्यपत्यसमुद्योतकत्वात् तस्माद्भ्रष्टा परिच्युता दानपूजादिकनिषेधका । **जाणंता बहुविहाइं सत्थाइं** जानन्तोऽपि बहुविधानि शास्त्राणि तर्कव्याकरणछन्दोऽलङ्कारसाहित्यसिद्धान्तादीन् ग्रन्थान् जानाना अपि । **आराहणाविरहिया** जिनवचनमाननलक्षणामाराधनामकुर्वाणा लौंका पातकिन । **भमंति तत्थेव तत्थेव** तत्रैव तत्रैव नरकादिष्वेव दुर्गतिषु भ्राम्यन्ति न कदाचिदपि मोक्षं लभन्ते इत्यर्थ ।

सम्मत्तविरहिया णं सुट्टु वि उग्गं तवं चरता णं ।
ण लहंति बोहिलाहं अवि वाससहस्सकोडीहिं ॥ ५ ॥

सम्यक्त्वविरहिता ण सुष्ठु अपि उग्र तप चरन्त णं ।
न लभन्ते बोधिलाभ अपि वर्षसहस्रकोटिभि ॥

सम्मत्तविरहिया णं सम्यक्त्वविरहिता सम्यक्त्वात् ये विरहिता पतिता । णं वाक्यालङ्कारे । **सुट्टु वि उग्गं तवं कुणंता णं** सुष्ठु अपि अतीवापि उग्रं तप कुर्वन्तोऽपि मासोपवासादिक तपोविशेषमाचरन्तोऽपि । णमिति वाक्यालंकारे । **न लहंति बोहिलाहं** ते पुरुषा बोधिलाभं सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रलक्षणोपलक्षिता या बोधिस्तस्या लाभं न लभन्ते । कियत्कालपर्यन्तं बोधिलाभं न लभन्त इत्याह—**अवि वाससहस्सकोडीहिं** अपि वर्षसहस्रकोटिभि वर्षसहस्रकोटिभिरपि अनन्त कालमपि गमयित्वा ते मुक्तिं न गच्छन्तीत्यर्थ । इति ज्ञात्वा दानपूजादिकं व्यवहारधर्मं निश्चयधर्मे प्रधानभूत न वर्जनीयमिति भावार्थ ।

१ न क

सम्मत्तणाणदंसणबलवीरियवड्ढमाण जे सव्वे ।
कलिकलुसपावरहिया वरणाणी होंति अइरेणं ॥ ६ ॥

सम्यक्त्वज्ञानदर्शनबलवीर्यवर्द्धमाना ये सर्वे ।
कलिकलुषपापरहिता वरज्ञानिनो भवन्ति अचिरेण ॥

सम्मत्तणाणदंसणबलवीरियवड्ढमाण सम्यक्त्वज्ञानदर्शनबलवीर्यवर्द्धमाना । **जे सव्वे** ये सर्वे भव्यजीवा । सम्यक्त्वेन *जिनवचनरुचिरूपेण*, *ज्ञानेन पठनपाठनादिना*, *दर्शनेन सत्तावलोकनमात्रेण*, *बलेन* निजवीर्यानिगूहनरूपेण, वीर्येणात्मशक्त्या ये पुरुषा वर्धमाना वर्तमाना वा वड्डमाणपाठेन ते पुरुषा । **वरणाणी होंति** केवलज्ञानिनो भवन्ति वरशब्देन तीर्थकरत्वं प्राप्नुवन्तीत्यर्थः । कदा, **अइरेण** अचिरेण स्तोककालेन तृतीये भवे मोक्षं यान्तीत्यर्थः । ते पुरुषाः कथंभूता, **कलिकलुसपावरहिया** कलिसु कर्मसु यानि कलुषाणि दुष्टानि पापानि मोहनीयज्ञानावरणीयदर्शनावरणीयान्तरायलक्षणानि दुरितानि तैः रहिताः क्षयं नीतघातिकर्माण इत्यर्थः । अथवा कलौ पञ्चमकाले कलुषाः कश्मलिनः शौचधर्मरहिताः वर्णान् लोपयित्वा यत्र तत्र भिक्षाग्राहिणः, मासभक्षिगृहेष्वपि प्रासुकमन्नादिकं गृह्णन्त कलिकलुषास्ते च ते पापाः पापमूर्तयः श्वेताम्बराभासा लोकायकापरनामानो लौंका म्लेच्छश्मशानास्पदेष्वपि भोजनादिकं कुर्वाणास्तद्धर्मरहिताः कलिकलुषपापरहिताः । श्रीमूलसंघे परमदिगम्बरा मोक्षं प्राप्नुवन्ति लौंकास्तु नरकादौ पतन्ति देवगुरुशास्त्रपूजादिविलोपकत्वादित्यर्थः ।

सम्मत्तसलिलपवहो णिच्चं हियए पवट्टए जस्स ।
कम्मं वालुयवरणं बंधुच्चिय णासए तस्स ॥ ७ ॥

१ अचिरेण ग । २ हिययम्मि ग घ ।

सम्यक्त्वसलिलप्रवाह नित्य हृदये प्रवर्तते यस्य ।
कर्म वालुकावरण बद्धमपि नश्यति तस्य ॥

सम्मत्तसलिलपवहो सम्यक्त्वसलिलप्रवाह सम्यक्त्वमेव सलिल निर्मलशीतलसुग धसुस्वादुपानीयं संसारसन्तापनिवारकत्वात् पापमलकलङ्कप्रक्षालकत्वाच्च सम्यक्त्वसलिलं तस्य प्रवह प्रवाह पूर । **णिच्चं हियए पवट्टए जस्स** नित्यं हृदये प्रवर्तते यस्य जलपूरवद्वहतीत्यर्थ । **कम्मं वालुयवरणं** हिंसादिपञ्चपातकपापं वालुकापाली । **बंधुच्चिय** बद्धमपि । **नासए तस्स** नश्यति तस्य । सम्यग्दृष्टेर्बद्धमपि पापं बन्धं न याति कौरघटस्थित रज इव न बध याति । परदेवनमस्कारोऽपि पापमायाति । उक्त च——

एकवार नमस्कारे परदेवे कृते सति ।
परदारेषु लक्षेषु तस्मात्पाप चतुर्गुण ॥ १ ॥

जे दंसणेसु भट्ठा णाणे भट्ठा चरित्तभट्ठा य ।
एदे भट्ठविभट्ठा सेसं पि जणं विणासंति ॥ ८ ॥

ये दर्शनेषु भ्रष्टा ज्ञाने भ्रष्टा चरित्रभ्रष्टाश्च ।
एते भ्रष्टविभ्रष्टा शेषमपि जन विनाशयन्ति ॥

जे दंसणेसु भट्ठा ये पुरुषा दर्शनेषु सम्यक्त्वेषु द्विविधत्रिविधदशविधेषु भ्रष्टा पतिता अथवा दर्शने सुष्ठु भ्रष्टा । तथा **णाणे भट्ठा** अष्टविधाचारज्ञानादपि भ्रष्टा । **चरित्तभट्ठा य** त्रयोदशप्रकाराच्चारित्राद्भ्रष्टा । **एदे भट्ठविभट्ठा** एते भ्रष्टा विशेषेण भ्रष्टास्त्रिभ्रष्टत्वात् । **सेसं पि जणं विणासंति** शेषमपि जनमभ्रष्टमपि लोकं विणासन्ति-विनाशयन्ति भ्रष्टं विकुर्वन्ति ।

जो को वि धम्मसीलो संजमतवणियमजोयगुणधारी ।
तस्स य दोस कहन्ता भग्गा भग्गत्तणं दिंति ॥ ९ ॥

१ जे के वि ध

य कोऽपि धर्मशील सयमतपोनियमयोगगुणधारी ।
तस्य च दोषान् कथयन्त भग्ना भग्नत्व ददति ॥

जो को वि धम्मसीलो य कोऽपि धर्मशीलो धर्मे आत्मस्वरूपे उत्तमक्षमादिदशलक्षणे च धर्मे, पचप्रकारे त्रयोदशप्रकारे चारित्रे च प्राणिना रक्षणलक्षणे वा धर्मे शीलमभ्यास समाधिरभ्यासो यस्य स धर्मशीलः । उक्तं च—

धम्मो वत्थुसहावो खमादिभावो य दसविहो धम्मो ।
चारित्तं खलु धम्मो जीवाणं रक्खणो धम्मो ॥ १ ॥

संजमतवणियमजोयगुणधारी तथा य कोऽपि सयमतपोनियमयोगगुणधारी वर्तते । सयमश्च षडिन्द्रियषट्प्रकारप्राणिप्राणरक्षणलक्षण । तपश्च द्वादशप्रकारं । नियमश्च नियतकालव्रतधारण । उक्तं च—

नियमो यमश्च विहितौ द्वेधा भोगोपभोगसहारात् ।
नियमः परिमितकालो यावज्जीव यमो ध्रियते ॥ १ ॥

योगश्च वर्षादिकालस्थिति. । अथवाऽऽत्मध्यानं योग उच्यते । उक्तं च वीरनन्दिशिष्येण पद्मनन्दिना—

साम्यं स्वास्थ्यं समाधिश्च योगश्चेतोनिरोधनं ।
शुद्धोपयोग इत्येते भवन्त्येकार्थवाचकाः ॥ १ ॥

गुणाश्चतुरशीतिलक्षसख्या । के ते चतुरशीतिलक्षगुणा इति चेदुच्यन्ते— हिंसाऽनृतस्तेयमैथुनपरिग्रहक्रोधमानमायालोभजुगुप्साभयारतिरतित्यागा इतित्रयोदश दोषा । मनोवचनकायदुष्टत्वमिति षोडश । मिथ्यात्व प्रमाद पिशुनत्व अज्ञान इन्द्रियाणामनिग्रह एतै पंचभिर्मिलिता एकविंशतिर्दोषा भवन्ति तेषा त्यागा एकविंशतिर्गुणा भवन्ति ।

---

१ धर्मो वस्तुस्वभाव क्षमादिभावश्च दशविधो धर्म ।
चारित्र खलु धर्म जीवाना रक्षण धर्म ॥ १ ॥

अतिक्रमव्यतिक्रमातिचारानाचारत्यागैश्चतुर्भिर्गुणिताश्चतुरशीतिर्गुणा भवन्ति ते पृथिव्यादिशतजीवसमासैर्गुणिताश्चतुरशीतिशतानि गुणा भवन्ति ते दशशीलविराधनैर्गुणिताश्चतुरशीतिसहस्राणि गुणा भवन्ति। काश्ता शीलविराधना स्त्रीसंसर्ग १ सरसाहार २ सुगन्धसंस्कार ३ कोमलशयनासन ४ शरीरमण्डनं ५ गीतवादित्रश्रवण ६ अर्थग्रहणं ७ कुशीलसंसर्ग ८ राजसेवा ९ रात्रिसंचरण १० इतिदशशीलविराधना। ते आकम्पितादिदशालोचनादोषत्यागैर्दशभिर्गुणिता चत्वारिंशत्सहस्राधिकाष्टलक्षाणि गुणा भवन्ति। उत्तमक्षमादिदशधर्मैर्गुणिताश्चतुरशीतिलक्षाणि गुणा भवन्ति। अथातिक्रमादयश्चत्वार के? अतिक्रमस्तावद्विशिष्टमतित्याग। व्यतिक्रम शीलवृत्तिलंघन। अतिचारो विषयेषु प्रवर्तनं। अनाचारो विषयेष्वत्यासक्ति। के ते दशालोचनादोषा? तदर्थनिरूपिका गाथेयं —

आकंपिय अणुमाणिय जं दिट्ठं बादरं च सुहुमं च।
छन्नं सद्दाउलयं बहुजणमव्वत्त तस्सेवी ॥ १ ॥

अस्या अयमर्थ —आकम्पित आत्म्पो भयमुपपद्यते मा बहुदण्डं दासीदाचार्य १ अणुमाणियं अनुमान इयेतावत्पाप कृत भविष्यति निर्दोषो नास्ति २ जं दिट्ठं यत्कनचिद्दृष्ट तत्प्रकाशयति ३ बायर स्थूल पाप प्रकाशयति ४ सुहुम अल्पं पाप कथयति न महापाप प्रकाशयति ५ छण्ण प्रच्छन्न आचार्यमि कथयति न प्रकट ६। सद्दाउलय सघादिकृतकोलाहले सति कथयति पाप ॥ बहुजण बहु संघो मिलति तदा पाप प्रकाशयति ८ अव्वत्त अव्यक्त प्रकाशयति स्फुटं न कथयति ९ तस्सेवी यत्पाप प्रकाशितं तदेव पुनरपि करोति १० इति दशालोचनदोषा। दशकायसंयमा के? पचेन्द्रियनिर्जय पंचप्राणरक्षा इति दश। एतान् संयमतपोनियमयोगगुणान् धरतीयेवमवश्य

संयमतपोनियमयोगगुणधारी। तस्स य दोस कहंता तस्य च दोषान् कथयन्तः केचित्पापिष्ठाः। भग्गा भग्गत्तणं दिंति स्वयं भग्नाश्चारित्रात्पतिता भ्रष्टा अन्येषामपि भ्रष्टत्वमारोपयन्ति ते निन्दनीया इत्यर्थः।

जह मूलम्मि विणट्ठे दुमस्स परिवार णत्थि परिवड्ढी।
तह जिणदंसणभट्ठा मूलविणट्ठा ण सिज्झंति॥ १०॥

यथा मूले विनष्टे द्रुमस्य परिवारस्य नास्ति परिवृद्धिः।
तथा जिनदर्शनभ्रष्टाः मूलविनष्टा न सिद्ध्यन्ति॥

जह मूलम्मि विणट्ठे दुमस्स परिवार णत्थि परिवड्ढी यथा मूले पातालगताधारे विनष्टे विनाशं प्राप्ते द्रुमस्य वृक्षस्य परिवारस्य नास्ति परिवृद्धिः शाखापत्रपुष्पफलादेर्वृद्धिर्नास्ति वृद्धिर्न भवति। परिवार इत्यत्र षष्ठीलुक् "लुक्चेति" वचनात्। दृष्टान्तं दत्वा दार्ष्टान्तं ददाति। **तह जिणदंसणभट्ठा** तथा तेन द्रुममूलप्रकारेण जिनदर्शनभ्रष्टा आर्हतमतात्पतिताः। **मूलविणट्ठा** श्रीमूलसंघात्प्रच्युताः। न सिद्ध्यन्ति—न मोक्षं प्राप्नुवन्ति जन्मशतसहस्रेष्वपि संसारे परिभ्रमन्तीति भावार्थः।

जह मूलाओ खंधो साहापरिवार बहुगुणो होइ।
तह जिणदंसण मूलो णिद्दिट्ठो मोक्खमग्गस्स॥ ११॥

यथा मूलात् स्कन्धः शाखापरिवारो बहुगुणो भवति।
तथा जिनदर्शनं मूलं निर्दिष्टं मोक्षमार्गस्य॥

जह मूलाओ यथा मूलात् वृक्षस्य मूलात्कारणात् [1] स्कन्धः शाखाबधिः प्रकाण्डः। **बहुगुणो होइ** प्रचुरगुणो वृद्ध्यायातिशयवान् भवति। तथा **साहापरिवार** शाखापरिवारश्च लतास्वरूपो कटप्रश्च बहुगुणो भवति पत्रपुष्पफलादिमान् भवति। दृष्टान्तो गतः। इदानीं दार्ष्टान्त-

1 बहुगुणा इति. ग. घ.।

माह—तह जिणदंसण मूलो णिद्दिट्ठो मोक्खमग्गस्स तथा तेनैव वृक्षमूलप्रकारेणैव मोक्षमार्गस्य मूलं सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रलक्षणस्य मोक्षमार्गस्य मूलं कारणं, जिणदंसणं—जिनदर्शनं मूलं निर्दिष्टं श्रीगौतमस्वामिना कथितं । श्रीमूलसंघो मोक्षमार्गस्य मूलं कथितं न तु जैनाभासादिकं । किं तज्जैनाभासं ? उक्तं च—

> गोपुच्छिकः श्वेतवासा द्राविडो यापनीयकः ।
> निष्पिच्छश्चेति पंचैते जैनाभासाः प्रकीर्तिताः ॥ १ ॥

ते जैनाभासा आहारदानादिकेऽपि योग्या न भवन्ति कथं मोक्षस्य योग्या भवन्ति । गोपुच्छिकानां मतं यथा, उक्तं च—

> इत्थीणं पुणदिक्खा खुल्लयलोयस्स वीरचरियत्तं ।
> कक्कसकेसग्गहणं छट्ठं च गुणव्वदं नाम ॥ १ ॥

श्वेतवाससः सर्वत्र भोजनं गृह्णन्ति प्रासुकं मांसभक्षिणां गृहे दोषो नास्तीति वर्णलोपः कृतः । तन्मध्ये श्वेताम्बराभासा उत्पन्नास्ते त्वतीव पापिष्ठाः देवपूजादिकं किल पापकर्मेदमिति कथयन्ति, मण्डलवत्सर्वत्र भांडप्रक्षालनोदकं पिबन्ति इत्यादि बहुदोषवन्तः । द्राविडाः—सावद्यं प्रासुकं च न मन्यन्ते उद्भभोजनं निराकुर्वन्ति । यापनीयास्तु वेसरा इवोभयं मन्यन्ते, रत्नत्रयं पूजयन्ति, कल्पं च वाचयन्ति, स्त्रीणां तद्भवे मोक्षं, केवलिजिनानां कवलाहारं, परशासने सग्रन्थानां मोक्षंच कथयन्ति । निष्पिच्छिका मयूरपिच्छादिकं न मन्यन्ते । उक्तं च ढाढसीगाथासु—

---

१ स्त्रीणां पुनर्दीक्षा क्षुल्लकलोकस्य वीरचर्यात्वं ।
कर्कशकेशग्रहणं षष्ठं च गुणव्रतं नाम ॥ १ ॥

पिच्छे ण हु सम्मत्त करगहिए मोरच्चमरडंवरए ।
अप्पा तारइ अप्पा तम्हा अप्पा वि झायव्वो ॥ १ ॥

तथा च सितपटमत—

सेयंवरो य आसवरो य बुद्धो य तह य अण्णो य ।
समभावभावियप्पा लहेय मोक्खं ण संदेहो ॥ १ ॥

जैमिनिकपिलकणचरचार्वाकशाक्यमतानि तु प्रमेयकमलमार्तण्डादिशास्त्रात् ज्ञातव्यानि ।

जे दंसणेसु भट्ठा पाए ण पडंति दंसणधराणं ।
ते होंति लल्लमूआ बोही पुण दुल्लहा तेसिं ॥ १२ ॥

ये दर्शनेषु भ्रष्टा पादे न पतन्ति दर्शनधराणाम् ।
ते भवन्ति लल्लमूका बोधिः पुनर्दुर्लभा तेषाम् ॥

जे दंसणेसु भट्ठा ये पुरुषा दर्शनेषु भ्रष्टा निसर्गजाधिगमजलक्षणाद् द्विविधात्सम्यग्दर्शनात्, औपशमिकवेदकक्षायिकलक्षणात्त्रिविधात्सम्यक्त्वरत्नात् प्रच्युता ।

आज्ञामार्गसमुद्भवमुपदेशात्सूत्रबीजसंक्षेपात् ।
विस्तारार्थाभ्यां भवमवपरमावगाढे च ॥ १ ॥

इत्यार्याकथितदशविधसम्यक्त्वरत्नात्पतिता । अस्या आर्याया अयमर्थः —

"सूक्ष्मं जिनोदितं वाक्यं हेतुभिर्यन्न हन्यते ।
आज्ञासम्यक्त्वमित्याहुर्नान्यथावादिनो जिनाः ॥"

एवं जिनसर्वज्ञवीतरागवचनमेव प्रमाणं क्रियते तदाज्ञासम्यक्त्वं कथ्यते । १ । निर्ग्रन्थलक्षणो मोक्षमार्गो न वस्त्रादिवेष्टित पुमान् कदा-

---

१ पिच्छे न हि सम्यक्त्वं करगृहीते मयूरचमरडम्बरे ।
आत्मा तारयत्यात्मानं तस्मादात्मा ध्यातव्यः ॥ १ ॥

२ श्वेताम्बरश्चाशाम्बरश्च बुद्धश्च तथा चान्यश्च ।
समभावभावितात्मा लभेत मोक्षं न सन्देहः ॥ २ ॥

३ पाएहिं घ । ४ पाडंति ग । ५ होंति घ ।

ईदशादर्शनेषु अथास्त्यक्तमयूरपिच्छकमण्डलुपरमागमपुस्तकाः सन्तो गृहस्थवेषधारिणि संयमधराणां संयमिनां सद्दृष्टीनां । पाए न पडंति पादे चरणयुगले न पतन्ति नैव नमोऽस्त्विति कुर्वन्ति अभिमानित्वान्मुद्गलवत्तिष्ठन्ति । ते किं भवन्ति ? ते होंति लल्लमूआ ते भवन्ति ल्ल्ला अस्पष्टवाचो मूका वक्तुं श्रोतुमशिक्षिताः । बोही पुण दुल्लहा तेसिं बोधिः खलु रत्नत्रयप्राप्तिः पुनर्जन्मशतसहस्रेष्वपि दुर्लभा कष्टेनापि लब्धुमशक्या तेसिं–तेषां जैनाभासतदाभासानां च मिथ्यादृष्टीनामिति शेषः ।

जे पि पडंति च तेसिं जाणंता लज्जगारवभयेण ।
तेसिं पि णत्थि बोही पावं अणमोअमाणाणं ॥ १३ ॥

येऽपि पतन्ति च तेषां जानन्तो लज्जागारवभयेन ।
तेषामपि नास्ति बोधिः पापं अनुमन्यमानानाम् ॥

जे पि पडंति च तेसिं ये सम्यग्दर्शनाद्भ्रष्टा अपि पुरुषा तेसिं-तेषां परित्यक्तजिनमुद्राणां मयूरपिच्छशौचोपकरणज्ञानोपकरणरहितानां पादे कायचरणयुगले पतन्ति नमस्कारं कुर्वन्ति पूर्वमुद्रास्य इति । जाणंता विदन्तोऽपि जिनमुद्राविराधका एते इत्यवगच्छन्तोऽपि । लज्जागारवभएण लज्जया त्रपया, गारवेण रसर्द्धिमानगर्वेण, भयेनायं राजमान्योऽस्माकं चमत्कारं पारयिष्यतीत्यादिभीत्या च । तेसिं पि णत्थि बोही तेषामपि बोधिर्नास्ति ते रत्नत्रयं प्रपाल्यन्तोऽपि रत्नत्रयाद्भ्रष्टा इति ज्ञातव्या इति भावः । कथंभूतानां तेषां, पावं अणुमोयमाणाणं जिनदर्शनभ्रंशाद्दुत्पन्नं पापं पातकं तदनुमन्यमानानामिति शेषः । उक्तं च समन्तभद्रेण गणिना

भयाशास्नेहलोभाच्च कुदेवागमलिङ्गिनां ।
प्रणामं विनयं चैव न कुर्युः शुद्धदृष्टयः ॥ १५

दुविहं पि गंथचायं तीसु वि जोएसु संजमो ठादि ।
णाणम्मि करणसुद्धे उब्भसणे दंसणं होइ ॥ १४ ॥

द्विविधमपि ग्रन्थत्याग त्रिष्वपि योगेषु संयम तिष्ठति ।
ज्ञाने करणशुद्धे उद्भभोजने दर्शन भवति ॥

दुविहं पि गंथचायं द्विविधोऽपि ग्रन्थत्याग । **तीसु वि जोएसु** त्रिष्वपि योगेषु मनवचनकायशुद्धिषु । **संजमो ठादि** संयमश्चारित्रं तिष्ठति भवति । **णाणम्मि करणसुद्धे** सम्यग्ज्ञाने कृतकारितानुमोदनिर्मले सति । **उब्भसणे** उद्भभोजने च सति । **दंसणं होदि** सम्यक्त्वं भवति मुनीनामिति शेष । अथ कोऽसौ द्विविधो ग्रन्थ इत्याह—बाह्याभ्यन्तरभेद इति । तत्र बाह्य परिग्रह कथ्यते—

क्षेत्र वास्तु धन धान्यं द्विपद च चतुष्पद ।
कुप्य भाड हिरण्य च सुवर्णं च बहिर्दश ॥ १ ॥

क्षेत्र सस्याधिकरणं । वास्तु गृह । धन द्रम्मादि । धान्य गोधूमादि । द्विपद दासीदासादि । चतुष्पद गोमहिषीवेगसरगजाश्वादि । कुप्य कर्पासचन्दनकुकुमादि । भाड तैलघृतादिभृतं पात्र । हिरण्य ताम्ररूप्यादि । घटिताघटित सुवर्णं अग्निकेतन हाटक कनकमिति यावत् । अभ्यन्तरग्रन्थश्चतुर्दशभेद —

मिथ्यात्ववेदहास्यादिषट्कषायचतुष्टय ।
रागद्वेषौ च सगा स्युरन्तरङ्गाश्चतुर्दश ॥ १ ॥

सम्मत्तादो णाणं णाणादो सव्वभावउवलद्धी ।
उवलद्धपयत्थे पुण सेयासेयं वियाणेदि ॥ १५ ॥

सम्यक्त्वता ज्ञान ज्ञानत सर्वभावोपलब्धिः ।
उपलब्धपदार्थे पुन श्रेयोऽश्रेयो विजानाति ॥

सम्मत्तादो णाणं सम्यक्त्वाज्ज्ञान भवति यस्य सम्यक्त्व नास्ति स पुमानज्ञान एवत्यर्थ । **णाणादो सव्वभावउवलद्धि** ज्ञानात्सर्वपदा-

१ यान शय्यासन कुप्य भाण्डं चेति बहिर्दश । इति पाठान्तरम् ।

र्थानामुपलब्धि जीवादितत्वाना जीवस्य परिज्ञानं भवति। उवलद्धपयत्थे पुण उपलब्धपदार्थे पुन उपलब्धश्चासौ पदार्थ उपलब्धपदार्थस्तस्मिन्नुपलब्धपदार्थे सति। किं भवति, **सेयासेयं वियाणेदि** श्रेयः पुण्य विशिष्टतीर्थकरनामकर्म, अश्रेय पाप चतुर्गतिपरिभ्रमणकारण विशेषेण जानीते। उक्त च—

न सम्यक्त्वसम किंचित्त्रैकाल्ये त्रिजगत्यपि।
श्रेयोऽश्रेयश्च मिथ्यात्वसम नान्यत्तनूभृतां॥ १॥

सेयासेयविदण्हू उद्धुददुस्सील सीलवंतो वि।
सीलफलेणब्भुदयं तत्तो पुण लहइ णिव्वाणं॥ १६॥

श्रेयोऽश्रेयोवेत्ता उद्धृतदुश्शील शीलवानपि।
शीलफलेनाभ्युदय तत पुन लभते निर्वाणम्॥

सेयासेयविदण्हू श्रेयस पुण्यस्य, अश्रेयस पापस्य विदण्हू—वेत्ता पुमान्। **उद्धुददुस्सील** उन्मूलितदु शीलो भवति। **सीलवंतो वि** शीलवान् पुमान्। **सीलफलेण** शीलफलेन कृत्वा। **अब्भुदयं** लहइ• अभ्युदय सासारिकं सुखं प्राप्नोति। **तत्तो पुण णिव्वाणं लहइ** तत पुनर्निर्वाणं लभते मोक्षं प्राप्नोति।

जिणवयणमोसहमिणं विसयसुहविरेयणं अमिदभूयं[1]।
जरमरणवाहिहरणं खयकरणं सव्वदुक्खाणं॥ १७॥

जिनवचनमौषधमिद विषयसुखविरेचनममृतभूतम्।
जरामरणव्याधिहरण क्षयकरणं सर्वदु खानाम्॥

जिणवयणमोसहमिणं जिनवचनमौषधमिद इदं पूर्वोक्तलक्षणं जिनवचनं सर्वज्ञवीतरागभाषितं हेतुहेतुमद्भावसहितं औषधं वर्तते। कथं-

---

१ भूदं ग।

भूत जिनवचन औषध, विषयसुखविरेचन विषयाणा पंचेन्द्रियार्थानां स्पर्शरसगन्धवर्णशब्दाना सम्बन्धितेन यत्सुखं विषयसुख तस्य विरेचन दूरीकरण। अमिदभूदं अमृतभूतं अविद्यमान मृत मरण यत्र यस्माद्वा भव्याना तदमृतभूत अमृतोपमं। अतएव जरमरणवाहिहरणं जरा-मरणव्याधिहरण विनाशक। खयकरणं सव्वदुक्खाणं क्षयकरण मूलादुन्मूलक सर्वदुःखाना शारीरमानसागन्तुदुःखाना विध्वंसकमित्यर्थ।

एकं जिणस्स रूवं बीयं उकिट्ठसावयाणं तु।
अवरट्ठियाण तइयं चउत्थं पुण लिंगदंसणं णत्थि॥ १८॥

एक जिनस्य रूप द्वितीय उत्कृष्टश्रावकानां तु।
अवरस्थितानां तृतीय चतुर्थं पुन लिङ्गदर्शन नास्ति॥

एक्कं जिणस्स रूवं एकमद्वितीय जिनस्य रूप नग्नरूप। बीयं द्वितीय उत्कृष्टश्रावकाणां तु। उक्तं च—

आद्यास्तु षड् जघन्या स्युर्मध्यमास्तदनु त्रयः।
शेषौ द्वावुत्तमावुक्तौ जैनेषु जिनशासने॥ १॥

तेन—

"दसणवयसामाइयपोसहसचित्तरायभत्ते य" इति गाथार्द्धकथिता श्रावका षड्जघन्या कथ्यन्ते। "बमारंभपरिग्गह" इति गाथापादोक्तास्त्रय श्रावका मध्यमा उच्यन्ते। शेषौ द्वावुत्तमावुक्तौ जैनेषु जिनशासने "अणुमणमुद्दिट्ठदेसविरदो य" अनुमतादुद्दिष्टाद्विरतो देशविरतश्च कथ्यते उत्कृष्ट श्रावक उच्यते इति। अवरट्ठियाण तइयं अवरस्थितानां आर्यिकाणा तइयं (तृतीय)। चउत्थं पुण लिंगदंसणं णत्थि अपरस्थितानामार्यिकाणा तृतीय दर्शन चतुर्थं पुन-

लिंगदर्शन नास्ति। त्रीण्येव जिनशासने लिंगदर्शनानि प्रोक्तानि न न्यूनानि नाप्यधिकानीति शेष।

छद्दव्व णव पयत्था पंचत्थी सत्त तच्च णिद्दिट्ठा।
सद्दहइ ताण रूवं सो सद्दिट्ठी मुणेयव्वो॥ १९॥

षट् द्रव्याणि नव पदार्थाः पञ्चास्तिकायाः सप्त तत्त्वानि निर्दिष्टानि।
श्रद्दधाति तेषां रूपं स सद्दृष्टिः ज्ञातव्यः॥

छद्दव्व षड्द्रव्याणि जीवपुद्गलधर्माधर्मकालाकाशा षड् द्रव्याणि भवन्ति। वर्तमानकाले द्रवन्तीति द्रव्याणि भविष्यति काले द्रोष्यन्ति अतीतकालेऽदुद्रुवन्निति द्रव्याणि जीवपुद्गलधर्माधर्मकालाकाशनामानि। **नव पयत्था** नव पदार्था जीवाजीवपुण्यपापास्रवबन्धसंवरनिर्जरामोक्षनामान। **पंचत्थी** पञ्चास्तिकाया जीवपुद्गलधर्माधर्माकाशनामान पञ्चास्तिकाया उच्यन्ते। **सत्त तच्च णिद्दिट्ठा** सप्त तत्त्वानि निर्दिष्टानि कथितानि जीवाजीवास्रवबन्धसंवरनिर्जरामोक्षनामानि। **सद्दहइ ताण रूवं** श्रद्दधाति तेषां रूपं स्वरूपं। **सो सद्दिट्ठी मुणेयव्वो** स पुमान् सद्दृष्टिरिति मन्तव्यो ज्ञातव्य। तेषु द्रव्यादिषु जीव सचेतनः। पुद्गलो धर्मोऽधर्म काल आकाशश्च पञ्चाचेतना। षड्विधोऽपि पुद्गलो मूर्त। इतरे पञ्चामूर्ता। जीवपुद्गलयोर्गते कारण धर्म। सर्वेषां स्थिते कारणमधर्म। सर्वेषामाधारमाकाश। वर्तनालक्षण काल रत्नाना राशिवत् भिन्नपरमाणुक। धर्माधर्माकाशा अखण्डप्रदेशा। कालपुद्गलयोर्जीवानां च प्रदेशेषु खण्डत्व, न त्वेकजीवस्य प्रदेशाना खण्डत्व। धर्माधर्मकालाकाशाश्चत्वारो गमनागमनरहिता। गमनागमने जीवपुद्गलानामन्यत्र सिद्धजीवेभ्य। धर्माधर्मैकजीवानामसंख्येया प्रदेशा। संख्येयासंख्येयानन्तप्रदेश आकाश। पुद्गलोऽनन्तप्रदेशश्च। सर्वाणि द्रव्या-

१ तस्स ग। २ अत्राकाशस्थाने पुद्गलेन पुद्गलस्थाने चाकाशेन भवितव्य।

ण्येकतो मिलितान्यपि निजनिजगुणान्न जहति । एवं तत्वास्तिकायपदार्थानामपि स्वरूपं ज्ञातव्यं ।

जीवादी सद्दहणं सम्मत्तं जिणवरेहिं पण्णत्तं ।
ववहारा णिच्छयदो अप्पाणं हवइ सम्मत्तं ॥ २० ॥

जीवादीनां श्रद्धानं सम्यक्त्वं जिनवरैः निर्दिष्टम् ।
व्यवहारात् निश्चयतः आत्मा भवति सम्यक्त्वम् ॥

जीवादीनां श्रद्धानं रुचिः सम्यक्त्वमिति जिनवरैः प्रणीतं तत्तु सम्यग्दर्शनं व्यवहाराज्ज्ञातव्यं । **णिच्छयदो अप्पाणं हवइ सम्मत्तं** निश्चयतो निश्चयनयादात्मैव भवति सम्यक्त्वं रुचिसामान्यत्वादित्यर्थः ।

एवं जिणपण्णत्तं दंसणरयणं धरेह भावेण ।
सारं गुणरयणत्तय सोवाणं पढम मोक्खस्स ॥ २१ ॥

एवं जिनप्रणीतं दर्शनरत्नं धरत भावेन ।
सारं गुणरत्नेषु सोपानं प्रथमं मोक्षस्य ॥

एवं पूर्वोक्तप्रकारेण । **जिणपण्णत्तं** जिनैः प्रणीतं जिनैः कथितं । **दंसणरयणं** दर्शनरत्नं सम्यक्त्वमाणिक्यं । **धरेह भावेण** धरत यूयं भावेन वीतरागसर्वज्ञस्य भक्त्या । उक्तं च—

एकापि समर्थेयं जिनभक्तिर्दुर्गतिं निवारयितुं ।
पुण्यानि च पूरयितुं दातुं मुक्तिश्रियं कृतिनः ॥ १ ॥

कथंभूतं दर्शनरत्नं, सारं उत्कृष्टं । केषु सारं, **गुणरयणत्तय** गुणेषु उत्तमक्षमादिषु तथा रत्नत्रये सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रेषु । उक्तं च—

दर्शनं ज्ञानचारित्रात्साधिमानमुपाश्नुते ।
दर्शनं कर्णधारं तन्मोक्षमार्गे प्रचक्षते ॥ १ ॥

पुनरपि कथंभूतं दर्शनरत्नं, **सोवाणं** सोपानं पादारोपणस्थानं । कतिसंख्योपेतं, **पढम** प्रथमं अद्वितीयं । कस्य, **मोक्खस्स** मोक्षस्य परमनिर्वाणस्य ।

जं सक्कइ तं कीरइ जं च ण सक्केइ तं च सद्दहणं।
केवलिजिणेहिं भणियं सद्दहमाणस्स सम्मत्तं ॥ २२ ॥

यत् शक्नोति तत् क्रियते यच्च न शक्नुयात् तस्य च श्रद्धानं।
केवलिजिनैः भणितं श्रद्धानस्य सम्यक्त्वम् ॥

जं सक्कइ तं कीरइ यच्छक्नोति तत्क्रियते विधीयते। **जं च ण सक्केइ** यच्च न शक्नुयात् यत्कर्तुं न शक्नोति। **तं च सद्दहणं** तस्य श्रद्धानं तस्य ज्ञानाचारादेः रोचनं कर्तव्यं। **केवलिजिणेहिं भणियं** केवलज्ञानिभिर्जिनैर्भणितं प्रतिपादितं। केवलज्ञानं विना तीर्थंकरपरमदेवा धर्मोपदेशं न कुर्वन्ति। अन्यमुनीनामुपदेशस्त्वनुवादरूपो ज्ञातव्यः। अथवा केवलिभिः समवशरणमण्डितकेवलज्ञानसंयुक्ततीर्थंकरपरमदेवैर्भणितं जिनैरनगारकेवलिभिर्भणितं। किं भणितं [1] **सद्दहमाणस्स सम्मत्तं** श्रद्दधानस्य पुरुषस्य रोचमानस्य जीवस्य सम्यक्त्वं सम्यग्दर्शनं भवति।

दंसणणाणचरित्ते तवविणये णिच्चकालपसत्था।
एदे दु वंदणीया जे गुणवादी गुणधराणं ॥२३॥

दर्शनज्ञानचारित्रे तपोविनये नित्यकालप्रस्वस्थाः।
एते तु वन्दनीया ये गुणवादी गुणधराणाम् ॥

दंसणणाणचरित्ते दर्शनज्ञानचारित्रे दर्शनं च ज्ञानं च चारित्रं च दर्शनज्ञानचारित्रं समाहारो द्वन्द्वः तस्मिन् दर्शनज्ञानचारित्रे एतत्त्रितये। तथा **तवविणए** तपोविनये च चतुर्विधाराधनायामित्यर्थः। **णिच्च कालपसत्था** नित्यकालप्रस्वस्था नित्यमेव प्रकर्षेण स्वस्था एकलोलीभावं प्राप्ता। **एदे दु वंदणीया** एते पुष्पा महामुनयो वन्दनीया नमस्कर्तव्या। एते

---

[1] तस्स हाइ सद्दहण ग।

के ? जे गुणवादी गुणधराणं ये मुनयः स्वयं सम्यग्दर्शनादीनामाराधका अपरेषां गुणधराणामाराधनाराधकानां । ये मुनयो गुणवादिनो गुणवर्णनशीला न मत्सरिणस्ते वन्दनीया नमस्करणीया इत्यर्थः ।

सहजुप्पण्णं रूवं दट्ठुं जो मण्णए ण मच्छरिओ ।
सो संजमपडिवण्णो मिच्छाइट्ठी हवइ एसो ॥ २४ ॥

सहजोत्पन्नं रूपं दृष्ट्वा यो मन्यते न मत्सरी ।
स संयमप्रतिपन्नः मिथ्यादृष्टिर्भवति एषः ॥

सहजुप्पण्णं रूवं सहजोत्पन्नं स्वभावोत्पन्नं रूपं नग्नं रूपं । **दट्ठुं** दृष्ट्वा विलोक्य । **जो मण्णए ण मच्छरिओ** यः पुमान् न मन्यते नग्नत्वेऽरुचिं करोति नग्नत्वे किं प्रयोजनं पशवः किं नग्ना न भवन्तीति ब्रूते । मच्छरिओ परेषां शुभकर्मणि द्वेषी । **सो संजमपडिवण्णो** स पुमान् संयमप्रतिपन्नो दीक्षां प्राप्तोऽपि । **मिच्छाइट्ठि हवइ एसो** मिथ्यादृष्टिर्भवत्येव । अपवादवेषं धरन्नपि मिथ्यादृष्टिर्ज्ञातव्यः इत्यर्थः । कोऽपवादवेषः ? कलौ किल म्लेच्छादयो नग्नं दृष्ट्वोपद्रवं यतीनां कुर्वन्ति तेन मण्डपदुर्गे श्रीवसन्तकीर्तिना स्वामिना चर्यादिवेलायां तट्टीसादरादिकेन शरीरमाच्छाद्य चर्यादिकं कृत्वा पुनस्तन्मुञ्चन्तीत्युपदेशः कृतः संयमिनां इत्यपवादवेषः । तथा नृपादिवर्गोत्पन्नः परमवैराग्यवान् लिंगशुद्धिरहितः उत्पन्नमेहनपुटदोषः लज्जावान् वा शीताद्यसहिष्णुर्वा तथा करोति सोऽप्यपवादलिंगः प्रोच्यते । उत्सर्गवेषस्तु नग्न एवेति ज्ञातव्यं । सामान्योक्तो विधिरुत्सर्गः । विशेषोक्तो विधिरपवाद इति परिभाषणात् ।

अमराण वंदियाणं रूवं दट्ठूण सीलसहियाणं ।
जे गारवं करंति य सम्मत्तविवज्जिया होंति ॥२५॥

अमराणां वंदितानां रूपं दृष्ट्वा शीलसहितानाम् ।
ये गर्वं कुर्वन्ति च सम्यक्त्वविवर्जिता भवन्ति ॥

अमराण वंदियाणं अमराणा भवनवासिव्यन्तरज्योतिष्ककल्पवासिकल्पातीतदेवाना वन्दिताना तीर्थकरपरमदेवाना । **रूवं दट्ठू ण** रूपं वेष *दृष्ट्वा विलोक्य । कथभूताना,* **सीलसहियाणं** *व्रतरक्षासहिताना ।* **जे गारवं करंति य** ये पुरुषा जैनाभासास्तथान्ये च गर्व कुर्वन्ति चकारात्सेवा न कुर्वन्ति । **सम्मत्तविवज्जिया होंति** सम्यक्त्वरत्नरहिता भवन्ति, मिथ्यादृष्टयो भवन्ति, सम्यक्त्वरत्नच्युता भवन्ति, महापातकिनो भवन्ति, दीर्घकाल संसारमध्ये पर्यटन्ति । उक्तं च—

ये गुरु नैव मन्यन्ते तदुपास्तिं न कुर्वते ।
अन्धकारो भवेत्तेषामुदितेऽपि दिवाकरे ॥ १ ॥

अस्संजदं ण वंदे वच्छविहीणो वि सो ण वंदिज्ज ।
दोण्णि वि होंति समाणा एगो वि ण संजदो होदि ॥२६॥

असयत न वन्देत वस्त्रविहीनोऽपि स न वन्देत ।
द्वावपि भवत समानौ एकोऽपि न संयतो भवति ॥

अस्संजदं ण वंदे असयत गृहस्थवेषधारिण संयम पालयन्तमपि न वन्देत । **वच्छविहीणो वि सो ण वंदिज्ज** वस्त्रविहीनोऽपि नग्नोपि स संयमरहितो न वन्देत न नमस्क्रियेत । **दुण्णि वि होंति समाणा** द्वितयेऽपि समाना सयमरहिता भवन्ति । **एगो वि ण संजदो होदि** (एकोऽपि सयतो न भवति) । गृहस्थ संयमं प्रतिपालयन्नप्यसयमी ज्ञातव्य इति भाव ।

ण वि देहो वंदिज्जइ ण वि य कुलो ण वि य जाइसंजुत्तो ।
को वंदमि गुणहीणो ण [1] सवणो णेय सावओ होइ ॥२७॥

नापि देहो वन्द्यते नापि च कुल नापि च जातिसंयुक्त ।
क वन्दे गुणहीन न हि श्रवणो नैव श्रावको भवति ॥

1 ण सावओ होइ ग घ ।

ण वि देहो वंदिज्जइ नापि देहो वन्द्यते। **ण वि य कुलो** नापि च कुलं पितृपक्षो वन्द्यते। **ण वि य जाइसंजुत्तो** न च जातिसंयुक्तो मातृपक्षशुद्ध पुमान् वन्द्यते। **को वंदमि गुणहीणो** कं वन्दे गुणहीनं अपि तु गुणहीनं न कमपि वन्दे। **न हु सवणो णेव सावओ होइ** गुणहीन पुमान् न श्रवणो दिगम्बरो भवति नैव श्रावको भवति देशव्रती च न भवति। गुणप्रानेन मुनिर्वन्दनीय इति भाव।

वंदामि तवसमेण्णा सीलं च गुणं च बंभचेरं च।
सिद्धिगमणं च तेसिं सम्मत्तेण सुद्धभावेण ॥२८॥

वन्दे तप समापन्नान् शील च गुण च ब्रह्मचर्यं च।
सिद्धिगमन च तेषां सम्यक्त्वेन शुद्धभावेन ॥

वंदामि तवसमण्णा वन्देऽहं श्रीकुन्दकुन्दाचार्य। कान्, मुनी-न्नित्युपस्कार। कथंभूतान् मुनीन्, **तवसमण्णा** तप समापन्नान्। तथा **तेसिं** तेषां मुनीनां। **सीलं च** पूर्वोक्तमष्टादशसहस्रसख्य शीलं च वन्दे। **गुणं च** पूर्वोक्तचतुरशीतिलक्षसंख्य गुणं चाहं वन्दे। तथा तेषां मुनीनां पूर्वोक्तं नवविध ब्रह्मचर्यं च वन्दे। तथा तेषां मुनीनां **सिद्धिगमणं** च आत्मोपलब्धिलक्षणं सिद्धिगमनं मुक्तिप्राप्तिं वन्दे। केन कृत्वा वन्दे, **सम्मत्तेण** सम्यक्त्वेन श्रद्धया रुचिरूपेण सम्यग्दर्शनेन वन्दे। न केवलं सम्मत्तेण वन्दे किन्तु **सुद्धभावेण** निर्मलपरिणामेन अकुटिलतया निर्मायत्वेनेति तात्पर्यं।

चउसट्ठिचमरसहिओ चउतीसहि अइसएहिं संजुत्तो।
अणुचरबहुसत्तहिओ कम्मक्खयकारणणिमित्ते ॥२९॥

---

१ तवसउण्णा घ। तवममाण ग। २ अणवर इति घ पाठ तस्यार्थो निरन्तरमिति कृत। क ख ॥ पुस्तके तु उक्त एव पाठ

चतुःषष्ठिचमरसहितः चतुस्त्रिंशद्भिरतिशयैः संयुक्तः ।
अनुचरबहुसत्त्वहितः कर्मक्षयकारणनिमित्ते ॥

चउसट्ठिचमरसहिओ चतुःषष्टिचामरसहितस्तीर्थंकरपरमदेवो भवति तं वन्दे इति विपमव्याख्या ज्ञातव्या । **चउतीसहि अइसएहिं संजुत्तो** चतुस्त्रिंशदतिशयैः संयुक्तस्तीर्थंकरपरमदेवो भवति तं वन्दे । **अणुचरबहुसत्तहिओ** अनुचरबहुसत्त्वहितः स्वामिना सह ये पृष्ठतो गच्छन्ति तेऽनुचराः सेवकाः तथा बहुसत्त्वा अपरेऽपि जीवास्तेभ्यो हितः स्वर्गमोक्षदायक इत्यर्थः । **कम्मक्खयकारणनिमित्ते** कर्मणां क्षयकारणं शुक्लध्यानं तस्य निमित्ते प्राप्त्यर्थं तं वन्दे इति क्रियाकारकसम्बन्धः ।

अथ कानि तानि कर्मक्षयकारणानि शुक्लध्यानहेतव इति प्रश्ने गाथामिमां चकार श्रीकुन्दकुन्दाचार्यः ---

णाणेण दंसणेण य तवेण चरियेण संजमगुणेण ।
चउर्हि पि समाजोगे मोक्खो जिणसासणे दिट्ठो ॥३०॥

ज्ञानेन दर्शनेन च तपसा चारित्रेण संयमगुणेन ।
चतुर्णामपि समायोगे मोक्षो जिनशासने दृष्टः ॥

णाणेण ज्ञानेन । **दंसणेण य** दर्शनेन च । **तवेण** तपसा । **चरिएण** चरितेन चारित्रेण । **संजमगुणेण** एतच्चतुष्टयं संयमगुण उच्यते । **चउर्हि पि समाजोगे** चतुर्णामपि समायोगे सति एकत्र सामग्र्यां सत्यां । **मोक्खो जिणसासणे दिट्ठो** मोक्षो जिनशासने दृष्टः कथितः । समस्तेन मोक्षो भवति न तु व्यस्तेन । उक्तं च वीरनन्दिशिष्येण पद्मनन्दिना---

घनशिखिनि मृतोऽन्धः संचरन् बाढमंहि
द्वितयविकलमूर्तिर्वीक्षमाणोऽपि खञ्जः ।

अपि सनयनपादोऽश्रद्दधानश्च तस्माद्
दृगवगमचरित्रैः सयुक्तैरेव सिद्धिः ॥ १ ॥

णाणं णरस्स सारो सारो वि णरस्स होइ सम्मत्तं ।
सम्मत्ताओ चरणं चरणाओ होइ णिव्वाणं ॥ ३१ ॥

ज्ञानं नरस्य सारं सारमपि नरस्य भवति सम्यक्त्वम् ।
सम्यक्त्वतः चरणं चरणतो भवति निर्वाणम् ॥

णाणं णरस्स सारो ज्ञानं नरस्य जीवस्य सारं । **सारो वि णरस्स होइ सम्मत्तं** सम्यग्ज्ञानादपि जीवस्य सम्यक्त्वं सारतरं भवति । कस्मात्[1] **सम्मत्ताओ चरणं** सम्यक्त्वाच्चरणं चारित्रं भवति यस्मात्, सम्यक्त्वं विना चारित्रं प्रतिपालयन्नपि पुमानचारित्रो भवति । **चरणाओ होइ णिव्वाणं** चरणाच्चारित्रान्निर्वाणं सर्वकर्मक्षयलक्षणो मोक्षो भवति । तेन सर्वेभ्यो दर्शनमुत्कृष्टमिति ज्ञातव्यं ।

णाणम्मि दंसणम्मि य तवेण चरिएण सम्मसहिएण ।
चोण्हं पि समाजोगे सिद्धा जीवा ण संदेहो ॥ ३२ ॥

ज्ञाने दर्शने च तपसा चारित्रेण सम्यक्त्वसहितेन ।
चतुर्णामपि समायोगे सिद्धा जीवा न सन्देहः ॥

णाणम्मि ज्ञाने सति । **दंसणम्मि य** दर्शने सति । **तवेण** तपसा कृत्वा । **चरिएण** चरितेन चारित्रेण कृत्वा । **सम्मसहिएण** सम्यक्त्वसहितेन । ज्ञानं तपश्चारित्रं च व्यर्थं सम्यक्त्वं विना । तेन चतुर्णां समायोगे मेलापके सति **सिद्धा जीवा ण संदेहो** जीवाः सिद्धा मुक्तिं गता अत्र सन्देहो नास्ति । तथा चोक्तं—

हतं ज्ञानं क्रियाशून्यं हता चाज्ञानिनः क्रिया ।
धावन्नप्यन्धको नष्टः पश्यन्नपि च पङ्गुकः ॥ १ ॥

---

1 चउण्हंपि ग घ । २ देवा घ तीर्थंकरा ।

तथा चार्हता —

ज्ञान पङ्गौ क्रिया चान्धे नि श्रद्धे नार्थकृद्द्वय।
ततो ज्ञानक्रियाश्रद्धात्रय तत्पदकारण ॥ १ ॥

कल्लाणपरंपरया लहंति जीवा विसुद्धसम्मत्तं ।
सम्मद्दंसणरयणं अग्घेदि सुरासुरे लोए ॥ ३३ ॥

कल्याणपरम्परया लभन्ते जीवा विशुद्धसम्यक्त्वम् ।
सम्यग्दर्शनरत्न अर्घ्यते सुरासुरे लोके ॥

कल्लाणपरंपरया लहंति जीवा विसुद्धसम्मत्तं कल्याणानां गर्भावतारजन्माभिषेकनिष्क्रमणज्ञाननिर्वाणाना परम्परया श्रेण्या सह जीवाः भव्यप्राणिनो विशुद्धसम्यक्त्वं निरतिचारसम्यक्त्व प्राप्नुवन्ति। यदैव जीव सद्दृष्टिर्भवति तदैव तीर्थकरपरमदेवो भवतीति भाव । सम्मद्दंसणरयणं सम्यग्दर्शनरत्न । अग्घेदि सुरासुरे लोए अर्घ्यते पूज्यते बहुमूल्यं भवति देवदानवमनुजे। एतद्रत्नमूल्य कोऽपि कर्तुं न शक्नोति। करोति चेन्मूल्य तदा सच कुष्ठी मुखे भवत्।

दट्ठूण य मणुयत्तं सहियं तह उत्तमेण गुत्तेण ।
लद्धूण य सम्मत्त अक्खयसुक्खं च मोक्खं च ॥ ३४ ॥

दृष्ट्वा च मनुजत्व सहित तथा उत्तमेन गोत्रण।
लब्ध्वा च सम्यक्त्व अक्षयसुख च मोक्ष च ॥

दट्ठूण य दृष्ट्वा च ज्ञात्वा। किं, मणुयत्तं मनुजत्वं मनुष्यजन्म अनेकदृष्टान्तैर्दुर्लभ विचार्य महासमुद्रे कराच्च्युतरत्नमिव। सहियं तह उत्तमेण गोत्तेण उत्तमेन गोत्रेण कुलेन सहित सयुक्त। लद्धूण य सम्मत्तं सम्यक्त्व च लब्ध्वा । अक्खयसुक्खं च मोक्खं च एतत्सर्वं प्राप्य अक्षयसौख्यं निजशुद्धबुद्धपरमात्मश्रद्धानज्ञानानुचरणस्वभावोत्थ

१ अक्खयसोक्खं लहदि मोक्खं च य ।

परमानन्दलक्षणं सुखं भवति न केवलमक्षयसुखं भवति मोक्षं च द्रव्यकर्मनोकर्मभावकर्मरहितं ऊर्ध्वगमनलक्षणं परमनिर्वाणं च चकास्ति।

विहरदि जाव जिणिंदो सहसट्ठसुलक्खणेहिं संजुत्तो।
चउतीसअइसयजुदो सा पडिमा थावरा भणिया ॥३५॥

विहरति यावज्जिनेन्द्रः सहस्राष्टसुलक्षणैः संयुक्तः।
चतुस्त्रिंशदतिशययुतः सा प्रतिमा स्थावरा भणिता॥

विहरदि जाव जिणिंदो विहरति पर्यटति आर्यखण्डे यावत्सम्बोधनं करोति जिनेन्द्रस्तीर्थंकरपरमदेवः। स कथंभूतः, **सहसट्ठसुलक्खणेहिं संजुत्तो** अष्टाधिकसहस्रलक्षणैः संयुक्तः। **चउतीसअइसयजुदो** चतुस्त्रिंशदतिशययुतः। **सा पडिमा थावरा भणिया** सा प्रतिमा प्रतियातना प्रतिबिम्बं प्रतिकृतिः स्थावरा भणिता इह मध्यलोके स्थितत्वात् स्थावरप्रतिमेत्युच्यते। मोक्षगमनकाले एकस्मिन् समये जिनप्रतिमा जंगमा कथ्यते। व्यवहारेण तु चन्दनकनकमहामणिस्फटिकादिघटिता प्रतिमा स्थावरा। समवशरणमण्डिता जंगमा जिनप्रतिमा प्रतिपाद्यते। अथ कानि तानि जिनलक्षणानि अष्टाधिकसहस्रसंख्यानीति चेदुच्यन्ते—श्रीवृक्षः। करचरणेषु शंखः। अम्भोजं। स्वस्तिकः। अंकुशः। तोरणं। चामरं। श्वेतातपत्रं। सिंहासनं। ध्वजः। मत्स्यौ। कुम्भौ। कच्छपः। चक्रं। समुद्रः। सरोवरं। विमानं। भवनं। गजः। नरनार्यौ। सिंहः। बाणधनुषी। मेरुः। इन्द्रः। पर्वतः। नदी। पुरं। गोपुरं। चंद्रः। सूर्यः। जात्यश्वः। व्यजनं। वेणुः। वीणा। मृदंगः। पुष्पमाले द्वे। पट्टकूलं। हट्टः। कुण्डलादिषोडशाभरणानि। फलितसुधानं। सुपक्वकलमक्षेत्रं। रत्नद्वीपः। वज्रं। मही। लक्ष्मी। सरस्वती। सुरभी। वृषभः। चूडारत्नं। महानिधिः। कल्पवल्ली। हिरण्यं। जम्बूवृक्षः। गरुडः। नक्षत्राणि।

तारका । राजसदन । ग्रहा । सिद्धार्थपादप । अष्टप्रातिहार्याणि । अष्टमगळानि । एवमादीनि अष्टोत्तरशत लक्षणानि । तिलकमसकादीनि नवशतव्यञ्जनानि तान्यपिलक्षणशब्देनोच्यन्ते । अथ के ते चतुस्त्रिंशदतिशया ? नि स्वेदता । निर्मलता । क्षीरगौररुधिरता । समचतुरस्रसंस्थान । वज्रवृषभनाराचसहनन । सुरूपता । सुगन्धता । सुलक्षणता । अनन्तवीर्य । प्रियहितवादित्व । इत्येते दशातिशया जन्मत आरभ्य भवन्ति । तथा घातिकर्मक्षयजा दशातिशया सन्ति, ते के ? गव्यूतिशतचतुष्टयसुभिक्षता । गगनगमन । प्राणिवधाभाव । भुक्तेरभाव । उपसर्गाभाव । चतुर्मुखत्व । सर्वविद्याप्रभुत्व । प्रतिबिम्बरहितत्व । लोचनपक्ष्मनि स्पन्द । नखकेशानामवृद्धि । इति घातिकर्मक्षयजा दशातिशया । देवोपनीताश्चतुर्दशातिशया । तथा हि । सर्वार्धमागधीका भाषा । कोऽयमर्थ ? अर्द्ध भगवद्भाषया मगधदेशभाषात्मक । अर्द्ध च सर्वभाषात्मक । कथमेवं देवोपनीतत्वमिति चेत् ? मगधदेवसन्निधाने तथा परिणामतया भाषया संस्कृतभाषया प्रवर्तते ॥१॥ मैत्री च सर्वजनतानिषया सर्वे जनसमूहा मागधप्रीतिंकरदेवातिशयवशात् मागधभाषया भाषन्ते परस्पर मित्रतया च वर्तन्ते इति द्वावतिशयौ ॥ २ ॥ सर्वर्तूना फलस्तबका । सर्वर्तूना पल्लवा । सर्वर्तूना पुष्पाणि तर्वादीना भवन्ति ॥ ३ ॥ आदर्शसदृशी रत्नमयी भूमिर्भवति ॥ ४ ॥ वायु पृष्ठत आगच्छति ॥ ५ ॥ सर्वलोकस्य परमानन्दो भवति ॥ ६ ॥ अग्रेऽग्रे योजनमेक सुगन्धगन्धावहा भूमिभाग प्रमार्जन्ति धूलीकटकखटकीटकर्करपाषाणादिक च दूरीकुर्वन्ति ॥ ७ ॥ तद्भूम्युपरि मेघकुमारा गन्धोदक वर्षन्ति ॥ ८ ॥ सुवर्णपत्रपद्मरागमणिकेसरविराजितं योजनमेक कमल तादृशचतुर्दशकमलवेष्टितं स्वामिन पादाधो भवति तादृशानि पद्मानि सप्ताग्रे भवन्ति सप्त पृष्ठतश्च भवन्ति ॥ ९ ॥ अष्टादश

धान्यानि भूमौ निष्पद्यन्ते ॥१०॥ दिश आकाशश्च रजोधूमिकादिग्दाहादिर-हिता भवन्ति ॥११॥ ज्योतिर्देवा व्यन्तरदेवा भवनवासिनश्च देवा सौधर्मे-न्द्राज्ञया सर्वेषां देवादीनां समाह्वानं कुर्वन्ति ॥ १२ ॥ अग्रेऽग्रे धर्मचक्रं गगने गच्छति चक्रवर्तिचक्रवत् ॥१३॥ चतुर्दशोऽतिशयो ऽष्टमङ्गलानि ॥१४॥ भृंगार —सुवर्णालुका । ताली-भजीर । कलश कनककुम्भ । ध्वज-पताका । सुप्रीतिका विचित्रचित्रमयी पूजाद्रव्यस्थापनार्हा स्तम्भाधारकुम्भी । श्वेतच्छत्र । दर्पण । चामर च । एतानि प्रत्यकमष्टोत्तरशतसंख्यानि । एवं चतुर्दशातिशया देवोपनीता । अष्टप्रातिहार्याणि च भवन्ति—

अशोकवृक्षः सुरपुष्पवृष्टिर्दिव्यध्वनिश्चामरमासनं च ।
भामण्डलं दुन्दुभिरातपत्रं सत्प्रातिहार्याणि जिनेश्वराणां ॥१॥

बारसविहतवजुत्ता कम्मं खविऊण विहिबलेण स्सं ।
वोसट्टचत्तदेहा णिव्वाणमणुत्तरं पत्ता ॥ ३६ ॥

द्वादशविधतपोयुक्ताः कर्म क्षपयित्वा विधिबलेन स्वीयं ।
व्युत्सर्गत्यक्तदेहा निर्वाणमनुत्तरं प्राप्ताः ॥

बारसविहतवजुत्ता द्वादशविधतपोयुक्ता मुनयः । कम्मं खविऊण कर्माष्टविधं क्षपयित्वा । विहिबलेण चारित्रबलेन । स्सं आत्मीयं । वोसट्टचत्तदेहा पद्मासनकायोत्सर्गलक्षणद्विविधव्युत्सर्गेण त्यक्तशरीराः मुनयः । णिव्वाणमणुत्तरं पत्ता निर्वाणं मोक्षमनुत्तरं सर्वेभ्योऽप्युत्तमं प्राप्ता गताः सिद्धा इत्यर्थः । सम्यक्त्वमाहात्म्यं सर्वमेतज्ज्ञातव्यमिति सिद्धं ।

इति श्रीपद्मनन्दिकुन्दकुन्दाचार्यवक्रग्रीवाचार्यैलाचार्यगृद्धपिच्छा-चार्यनामपञ्चकविराजितेन सीमन्धरस्वामिज्ञानसम्बोधितभव्यजनेन श्रीजि-नचन्द्रसूरिभट्टारकपट्टाभरणभूतेन कलिकालसर्वज्ञेन विरचिते षट्प्राभृतग्रन्थे सर्व-मुनिमण्डलीमण्डितेन कलिकालगौतमस्वामिना श्रीमल्लिभूषणेन भट्टार-केणानुमतेन सकलविद्वज्जनसमाजसम्मानितेनोभयभाषाकविचक्रवर्तिना श्रीवि-द्यानन्दिगुर्वन्तेवासिना सूरिवरश्रीश्रुतसागरेण विरचिता दर्शनप्राभृतटीका समाप्ता

चारित्रप्राभृतं ।



सर्वार्थसिद्धिप्रदमर्हदीशं, विद्यादिनन्दं वृषसस्यकन्दं ।
मन्दोऽपि नत्वा विवृणोमि भक्त्या, चारित्रसारं शृणुतार्यमुख्याः ॥१॥

सव्वण्हू सव्वदंसी णिम्मोहा वीयराय परमेट्ठी ।
वन्दित्तु तिजगवंदा अरहंता भव्वजीवेहिं ॥१॥
णाणं दंसण सम्मं चारित्तं सोहिकारणं तेसिं ।
मुक्खाराहणहेउं चारित्तं पाहुडं वोच्छे ॥ २ ॥

सर्वज्ञान् सर्वदर्शिनः निर्मोहान् वीतरागान् परमेष्ठिनः ।
वन्दित्वा त्रिजगद्वन्दितान् अर्हतः भव्यजीवैः ॥
ज्ञानं दर्शनं सम्यक् चारित्रं शुद्धिकारणं तेषाम् ।
मोक्षाराधनहेतुं चारित्रं प्राभृतं वक्ष्ये ॥

जुगलं । सव्वण्हू सर्वज्ञान् । वंदित्तु वन्दित्वा । चारित्तं पाहुडं वोच्छे चारित्रं नाम प्राभृतं चारित्रप्राभृतं चारित्रसारं नाम ग्रन्थं वक्ष्ये । कः कर्ता, अहं कुन्दकुन्दाचार्यः । कथंभूतान् सर्वज्ञान्, सव्वदंसी सर्वदर्शिनो लोकालोकावलोकनशीलान् । अपरं किं विशिष्टान् सर्वज्ञान्, णिम्मोहा निर्मोहान् मोहनीयकर्मरहितान् । भूयोऽपि किं रूपान्, वीयराय वीतरागान् वीतः क्षयं गतो रागो येषां ते वीतरागास्तान्, अज क्षेपणे इति तावद्धातुः "अजेर्वी" इति सूत्रेण वीरादेशः, निष्ठाक्तप्रत्यये वीत इति निष्पद्यते । वीयराय इत्यत्र शस्लोपः । भूयोऽपि किं विशेषणाञ्चितान्, परमेट्ठी परमेष्ठिनः, कोऽर्थः, परमे इन्द्रचन्द्रनरेन्द्रपूजिते पदे तिष्ठतीति परमेष्ठीति व्युत्पत्तेः समवशरणसम्पत्प्रमण्डितानि-

त्यर्थ । अपर कथंभूतान् सर्वज्ञान्, **तिजगवंदा** त्रिजगद्वन्दितान् त्रिभुवनस्थितभव्यजनपूजितानित्यर्थ । पुनरपि कथंभूतान्, **अरहंता** अरिर्मोह, रकारेण रजो लभ्यते तत्तु ज्ञानावरणदर्शनावरणकर्मद्वयं लभ्यते तथा तेनैव प्रकारेण रहस्यमन्तराय कथ्यते तेन घातिकर्मचतुष्टय-हननादिन्द्रादिकृतामनन्यसंभविनीमर्हणा पूजामर्हन्तीत्यर्हन्तस्तानर्हत । तथा **भव्यजीवेहिं** भव्यजीवैर्वन्द्या इति सम्बन्ध । **णाणं देसण सम्मं चारित्तं सोहिकारणं तेसिं** तेषां सर्वज्ञानां घातिसंघातघातनलक्षणाया शुद्धे कारण हेतुर्ज्ञानं दर्शनं सम्यक्चारित्रं च कारण । सम्म इति शब्द एकत्र गृहीतोऽपि त्रिभिर्योज्य तेनायमर्थ सम्यग्ज्ञानं सम्यग्दर्शनं सम्यक्चारित्रं च सर्वेषामपि कर्मणां क्षयकारणं मूलादुन्मूलनस्य हेतुरिति भाव । तेन **मुक्खाराहणहेउं** तेन कारणेन मोक्षाराधनहेतु कारणं । किं ? **चारित्तं** चारित्रं । **पाहुडं** प्राभृत सारभूतं शास्त्रमहं वक्ष्ये इति क्रिया-कारकसम्बन्ध । युगल । एतद्गाथाद्वय युगलं युग्म वर्तते ।

> एए तिण्णि वि भावा हवंति जीवस्स अक्खयामेया ।
> तिण्हं पि सोहणत्थे जिणभणियं दुविह चारित्तं ॥ ३ ॥
>
> एते त्रयोपि भावा भवन्ति जीवस्य अक्षया अमेया ।
> त्रयाणामपि शोधनार्थं जिनभणितं द्विविधं चारित्रम् ॥

एए तिण्णि वि भावा एते त्रयोऽपि भावा ज्ञानदर्शनचारित्रपदा-र्थास्त्रय परिणामा । **हवंति जीवस्स** जीवस्यात्मन सम्बन्धिनो भव-न्ति न तु पुद्गलस्येति भाव । कथं भूतास्त्रयोऽपि भावा **अक्खयामेया** अक्षया अविनश्वरा, अमेया अमर्यादीभूता अनंतानन्ता इत्यर्थ । ज्ञानस्य तावदानन्त्यं भवत्येव लोकालोकव्यापकत्वात् । सम्यक्त्वचारित्रयो कथ-मनन्तत्वं नियतात्मप्रदेशस्थितत्वादिति चेन्न तयोरपि तत्सहचारित्वात्, यावन्मात्रं ज्ञानं तावन्मात्र सम्यग्दर्शनं सम्यक्चारित्रं च तेषामेकीभाव-

निश्चयात् । तिण्हं पि सोहणत्थे त्रयाणामपि सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणा शोधनार्थे शोधननिमित्त । जिणभणियं दुविह चारित्तं जिनैर्भणितं प्रतिपादित द्विविध चारित्र दर्शनाचारचारित्राचारलक्षण, तद्वक्ष्यति ।

जं जाणइ तं णाणं जं पिच्छइ तं च दंसणं भणियं ।
णाणस्स पिच्छियस्स य समवण्णा होइ चारित्तं ॥ ४ ॥

यद् जानाति तद् ज्ञान यत् पश्यति तच्च दर्शन भणित ।
ज्ञानस्य दर्शनस्य च समापन्नात् भवति चारित्र ॥

जं जाणइ तं णाणं यज्जानाति तज्ज्ञान । जं पिच्छइ तं च दंसणं भणियं यत्पश्यति तच्च दर्शन भणित । "कृत्यल्युटोऽन्यत्रापि च" इतिवचनात्कर्तरि युट्प्रत्यय । णाणस्स दंसणस्स य समवण्णा होइ चारित्तं ज्ञानस्य दर्शनस्य च समापन्नात् समायोगाच्चारित्र भवति ।

जिणणाणदिट्ठिसुद्धं पढमं सम्मत्तचरणचारित्तं ।
विदियं संजमचरणं जिणणाणसदेसियं तं पि ॥ ५ ॥

जिनज्ञानदृष्टिशुद्ध प्रथम सम्यक्त्वचरणचारित्रम् ।
द्वितीय सयमचरण जिनज्ञानसदेशित तदपि ॥

जिणणाणदिट्ठिसुद्धं पढमं सम्मत्तचरणचारित्तं जिनस्य सर्वज्ञवीतरागस्य सम्बधि यज्ज्ञान दृष्टिर्दर्शनं च ताभ्या शुद्ध पचविंशतिदोषरहित प्रथम तावदेकं सम्यक्त्वचरणचारित्र दर्शनाचारचारित्र भवति । विदियं संजमचरणं द्वितीय सयमचरण चारित्राचारलक्षण चारित्र भवति । जिणणाणसदेसियं तं पि जिनस्य सम्बन्धि यत्सम्यग्ज्ञान तेन सन्दर्शित सम्यङ्निरूपित तदपि चारित्र भवति । उक्त च--

मूढत्रय मदाश्चाष्टौ तथानायतनानि षट् ।
अष्टौ शकादयश्चेति दृग्दोषा. पचविंशति ॥ १ ॥

एवं चिय णाऊण य सव्वे मिच्छत्तदोस संकाई।
परिहरि सम्मत्तमला जिणभणिया तिविहजोएण ॥६॥

एवं चैव ज्ञात्वा च सर्वान् मिथ्यात्वदोषान् शंकादीन्।
परिहर सम्यक्त्वमलान् जिनभणितान् त्रिविधयोगेन ॥

एवं चिय णाऊण य एवं चैव ज्ञात्वा च। **सव्वे मिच्छत्तदोस संकाई** सर्वान् मिथ्यात्वदोषान् शंकादीन्। **परिहरि** परिहर हे जीव! त्वं परित्यज। कथभूतान्, **सम्मत्तमला** सम्यक्त्वमलान् पूर्वोक्तश्लोककथितान् पंचविंशतिदोषान्। कथंभूतान्, **जिणभणिया** सर्वज्ञभणितान् श्रीमद्भगवदर्हत्सर्वज्ञवीतरागप्रतिपादितान्। **तिविहजोएण** मनोवचनकायलक्षणकर्मयोगेन कृत्वा। किं तन्मूढत्रयं? लोकमूढं, पाखण्डिमूढं, देवतामूढं चेति। तत्र लोकमूढं—

सूर्यार्घो ग्रहणस्नानं संक्रान्तौ द्रविणव्ययः।
सन्ध्यासेवाग्निसत्कारो देहगेहार्चनाविधिः ॥ १ ॥
गोपृष्ठान्तनमस्कारस्तन्मूत्रस्य निषेवणं।
रत्नवाहनभूवृक्षशस्त्रशैलादिसेवनं ॥ २ ॥
आपगासागरस्नानमुच्चयः सिकताश्मनां।
गिरिपातोऽग्निपातश्च लोकमूढं निगद्यते ॥ ३ ॥
वरोपलिप्सयाशावान् रागद्वेषमलीमसाः।
देवता यदुपासीत देवता मूढमुच्यते ॥ ४ ॥
सग्रन्थारम्भहिंसानां संसारावर्तवर्तिनां।
पाषण्डिनां पुरस्कारो ज्ञेयं पाषण्डिमोहनं ॥ ५ ॥

अष्टौ मदाः के ते?—

ज्ञानं पूजां कुलं जातिं बलमृद्धिं तपो वपुः।
अष्टावाश्रित्य मानित्वं स्मयमाहुर्गतस्मयाः ॥ १ ॥

षडनायतनानि कानि तानि?—

कुदेवगुरुशास्त्राणां तद्भक्तानां गृहे गतिः ।
षडायतनमित्येव वदन्ति विदितागमाः ॥ १ ॥

प्रभाचन्द्रस्त्वेवं वदति मिथ्यादर्शनज्ञानचारित्राणि त्रीणि त्रयश्च तद्वन्तः पुरुषाः षडनायतनानि । अथवा असर्वज्ञ १ असर्वज्ञायतन २ असर्वज्ञज्ञान ३ असर्वज्ञज्ञानसमवेतपुरुष ४ असर्वज्ञानुष्ठान ५ असर्वज्ञज्ञानानुष्ठानसमवेतपुरुषश्चेति ६ । शंकादयोऽष्ट यथा शंका १ कांक्षा २ विचिकित्सा ३ मूढदृष्टि ४ अनुपगूहन ५ अस्थितीकरणं ६ अवात्सल्य ७ अप्रभावना चेति ८ अष्टौ शंकादयः ।

णिस्संकिय णिक्कंखिय णिव्विदिगिंछा अमूढदिट्ठी य ।
उवगूहण ठिदिकरणं वच्छल्ल पहावणा य ते अट्ठ ॥ ७ ॥

निःशंकित निःकांक्षित निर्विचिकित्सा अमूढदृष्टिश्च ।
उपगूहनं स्थितीकरणं वात्सल्यं प्रभावना च ते अष्टौ ॥

णिस्संकिय इत्यादि । निःशंकितं निर्भयत्वं परदर्शने जैनाभासे वा मुक्तिमाननत्वं, अञ्जनचोरवज्जिनवचनमाननं च । णिक्कंखिय निष्कांक्षितं सम्यक्त्वव्रतादिफलेन राज्यदेवत्वेहभवसुखेष्टजनमेलापकत्वादिनिदानस्याकरणं । सीतानन्तमतिसुतारादिवद्व्रतदार्ढ्यं च । णिव्विदिगिंछा निर्विचिकित्सा रत्नत्रयपवित्रपात्रजनशरीरमलादिदर्शनेन शूकाया अकरणं उद्दायनमहाराजवत् । अमूढदिट्ठी य अमूढदृष्टिश्च जिनवचनेऽरुचिरत्वं रेवतीमहादेवीवत् । उवगूहण उपगूहनं जिनधर्मस्याद्याशक्तजनदोषझंपनं जिनेन्द्रभक्तश्रेष्ठिवत् । ठिदिकरणं स्थितीकरणं सम्यक्त्वव्रतादेर्भ्रश्यज्जैनस्य तत्र स्थापनं पुष्पदन्तविप्रस्य वारिषेणवत् । वच्छल्ल वात्सल्यं धर्मस्थजनोपसर्गनिवारणं अकम्पनादेर्विष्णुकुमारमुनिवत् । पहावणा य प्रभावना च जिनधर्मोद्योतनं परधर्मप्रभावविध्वंसनं च वज्रकुमारविद्याधरमुनिवत् । ते अट्ठ ते सम्यक्त्वगुणा अष्ट भवन्ति ।

१ पहावणा अट्ठ ग घ. ।

तं चेव गुणविसुद्धं जिणसम्मत्तं सुमुक्खठाणाय।
जं चरइ णाणजुत्तं पढमं सम्मत्तचरणचारित्तं॥ ८॥

तच्चैव गुणविशुद्धं जिनसम्यक्त्वं सुमोक्षस्थानाय।
यच्चरति ज्ञानयुक्तं प्रथमं सम्यक्त्वचरणचारित्रम्॥

तं चेव गुणविसुद्धं तच्चैव सम्यक्त्वं गुणविशुद्धं निःशंकितादिभिरष्टगुणैर्विशुद्धं निर्मलं। **जिणसम्मत्तं** जिनसम्यक्त्वं जगत्पतिश्रीमद्भगवदर्हत्सर्वज्ञवीतरागस्य सम्बन्धिनी श्रद्धा रुद्रादिश्रद्धानरहितं जिनसम्यक्त्वमुच्यते। रुद्रादिसम्यक्त्वं किं? तदुक्तं—

अमितस्त्वमेवं(?)भवतोऽपि भवभक्तिपरायणः।
मुक्तिं जीवस्त्वमाप्नोति मुक्तिं नु लभते मृतः॥ १॥

भवभक्तिपरायणो रुद्रभक्तिपरायणः। **सुमुक्खठाणाय** सुमोक्षस्थानाय तीर्थंकरपरमदेवो भूत्वा सर्वकर्मक्षयलक्षणं मोक्षस्थानं प्राप्नोति सुमोक्षस्थानं तस्मै सुमोक्षस्थानाय परमनिर्वाणप्राप्त्यर्थमित्यर्थः। **जं चरइ णाणजुत्तं** यच्चरति मत्प्रतिपाल्यति यतिः णाणजुत्तं ज्ञानयुक्तं सम्यक्त्वं ज्ञानसहितं सम्यक्त्वं। अथवा क्रियाविशेषणमिदं। तेनायमर्थः ज्ञानयुक्तं यथा भवत्येवं चरति। **पढमं सम्मत्तचरणचारित्तं** द्वयोर्दर्शनाचारचारित्राचारयोर्मध्ये सम्यक्त्वाचारचारित्रं पढमं प्रथमं भवति।

सम्मत्तचरणसुद्धा संजमचरणस्स जइ व सुपसिद्धा।
णाणी अमूढदिट्ठी अचिरे पावंति णिव्वाणं[1]॥ ९॥

सम्यक्त्वचरणशुद्धाः संयमचरणस्य यदि वा सुप्रसिद्धाः।
ज्ञानिनः अमूढदृष्टयः अचिरं प्राप्नुवन्ति निर्वाणम्॥

---

१ अस्मादग्रे ग घ मुद्रित पुस्तके च इदं गाथासूत्रं वर्तते—
सम्मत्तचरणभट्ठा संजमचरणं चरंति जइ वि णरा।
अण्णाणणाणमूढा तह वि ण पावंति णिव्वाणं॥ १॥ इति।

सम्मत्तचरणसुद्धा सम्यक्त्वचरणे सम्यक्त्वचारित्रे ये सूरयः शुद्धाः सम्यक्त्वदोषरहिताः सम्यक्त्वगुणसहिताश्च भवन्ति। **संजमचरणस्स जइ व सुपसिद्धा** संयमचरणस्य यदि वा सुप्रसिद्धाः चारित्राचारे च सुप्रसिद्धाः सुष्ठु अतिशयेन प्रकर्षेण सिद्धं चारित्रं येषां ते सुप्रसिद्धाः सर्वलोकविदिता वा सम्यक्त्वपूर्वकचारित्रप्रतिपालका इत्यर्थः। **णाणी अमूढदिट्ठी** ज्ञानिनोऽमूढदृष्टयश्च। **अचिरे पावंति णिव्वाणं** अचिरे स्तोककाले निर्वाणं प्राप्नुवन्ति। अत्र चारित्रस्य मुख्यत्वेऽपि सम्यक्त्वज्ञानयोरपि सामर्थ्यमुक्तमिति भावः।

वच्छल्लं विणएण य अणुकंपाए सुदाणदच्छाए।
मग्गगुणसंसणाए अवगूहण रक्खणाए य ॥ १० ॥
एएहिं लक्खणेहिं य लक्खिज्जइ अज्जवेहिं भावेहिं।
जीवो आराहंतो जिणसम्मत्तं अमोहेण ॥ ११ ॥

वात्सल्यं विनयेन च अनुकम्पया सुदानदक्षया।
मार्गगुणशंसनया उपगूहनं रक्षणेन च ॥
एतैः लक्षणैः च लक्ष्यते आर्जवैः भावैः।
जीवः आराधयन् जिनसम्यक्त्वं अमोहेन ॥

एएहिं लक्खणेहिं य एतैर्लक्षणैः। जिनसम्यक्त्वं। **आराहंतो** आराधयन्। **जीवो लक्खिज्जइ** जीव आत्मा लक्ष्यते ज्ञायते। न केवलमेतैर्भावैरपि तु **अज्जवेहिं भावेहिं** आर्जवैर्भावैर्वक्राकुटिलपरिणामैश्चोपलक्ष्यते। केन कृत्वा लक्ष्यते? **अमोहेण** अमोहेनाज्ञानतया ज्ञानेन विचक्षणतया। विचक्षणं विना सम्यक्त्वाराधक पुरुषं कोऽपि न जानाति सम्यक्त्वपरिणामस्यातिसूक्ष्मत्वात्। अथवा **अमोहेण** अमोघेन सफलजन्मना पुरुषेण। एतैः कैरित्याह—**वच्छल्लं** एकं तावद्वात्सल्यं धर्मिष्ठजनेषु स्नेहत्वं सद्यः प्रसूतगौरिव वत्से वत्सलत्वेन

सद्दृष्टिर्विचक्षणैर्ज्ञायते। **विणएण य** विनयेन च विनयगुणेन गुरुजनेष्व भ्युत्थानसम्मुखगमनकरयोटनपादवन्दनादिभिर्गुणै सद्दृष्टिर्विचक्षणैर्ज्ञायते। **अणुकंपाए** अनुकम्पया दुखितं जनं दृष्ट्वा कारुण्यपरिणामोऽनुकम्पा तया सद्दृष्टिर्विचक्षणैर्ज्ञायते। कथंभूतयानुकम्पया, **सुदाणदच्छाए** शोभनदानदक्षया दु खितजनयोग्यदानविशिष्टया। **मग्गगुणसंसणाए** मार्गगुणशंसनया निर्ग्रन्थलक्षणो मोक्षमार्ग सग्रन्थो वस्त्रादिवेष्टित कोऽपि मोक्षं न गच्छति इति मोक्षमार्गस्तवनेन सद्दृष्टिर्विचक्षणैर्ज्ञायते। **अवगूहण** उपगूहनं बालाशक्तजनजनितदोषाच्छादनेन सद्दृष्टिर्विचक्षणैर्ज्ञायते। **रक्खणाए य** मार्गाद्भ्रश्यज्जनस्थितीकरणेन सद्दृष्टिर्विचक्षणैर्ज्ञायते इति क्रियाकारकसम्बन्ध।

उच्छाहभावणासंपसंससेवा कुदंसणे सद्धा।
अण्णाणमोहमग्गे कुव्वंतो जहदि जिणसम्मं॥ १२॥

उत्साहभावनासंप्रशंसासेवा कुदर्शने श्रद्धा।
अज्ञानमोहमार्गे कुर्वन् जहाति जिनसम्यक्त्वम्॥

उच्छाहभावणासपसंससेवा मिथ्यादृष्टिकथिताचारे योऽसावुत्साह उद्यमस्त, सपसस-सम्यग्जनसा वचसा च प्रशसनं स्तुतिवचनं, सेवा मिथ्यादृष्टे करादिना स्पर्शनं। **कुदंसणे सद्धा** मिथ्यादर्शने श्रद्धा रुचि। **अण्णाणमोहमग्गे** न विद्यते ज्ञानं येषां तेऽज्ञानास्तेषां मोघो निष्फलो मोहो वा संशयादिरूपो योऽसौ मार्ग संसारदुःखकारी धर्मस्तस्मिन्नज्ञानमोहमार्गे श्रद्धा रुचिं कुर्वन्। **जहदि जिणसम्मं** जिनसम्यक्त्वं जहाति मुञ्चति।

उच्छाहभावणासपसंससेवा सुदंसणे सद्धा।
ण जहदि जिणसम्मत्तं कुव्वंतो णाणमग्गेण॥ १३॥

उत्साहभावनासप्रशंसासेवा सुदर्शने श्रद्धां।
न जहाति जिनसम्यक्त्वं कुर्वन् ज्ञानमार्गेण ॥

उच्छाहभावणासपसंससेवा सुदंसणे सद्धा न जहदि जिणस म्मत्तं उत्साह–उद्यमस्तं कुर्वन्निति सम्बन्धः । भावणा–शरीरात्कर्मणश्चात्मा पृथग्वर्तते इति भेदभावना तां । संपसंस–सम्यक्प्रकारेण मनोवचनकायकर्मभिः प्रशंसामर्हदादीनां स्तुतिं कुर्वन्। तथा सेवा स्नपनपूजनस्तवनजपनादिगुर्वादिपादसंवाहनादिकं च कुर्वन्। सुदंसणे–सम्यग्दर्शने रत्नत्रयलक्षणमोक्षमार्गे तत्वार्थे च श्रद्धां रुचिं कुर्वन् जिनसम्यक्त्वं न जहाति न त्यजति। उत्साहादिकं केन कृत्वा कुर्वन्, **णाणमग्गेण** ज्ञानमार्गेण सम्यग्ज्ञानद्वारेण ।

अण्णाण मिच्छत्तं वज्जहि णाणे विसुद्धसम्मत्ते ।
अह मोहं सारम्भं परिहर धम्मे अहिंसाए ॥ १४ ॥

अज्ञानं मिथ्यात्वं वर्जय ज्ञाने विशुद्धसम्यक्त्वे ।
अथ मोहं सारम्भं परिहर धर्मेऽहिंसायाम् ॥

अण्णाणं मिच्छत्तं वज्जहि णाणे विसुद्धसम्मत्ते अज्ञानं वर्जयं दूरीकुरु, कस्मिन् सति णाणे–ज्ञाने सम्यग्ज्ञाने सति, अज्ञानस्य ज्ञानं प्रत्यनीकं यतः । मिथ्यात्वं वर्जय, कस्मिन् सति सम्यक्त्वे सति मिथ्यात्वस्य सम्यग्दर्शनं प्रतिबन्धकं यतः । अह अथानन्तरं । **मोहं परिहर** परित्यज । कथंभूतं मोहं, **सारंभं** सेवाकृषिवाणिज्याद्यारम्भसहितं । कस्मिन् सति, धर्मे सति चारित्रे सति । तथाऽऽरम्भं परिहर कस्यां सत्यां, **अहिंसाए** अहिंसायां सत्यां पंचमहाव्रतानि रात्रिभोजनवर्जनपर्यन्तानि सर्वाण्यप्यहिंसानिमित्तं कथितानि यतः ।

पव्वज्ज संगचाए पयट्ट सुतवे सुसंजमे भावे ।
होइ सुविसुद्धझाणं णिम्मोहे वीयरायत्ते ॥ १५ ॥

प्रव्रज्यायां संगत्यागे प्रवर्तस्व सुतपसि सुसंयमे भावे ।
भवति सुविशुद्धध्यानं निर्मोहे वीतरागत्वे ॥

पव्वज्ज संगचाए पयट्ट हे जीव ! त्वं प्रव्रज्यायां प्रवर्तस्व, कस्मिन् सति, संगचाए—संगस्य वस्त्रादिपरिग्रहस्य त्यागे सति । तथा हे आत्मन् ! त्वं **सुतवे पयट्ट** सुतपसि प्रवर्तस्व । कस्मिन् सति, **सुसंजमे भावे** शोभनसंयमपरिणामे सति । असंयमिनो मासोपवासादियुक्तस्यापि सुतपोऽसद्भावात् । तथा **होइ सुविसुद्धझाणं णिम्मोहे वीयरायत्ते** भवति सुविशुद्धध्यानं निर्मोहे पुत्रकलत्रमित्रधनादिव्यामोहवर्जिते पुरुषे, यस्तु पुत्रादिमोहसहितो भवति तस्य विशिष्टं धर्मध्यानं शुक्लध्यानलेशोऽपि न भवति यतः । तथा वीतरागत्वे सति सुविशुद्धध्यानं भवतीति तात्पर्यं । उक्तं च योगीन्द्रदेवनाम्ना भट्टारकेण—

जसु हरिणच्छी हियवडइ तासु न बंभु वियारि ।
एक्कहिँ केम समंति वढ ! बे खंडा पडियारि ॥ १ ॥

"मूढस्य नालियमन्ढौ" इति प्राकृतव्याकरणसूत्र ।

मिच्छादंसणमग्गे मलिणे अण्णाणमोहदोसेहि ।
वज्झंति मूढजीवा मिच्छत्ताबुद्धिउदएण ॥ १६ ॥

मिथ्यादर्शनमार्गे मलिनेऽज्ञानमोहदोषाभ्याम् ।
बध्यन्ते मूढजीवा मिथ्यात्वाबुद्ध्युदयेन ॥

---

१ यस्य हरिणाक्षी हृदये तस्य नैव ब्रह्म विचारय ।
एकस्मिन् कथं समायातौ वद ! द्वौ खड्गौ प्रतिद्वारे ॥ १ ॥

२ अत्र पुस्तके सम्मत्ताबुद्धिउदएण इति पाठः किं तु टीकायां मिच्छत्ताबुद्धिउदएण इति पाठः । ग घ पुस्तकेऽपि सम्मत्ताबुद्धिउदएण इति पाठः । घ पुस्तके त्वस्यायं अर्थं प्रकाशितः जीवाः सम्यक्त्वबुद्ध्युदयात् सम्यक्त्वम (कदा) विप्रकटनात् अज्ञानमोहादिदोषैः मलिनं कृष्णं मिथ्यात्वदर्शनं मार्गं त्यजन्ति मुञ्चन्तीति । क पुस्तके तु टीकोक्त एव मूलः पाठः ।

मिच्छादंसणमग्गे मलिणे मिथ्यादर्शनमार्गे मलिने पापरूपे सति। कैं कृत्वा, **अण्णाणमोहदोसेहिं** अज्ञान पक्षेमिथ्यात्वलक्षण, मोह पच जैनाभासलक्षण, अज्ञान च मोहश्चाज्ञानमोहौ तावेव दोषौ ताभ्यामज्ञान मोहदोषाभ्या वध्यन्ते पापै वेष्टयन्ते। के ते, **मूढजीवा** अज्ञानिन। केन कृत्वा, **मिच्छत्ताबुद्धिउदएण** मिथ्यात्वस्याबुद्धेश्चाज्ञानस्योदयेन प्रादुर्भावेन।

सम्मद्दंसण पस्सदि जाणदि णाणेण दव्वपज्जाया।
सम्मेण य सद्दहदि य परिहरदि चरित्तजे दोसे ॥ १७॥

सम्यग्दर्शनेन पश्यति जानाति ज्ञानेन द्रव्यपर्यायान्।
सम्यक्त्वेन च श्रद्दधाति च परिहरति चारित्रजान् दोषान्॥

सम्मद्दंसण पस्सदि सम्यग्दर्शनेन सत्तावलोकनरूपेण विशेषम कृत्वा निराकाररूपेण पश्यति विलोकते। **जाणदि णाणेण** जानाति ज्ञानेन विशेषरूपेण साकाररूपेण ज्ञानेनात्मा जानाति। कान् पश्यति कान् जानाति, **दव्वपज्जाया** द्रव्याणि जीवपुद्गलधर्माधर्मकालाकाशां स्तथा पर्यायाश्च जीवस्य नरनारकादय क्रोधमानमायालोभमोहस्नेहपुण्य पापादयश्च पर्यायास्तान् पश्यति जानाति च। तथा पुद्गलस्य द्व्यणुकत्र्यणुक-चतुरणुकपचाणुकादिमहास्कन्धत्रैलोक्यपर्यन्ता पर्यायास्तान् पश्यति जानाति च। धर्मस्य येन रूपेण जीवपुद्गलौ गतिं कुर्वन्तस्तद्रूपा पर्याया। तथाऽधर्मस्य पर्याया स्थितिरूपा जीवादीनां ज्ञातव्या। कालस्य समया वलिप्रभृतय पर्याया। उक्त च—

आवलि असखसमया सखेज्जावलिहिं होइ उस्सासो।
सत्तुस्सासा थोओ सत्तत्थोओ लवो भणिओ ॥ १ ॥

१ आवलिरसख्यसमया संख्येयावलिभिर्भवति उच्छ्वास॥
सप्तोच्छ्वासा स्तोक सप्तस्तोको लवो भणित॥ १॥

अट्ठत्तीसद्धलवा नाली दो नालिया मुहुत्तं तु।
समऊण तं भिण्णं अन्तमुहुत्तं अणेयविहं ॥ २ ॥

एकेन समयेन ऊनो मुहूर्तो भिन्नमुहूर्तं कथ्यते। अन्तर्मुहूर्तस्त्वनेकप्रकार। के तेऽनेकप्रकारा अन्तर्मुहूर्तस्येत्याह आवल्युपरि एक समयोऽधिको यदा भवति तदा जघन्योन्तर्मुहूर्तो भवति। एवमावल्युपरि इत्यादय समयाश्चवर्द्धन्ते ते सर्वेऽप्यन्तर्मुहूर्ता भवन्ति यावत्समयोनो मुहूर्त। एवमहोरात्रपक्षमासायनवर्षपूर्वपल्योपमसागरोपमावसर्पिण्युत्सर्पिण्यादय कालस्य पर्याया ज्ञातव्या। आकाशस्य तु पर्याया घटाकाश पटाकाश स्तम्भाकाश इत्यादय। **सम्मेण य सद्दहदि य परिहरदि चरित्तजे दोसे** सम्यक्त्वेन च श्रद्दधाति रोचते न केवलं श्रद्धत्ते परिहरदि य—परिहरति च कान्, चरित्तजे दोसे—चारित्रजान् दोषानिति सम्बन्ध।

एए तिण्णि वि भावा हवंति जीवस्स मोहरहियस्स।
णियगुणमाराहंतो अचिरेण वि कम्म परिहरइ ॥ १८ ॥

एते त्रयोपि भावा भवन्ति जीवस्य मोहरहितस्य।
निजगुण आराधयन् अचिरेणापि कर्म परिहरति ॥

एए तिण्णि वि भावा हवंति जीवस्स मोहरहियस्स एते त्रयोऽपि भावा सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रलक्षणा परिणामा भवन्ति जीवस्यात्मन। कथंभूतस्य जीवस्य, मोहरहितस्य चारित्रमोहापरनामरागादिभेदाद्रहितस्य वर्जितस्य। **णियगुणमाराहंतो अचिरेण वि कम्म परिहरइ** निजगुण शुद्धबुद्धैकस्वभावमात्मगुण ज्ञानध्यानस्वरूपमाराधयन्नचिरेण स्तोककालेन कर्म परिहरति सिद्धो भवति।

संखिज्जमसंखिज्जगुणं च संसारिमेरुमित्ता णं।
सम्मत्तमणुचरंता करंति दुक्खक्खयं धीरा ॥ १९ ॥

---

१ अष्टत्रिंशार्धलवा नाली द्वे नालिके मुहूर्तं तु।
समयोन तं भिन्नं अन्तर्मुहूर्तोऽनेकविधं ॥ २ ॥

संख्येयामसंख्येयगुणा सर्षपमेरुमात्रां ।
सम्यक्त्वमनुचरन्त कुर्वन्ति दुःखक्षयं धीरा ॥

संखिज्जं सख्येयगुणा निर्जरा सम्यक्त्वं प्रतिपाल्यन्तो धीरा योगीश्वरा प्राप्नुवन्तीति । **असंखिज्जगुणं** असंख्येयगुणा निर्जरा । **अणुचरंता** चारित्र पालयन्तो **धीरा** योगीश्वरा । करति–कुर्वन्ति । तदनन्तर **दुक्खक्खयं करंति** सर्वकर्मक्षयादनन्तर मोक्ष प्राप्नुवन्तीत्यर्थ । कथंभूता संख्येयगुणामसंख्येयगुणा च निर्जरा, **सासारिमेरुमित्ता णं** सर्षपमेरुमात्रा । सम्यक्त्वनिर्जराया सकाशात् चारित्रनिर्जरा बहुतरेति भाव । णं इति वाक्यालङ्कारे ।

दुविहं संजमचरणं सायार तह हवे निरायार ।
सायार सग्गंथे परिग्गहा रहिय खलु निरायार ॥ २० ॥

द्विविध सयमचरण सागार तथा भवेत् निरागारम् ।
सागार सग्रन्थे परिग्रहाद्रहिते निरागारम् ॥

दुविहं संजमचरणं द्विविध सयमचरण द्विप्रकारश्चारित्राचार । कौ तौ द्वौ प्रकारौ, **सायार तह हवे निरायार** सागार तथा भवेन्निरागार । सागारं कुत्र भवति, **सायार सग्गंथे** सागारं चारित्रं सग्रन्थे गृहस्थे भवति । तर्हि निरागार चारित्र कस्मिन् भवति, **परिग्गहा रहिय खलु निरायार** परिग्रहाद्रहिते निर्ग्रन्थे निरम्बरे निरागार चारित्र वेदितव्यमित्यर्थ ।

सायार–अथ सागार चारित्राचार निरूपयन्ति श्रीकुन्दकुन्दाचार्या –

दंसण वय सामाइय पोसह सचित्त रायभत्ते य ।
बंभारंभ परिग्गह अणुमण उद्दिट्ठ देसविरदो य ॥२१॥

दर्शन व्रत सामायिक प्रोषध सचित्त रात्रिभुक्तिश्च ।
ब्रह्मचर्यं आरम्भ परिग्रह अनुमति उद्दिष्ट देशविरतश्च ॥

अष्टौ मूलगुणा । ते के, वटफलानामभक्षण १ पिप्पलफलवर्जन २ "प्लक्षो जटी पर्कटी स्यात्" तत्फलनिवारण ३ उदुबरो जघने फलामलयु गूलर इति देश्यात् तत्फलनिषेध ४ कठंजर कठुबर अंजीर इति देश्यात् तत्फलानामभक्षण मद्य ६ मास ७ मधु ८ निषेध इत्यष्टौ मूलगुणा । अथवा—

मद्यपलमधुनिशाशनपचफलीविरतिपचकाप्तनुती ।
जीवदया जलगालनमिति च क्वचिदष्टमूलगुणा ॥ १ ॥

सप्तव्यसनवर्जन । उक्त च—

मद्यमाससुरावेश्याखेटचौर्यपराङ्गना[1] ।
महापापानि सप्तैव व्यसनानि त्यजेद्बुध ॥ १ ॥

सम्यक्त्वप्रतिपालन परशास्त्राणामश्रवणमिति विशुद्धमति । मूलक नालिकापद्मिनीकदलशुनकन्दतुबकफलकुसुभशाककलिंगफलसूरणकन्द त्यागश्च । अरणीपुष्प वरणपुष्प सौभाञ्जनकुसुम करीरपुष्प काच नारपुष्पमिति पचपुष्पत्याग । लवणतैलघृतधृतफलस धानकमुहूर्तद्वयो- परिनवनीतमासादिसेविभाण्डभाजनवर्जन । चर्मस्थितजलस्नेहहिंगुपरि हार । अस्थिसुराचर्ममासरक्तपूयमलमूत्रमृताङ्गिदर्शनत प्रत्याख्यातान्न सेवनाच्चाण्डालादिदर्शनात्तच्छब्दश्रवणाच्च भोजन त्यजेत् । मुलकित पुष्पितस्वादचलितमन्न त्यजेत् । षोडशप्रहरादुपरि तक्र दधि च त्यजेत् । द्विदलान्नमिश्र दधि तक्र स्वादित सम्यक्त्वमपि मलिनयेत् । ताम्बूलौ षधजल रात्रौ त्यजेत् । एष सर्वोऽपि दर्शनप्रतिमाचार । व्रय द्वादशव्रतानि, अहिंसा स्थूलवधाद्विरमण, सत्य स्थूलसत्यवचन, स्थूलमचौर्य, ब्रह्मचर्य स्वदारसतोष परदारनिवृत्ति कस्य चित्सर्वस्त्रीनिवृत्ति , परिग्रहपरिमाणव्रत, दिग्विदिक्परिमाणविरति , अनर्थदण्डपरिहार , भोगोपभोगपरिमाणमिति गुणव्रतत्रय, सामायिक,

१ क पुस्तके तु घृतशब्दो नास्ति ।

प्रोपधोपवास , अतिथिसंविभाग , सल्लेखनामरण चेति शिक्षाव्रतचतुष्टयं। सामाइय त्रिकालसामायिक। पोसह पर्वोपवास ,। सचित्त सचित्तस्याभक्षण। रायभत्ते य रात्रिभोजनपरिहारो दिवाब्रह्मचर्यं,। बंभ सर्वथा ब्रह्मचर्यं। आरंभ सेवाकृषिवाणिज्यादिपरिहार। परिग्गह वस्त्रमात्रपरिग्रहस्वीकार सुवर्णादिवर्जन। अणुमण विवाहादिकर्मानुपदेश। उद्दिट्ठ उद्दिष्टाहारपरिहार। देसविरदो य एव सागारचारित्र।

पंचेवणुव्वयाइं गुणव्वयाइं हवंति तह तिण्णि।
सिक्खावय चत्तारि संजमचरणं च सायारं ॥२२॥

पंचैवाणुव्रतानि गुणव्रतानि भवन्ति तथा त्रीणि।
शिक्षाव्रतानि चत्वारि संयमचरणं च सागारम् ॥

पंचेवणुव्वयाइं पंचैवाणुव्रतानि भवन्ति। गुणव्वयाइं हवंति तह तिण्णि गुणव्रतानि भवन्ति तथा त्रीणि। सिक्खावय चत्तारि शिक्षाव्रतानि चत्वारि भवन्ति। संजमचरणं च सायारं संयमचरणं च सागारं भवति। एतानि द्वादशव्रतानि पूर्वमेवसूचितानि।

थूले तसकायवहे थूले मोसे तितिक्खथूले य।
परिहारो परपिम्मे परिग्गहारंभपरिमाणं ॥ २३ ॥

स्थूले त्रसकायवधे स्थूलायां मृषायां तितिक्षास्थूले च।
परिहारः परप्रेम्णि परिग्रहारम्भपरिमाणम् ॥

थूले तसकायवहे *स्थूले त्रसकायवधे*। परिहार इति शब्दश्चतुर्षु सम्बध्यते। थूले मोसे स्थूलमृषावादे परिहार। तितिक्खथूले य तितिक्षास्थूले चौर्यस्थूले परिहार। परिहारो परपिम्मे परिहार क्रियते कस्मिन् परप्रेम्णि परदारे। परिग्गहारंभपरिमाणं परिग्रहाणां सुवर्णादीनामारंभाणां सेवाकृषिवाणिज्यादीनां परिमाणं क्रियते।

दिसिविदिसिमाण पढमं अणत्थदंडस्स वज्जणं विदियं ।
भोगोपभोगपरिमा इयमेवगुणव्वया तिण्णि ॥ २४ ॥

दिग्विदिग्मान प्रथम–अनर्थदण्डस्य वर्जनं द्वितीयम् ।
भोगोपभोगपरिमाण–इदमेव गुणव्रतानि त्रीणि ॥

दिसिविदिसिमाण पढमं दिग्विदिग्भ्यां परिमाणं प्रथमं गुणव्रतं ज्ञातव्यं । **अणत्थदंडस्स वज्जणं विदियं** अनर्थदण्डस्य वर्जनं द्वितीयं गुणव्रतं भवति । **भोगोपभोगपरिमा** भोगोपभोगपरिमाणं तृतीयं गुणव्रतं भवति । भोजनादिकं भोगः । वस्त्रस्त्रीप्रमुखमुपभोग इत्यर्थः । **इयमेव गुणव्वया तिण्णि** इदमेवाचरणं त्रीणि गुणव्रतानि भवन्ति।

सामाइयं च पढमं विदियं च तहेव पोसहं भणियं ।
तइयं अतिहिपुज्जं चउत्थ सल्लेहणा अंते ॥ २५ ॥

सामायिकं च प्रथमं द्वितीयं च तथैव प्रोषधो भणितः ।
तृतीयमतिथिपूज्यं चतुर्थं सल्लेखना अन्ते ॥

समाइयं च पढमं सामायिकं च प्रथमं शिक्षाव्रतं । चैत्यपञ्चगुरुभक्तिसमाधिभक्तिलक्षणं दिनं प्रति एकवारं द्विवारं त्रिवारं वा व्रतप्रतिमायां सामायिकं भवति । यत्तु सामायिकप्रतिमायां सामायिकं प्रोक्तं तत्त्रीन् वारान् निश्चयेन करणीयमिति ज्ञातव्यं । **विदियं च तहेव पोसहं भणियं** द्वितीयं च तथैव प्रोषधोपवासः शिक्षाव्रतं भणितं प्रतिपादितं अष्टम्यां चतुर्दश्यां च । तदपि त्रिविधं, चतुर्विधाहारपरिवर्जनमुत्कृष्टं, जलसहितं मध्यमं, आचाम्लं जघन्यं प्रोषधोपवासः भवति यथाशक्ति कर्तव्यं। **तइयं च अतिहिपुज्जं** तृतीयं चातिथिपूज्यं, न विद्यते तिथिः प्रतिपदादिका यस्य सोऽतिथिः । अथवा संयमलाभार्थमतति गच्छति उद्दंडचर्यां करोतीत्यतिथिर्यतिः स पूज्यो नवगुणसप्तगुणसमन्वितेन श्रावकेण यस्मिन् शिक्षाव्रते तदतिथिपूज्यं । **चउत्थ सल्लेह**

णा अंते चतुर्थं शिक्षाव्रतमन्ते मरणकाले सल्लेखना कायकषायतनूकरणमिति तात्पर्यं ।

एवं सावयधम्मं संजमचरणं उदेसियं सयलं ।
सुद्धं संजमचरणं जइधम्मं णिक्कलं वोच्छे ॥ २६ ॥

एवं श्रावकधर्मं संयमचरणं उपदेशितं सकलं ।
शुद्धं संयमचरणं यतिधर्मं निष्कलं वक्ष्ये ॥

एवं सावयधम्मं संजमचरणं उदेसियं सयलं एवममुना प्रकारेण श्रावकधर्मलक्षणं संयमचरणं चारित्राचारं, उपदेशितं भवन्ति कुर्यल्लिति प्रतिपादितं, सकलं समग्रं परिपूर्णं, किंचिद्विशेषरूपं तु न प्रतिपादितमित्यर्थ । उक्तं च—

निल्याला(?)नुफले च त्रिभुवनविजयी शिखीधक न सेवते ।
आ पंचदशातिथिभ्यः पयोऽपि वत्सोद्भवात्समारभ्य ॥ १ ॥

तथा च—

हतिप्रायेषु पानीयं स्नेहं च कुतपादिषु ।
व्रतस्थो वर्जयेन्नित्यं योषितश्चाव्रतोचिताः ॥ १ ॥

त्रिभुवनविजयीति भंगा तदुपलक्षणं सूक्ष्मकणत्वचाहिफेनादीनां । शिखीधकं गोमयच्छत्रं श्वेतवर्णपुष्पदण्डिका च । चर्मतुलादिधृतं गुडादिकं नादेयं । अभ्युक्षणाचमनादिकं च विशेषशास्त्रोक्तं ज्ञातव्यं । सुद्धं संजमचरणं जइधम्मं णिक्कलं वोच्छे शुद्धं परिपूर्णनिशुद्धिसहितं यतिधर्मं निष्कलं निष्कलंकं वक्ष्ये कथयिष्यामि । इति वचनाच्छ्रावकधर्मस्य यतिधर्मस्य च तारतम्येनोत्कृष्टता सूचिता भवतीति ज्ञातव्यम् ।

पंचिंदियसंवरणं पंचवया पंचविंसकिरियासु ।
पंचसमिदि तयगुत्ती संजमचरणं णिरायारं ॥ २७ ॥

पञ्चेन्द्रियसंवरणं पञ्चव्रता पञ्चविंशतिक्रियासु ।
पञ्चसमितयः तिस्रो गुप्तयः संयमचरणं निरागारम् ॥

पंचिंदियसंवरणं पंचानामिन्द्रियाणां संवरणं कूर्मवत्संकोचनं । **पंचवया** पंचव्रता । व्रतशब्दस्य पुन्नपुंसकत्वमुक्तमस्ति तेनात्र पुंस्त्वं सूचितं । तास्तु विवरिष्यति । **पंचविंसकिरियासु** पंचविंशतौ क्रियासु सतीषु । ते पंचव्रता भवन्तीति भावः । **पंचसमिदि** पंचसमितयो भवन्ति । **तयगुत्ती** तिस्रो गुप्तयः । **संजमचरणं णिरायारं** निरागारमनगारं चारित्राचारो भवतीति द्वारगाथा वेदितव्या ।

अमणुण्णे य मणुण्णे सजीवदव्वे अजीवदव्वे य ।
ण करेइ रायदोसे पंचिंदियसंवरो भणिओ ॥ २८ ॥

अमनोज्ञे च मनोज्ञे सजीवद्रव्ये अजीवद्रव्ये च ।
न करोति रागद्वेषौ पंचेन्द्रियसंवरो भणितः ॥

अमणुण्णे य अमनोज्ञे चासुन्दरे च । **मणुण्णे** मनोज्ञे मनोहरे । **सजीवदव्वे** इष्टवनितादौ । **अजीवदव्वे य** अजीवद्रव्ये चाचेतनद्रव्ये अशनवसनकनककादिके । **ण करेदि रायदोसे** न करोति रागद्वेषौ । मनोज्ञे रागं न करोति । अमनोज्ञे द्वेषं न करोति । **पंचिंदियसंवरो भणिओ** पंचेन्द्रियसंवरो भणितः प्रतिपादितः ।

अथ पंचवया इत्येतत्पदविवरणार्थमाह—

हिंसाविरइ अहिंसा असच्चविरई अदत्तविरई य ।
तुरियं अबंभविरई पंचम संगम्मि विरई य ॥ २९ ॥

हिंसाविरतिरहिंसा असत्यविरतिरदत्तविरतिश्च ।
तुरीयमब्रह्मविरतिः पंचमं संगे विरतिश्च ॥

हिंसाविरइ अहिंसा हिंसाविरतिरहिंसा प्राणातिपातविरतिर्भवति । **असच्चविरई** असत्यविरतिर्द्वितीयं महाव्रतं भवति । **अदत्तविरई य** अदत्तविरतिश्चादत्ताद्विरतिरदत्तविरतिस्तृतीयं महाव्रतं भवति । **तुरियं अबंभविरई** अब्रह्मविरतिर्मैथुनाद्विरमणं तुरियं-चतुर्थं महाव्रतं ज्ञातव्यं ।

"चतुरो यदीयौ च लोपश्चेति" सूत्रसाधुत्वात्। पंचम संगम्मि विरई य पंचमं महाव्रतं भवति। का संगे परिग्रहे विरतिश्च परिग्राहविरमणमित्यर्थः।

साहंति जं महल्ला आयरियं जं महल्लपुव्वेहिं ।
जं च महल्लाणि तदो महल्लया इत्तहे याइं ॥ ३० ॥

साधयन्ति यन्महान्त आचरित यद्महत्पूर्वैः ।
यच्च महान्ति तत महाव्रतानि एतस्माद्धेतोः तानि ।

साहंति जं महल्ला साधयन्ति यदस्मात्कारणात्प्रतिपालयन्ति। के ते, महल्ला—महान्तो गुरूणामपि गुरवः पुरुषाः। आइरियं जं महल्लपुव्वेहिं आचरितमादृतं वा यदस्मात्कारणात् महल्लपुव्वेहिं—महद्भिः गुरुभिः पूर्वैः चिरन्तनाचार्यैः वृषभादिभिर्महावीरपर्यन्तैः वृषभसेनगौतमान्तगणधरैश्च जम्बूस्वामिपर्यन्तैश्च। जं च महल्लाणि यच्च यस्मात्कारणात् महल्लाणि—स्वयं महान्ति गुरुतराणि। तदो महल्लया इत्तहे ततस्तस्मात्कारणात् इत्तहे—एतस्माद्धेतोः तानि महाव्रतानीत्युच्यन्ते।

वयगुत्ती मणगुत्ती इरियासमदी सुदाणणिक्खेवो ।
अवलोयभोयणाए हिंसाए भावणा होंति ॥ ३१ ॥

वचोगुप्तिः मनोगुप्तिः ईर्यासमितिः सुदाननिक्षेपः ।
अवलोक्यभोजनेन अहिंसाया भावना भवन्ति ॥

वयगुत्ती वचोगुप्तिरेका। मणगुत्ती मनोगुप्तिर्द्वितीया भावना। इरियासमिदी ईर्यासमितिस्तृतीया भावना। सुदाणणिक्खेवो आदाननिक्षेपः पुस्तककमण्डल्वादिकमुपकरणं पूर्वं निरीक्ष्य मृदुना मयूरपिच्छेन प्रतिलिख्य गृह्यते ध्रियते च सुदाननिक्षेप उच्यते। अवलोयभोयणाए अवलोक्य पुनः पुनः दृष्ट्वा भोजनं क्रियते ऽवलोक्य भोजनं तेनावलोक्यभोजनेन। प्राकृते लिङ्गभेदः नपुंसकस्य स्त्रीत्वं। एता अहिंसामहाव्रतस्य पचभावना भवन्तीति वेदितव्यं।

कोहभयहासलोहामोहा विवरीयभावणा चेव ।
विदियस्स भावणाए ए पंचेव य तहा होंति ॥ ३२ ॥

क्रोधभयहास्यलोभमोहा विपरीतभावना चैव ।
द्वितीयस्य भावना इमा पंचैव च तथा भवन्ति ॥

कोहभयहासलोहामोहा क्रोधश्च भयं च हासश्च लोभश्च मोहश्च क्रोधभयहासलोभमोहाः । **विवरीयभावणा चेव** विपरीतभावनाश्चैव । एतेषां पंचानां विपरीतभावना अक्रोधनं, अभयं, अहासं, अलोभं, अमोहश्चेति । उक्तं च गौतमेन भगवता—

[1]अकोहणो अलोहो य भयहस्सविवज्जिदो ।
अणुवीचीभासकुसलो विदियं वदमस्सिदो ॥ १ ॥

अत्रामोहशब्देनानुवीचीभाषाकुशल इति लभ्यते । वीची वाग्लहरी तामनुकृत्य या भाषा वर्तते साऽनुवीचीभाषा, जिनसूत्रानुसारिणी भाषा अनुवीचीभाषा पूर्वाचार्यसूत्रपरिपाटीमनुल्लङ्घ्य भाषणीयमित्यर्थः । उक्तं च उमास्वामिभट्टारकेण—

"क्रोधलोभभीरुत्वहास्यप्रत्याख्यानान्यनुवीचीभाषणं च पंच"

विदियस्स भावणाए द्वितीयस्य महाव्रतस्य भावनाः । **ए** इमाः पंचभावनाः । **होंति** भवन्ति ।

सुण्णायारनिवासो विमोचितावास जं परोधं च ।
एसणसुद्धिसउत्तं साहम्मीसविसंवादो ॥ ३३ ॥

शून्यागारनिवासो विमोचितावासः यत् परोधं च ।
एषणाशुद्धिसहितं सधर्मसमविसंवादः ॥

सुण्णायारनिवासो शून्यागारेषु गिरिगुहातरुकोटरादिषु निवासः क्रियते तथा सति अचौर्यव्रतभावना प्रथमा भवति । **विमोचितावास**

[1] अक्रोधनोऽलोभश्च भयहास्यविवर्जितः ।
अनुवीचीभाषाकुशलो द्वितीयं व्रतमाश्रितः ॥ १ ॥

उद्वसग्रामादिषु निर्मोचितावासेषु धाव्यादिभिरुद्वसेषु कृतेषु निवासः क्रियतेऽचौर्यव्रतस्य भावना द्वितीया भवति । **जं परोधं च** परेषामुपरोधो न क्रियते भाटकाद्यधिकं स्वामिना दत्वा स्वयं न निरुध्यतेऽचौर्यव्रतभावना तृतीया भवति परोपरोधस्याकरणमित्यर्थः । **एसणसुद्धिसउत्तं** एषणाशुद्धिसंयुक्तं सहितं, आगमानुसारेण भैक्ष्यशुद्धिरचौर्यव्रतभावना चतुर्थी भवति । **साहम्मीसंविसंवादो** सधर्माणं सम्मुखो भूत्वा सम्यक्प्रकारेण विसंवादो विगतसंवादो निवादो न क्रियतेऽचौर्यव्रतभावना पंचमी भवति ।

महिलालोयणपुव्वरइसरणसंसत्तवसहिविकहाहिं ।
पुट्ठियरसेहिं विरओ भावण पचावि तुरियम्मि ॥ ३४ ॥

महिलालोकनपूर्वरतिस्मरणसंसक्तवसतिविकथाभिः ।
पुष्टरसैः विरतः भावनाः पंचापि तुर्ये ॥

महिलालोयण महिलाया आलोकनं स्त्रीमनोहराङ्गनिरीक्षणं तस्माद्विरतः पराङ्मुखः । **पुव्वरइसरण** पूर्वरतस्मरणं पूर्वं या स्त्रीभिः क्रीडा कृता तस्याः स्मरणं चिन्तनं तस्माद्विरतः । **संसत्तवसहि** स्त्रीणां समीपतरे या वसतिर्निवासस्तस्माद्विरतः निजशरीरसंस्काररहित इत्यर्थः । **विकहाहिं** विकथाया विरतः स्त्रीरागकथाविवर्जित इत्यर्थः । **पुट्ठिरसेहिं विरओ** पु (पौ) ष्टिकरसस्य सेवारहितः वृष्यरसस्यानास्वादक इत्यर्थः यस्मिन् रसे सेविते वृषवत् शंडवत्कामी भवति स रसो वृष्य कथ्यते वाजीकरणरसं न सेवते । **भावण पचावि तुरियम्मि** एताः पंचापि भावनास्तुरीये चतुर्थे ब्रह्मचर्यव्रते भवन्ति ।

अपरिग्गह समणुण्णेसु सद्दपरिसरसरूवगंधेसु ।
रायद्दोसाईणं परिहारो भावणा होंति ॥ ३५ ॥

थपरिग्रहे समनोज्ञेषु शब्दस्पर्शरसरूपगन्धेषु ।
रागद्वेषादीनां परिहारो भावना भवन्ति ॥

अपरिग्गह समणुण्णेसु अपरिग्रहव्रते, अत्र लुप्तविभक्तिकं पदं। समणुण्णेसु—समनोज्ञेषु मनोज्ञसहितेषु अमनोज्ञेषु चेति शेषः। **सद्दपरिसरसरूवगंधेसु** शब्दस्पर्शरसरूपगन्धेषु पञ्चेन्द्रियविषयेषु। **रायद्दोसाईणं** रागद्वेषादीनां रागस्य द्वेषस्य च। आदिशब्दात्पादपूरणमेव। मनोज्ञेषु विषयेषु रागो न क्रियते ऽमनोज्ञेषु विषयेषु द्वेषो न क्रियते। इति रागद्वेषपरिहारः पञ्चप्रकारः पञ्चभावना भवन्तीति ज्ञातव्यं।

इरिया भासा एसण जा सा आदाण चेव णिक्खेवो ।
संजमसोहिणिमित्ते खंति जिणा पंच समिदीओ ॥३६॥

ईर्या भाषा एषणा या सा आदानं चैव निक्षेपः ।
संयमशोधिनिमित्तं ख्यान्ति जिनाः पञ्च समितीः ॥

ईर्यासमितिः चतुर्हस्तवीक्षितमार्गगमनं। भाषासमितिः आगमानुसारेण वचनं। एषणासमितिः चर्मणाऽस्पृष्टस्योद्गमोत्पादादिदोषरहितस्य भोजनस्य पुनः पुनः शोधितस्य प्रासुकस्य भाजनस्य ग्रहणं या समितिर्भवति सा तृतीया समितिः। **आदाण चेव** आदानं चैव यत्पुस्तककमण्डलुप्रभृतिकं गृह्यते तत्पूर्वं निरीक्ष्यते पश्चान्मृदुना मयूरपिच्छेन प्रतिलिख्यते पश्चाद्गृह्यते चतुर्थी समितिर्भवति। **णिक्खेवो** यत्किंचिद्वस्तु पुस्तककमण्डलुमुख्यं कांचिन्निक्षिप्यते मुच्यते ध्रियते तन्निक्षेपस्थानं दृष्ट्वा तथैव प्रतिलिख्य च ध्रियते मयूरपिच्छस्यासन्निधाने मृदुवस्त्रेण कदाचित्तथा क्रियते निक्षेपणा नाम्नी पञ्चमी समितिर्भवति। **संजमसोहिनिमित्ते** एतत्समितिपञ्चकं संयमस्य महाव्रतपञ्चकस्य शोधिनिमित्तं भवति। यो मयूरपिच्छवर्जितः साधुः स मासोपवासादिकं कुर्वन्नपि न शुद्ध्यतीति श्रीकुन्दकुन्दभगवदभिप्रायः। **खंति जिणा पंच समिदीओ** खति-

ख्यान्ति प्रकथयन्ति के, जिणा—तीर्थकरपरमदेवा सामान्यकेवलिन श्रुतकेवलिनश्चेति भाव । किं ख्यान्ति, पचसमिदीओ—पच समितीरिति तात्पर्यार्थ । विस्तरस्तु वट्टकेरलवीरनन्द्यादिविरचिताचारग्रन्थेषु ज्ञातव्य ।

भव्वजणबोहणत्थं जिणमग्गे जिणवरेहिं जह भणियं ।
णाणं णाणसरूवं अप्पाणं तं वियाणेह ॥ ३७ ॥

भव्यजनबोधनार्थं जिनमार्गे जिनवरैर्यथा भणितम् ।
ज्ञान ज्ञानस्वरूप आत्मान त विजानीहि ॥

भव्वजणबोहणत्थं सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्ररत्नत्रयप्राप्तियोग्या ये ते भव्यजनास्तेषा बोधनार्थं सम्बोधननिमित्तं। **जिणमग्गे** जिनस्य श्रीमद्भगवदर्हत्सर्वज्ञस्य मार्गे सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रलक्षणोपलक्षिते मोक्षमार्गे । **जिणवरेहिं जह भणियं** श्रीमद्भगवदर्हत्सर्वज्ञैर्यथा भणितं प्रतिपादित । किं तद्भणितं, **णाणं णाणसरूवं** ज्ञान व्यवहारनयेन सम्यग्ज्ञानं तथा ज्ञानस्य स्वरूप स्वभाव । उक्त च समन्तभद्रेण महाकविना ज्ञानस्य स्वरूपं—

अन्यूनमनतिरिक्तं याथातथ्य विना च विपरीतात् ।
नि सन्देह वेद यदाहुस्तज्ज्ञानमागमिनः ॥ १ ॥

ईदृग्विध ज्ञानं ज्ञानस्वरूप च निश्चयनयेन । **अप्पाणं तं वियाणेह** आत्मान तज्ज्ञान ज्ञानस्वरूप च हे भव्य ! त्व विजानीहि सम्यग्विचारयेति क्रियाकारकसम्बन्ध ।

जीवाजीवविहत्ती जो जाणइ सो हवेइ सण्णाणी ।
रायादिदोसरहिओ जिणसासणे मोक्खमग्गुत्ति ॥ ३८ ॥

जीवाजीवविभक्तिं यो जानाति स भवेत् सज्ज्ञान ।
रागादिदोषरहितो जिनशासने मोक्षमार्ग इति ॥

जीवाजीवविहत्ती जीवस्यात्मद्रव्यस्य, अजीवस्य पुद्गलधर्माधर्मकालाकाशलक्षणस्य पचभेदस्य विभक्तिं विभजनं विवेचनमिति देश्यात् ।

जो जाणइ सो हवेइ सण्णाणी यो जानाति स भवेत् सज्ज्ञान **रायादिदोसरहिओ** स ज्ञानी कथभूत, रागादिदोपरहित रागद्वेपमोहादिदोपरहित । **जिणसासणे मोक्खमग्गुत्ति** जिनशासने मोक्षमार्ग इति ।

दंसणणाणचरित्तं तिण्णि वि जाणेह परमसद्धाए ।
जं जाणिऊण जोई अइरेण लहंति णिव्वाणं ॥ ३९ ॥

दर्शनज्ञानचारित्रं त्रीण्यपि जानीहि परमश्रद्धया ।
यद्ज्ञात्वा योगिनो अचिरेण लभन्ते निर्वाणम् ॥

दंसणणाणचरित्तं दर्शनज्ञानचारित्र । **तिण्णि वि जाणेह परम सद्धाए** त्रीण्यपि जानीहि परमश्रद्धया प्रकृष्टरुच्या । **जं जाणिऊण जोई** यद्दर्शनज्ञानचारित्र ज्ञात्वा योगिन । **अइरेण लहंति णिव्वाणं** अचिरेण स्तोककालेन लभन्ते प्राप्नुवन्ति किं तन्निर्वाणं सर्वकर्मक्षयलक्षणं मोक्षमिति ।

पाऊण णाणसलिलं णिम्मलसुविसुद्धभावसंजुत्ता ।
हुंति सिवालयवासी तिहुवणचूडामणी सिद्धा ॥ ४० ॥

प्राप्य ज्ञानसलिलं निर्मलसुविशुद्धभावसंयुक्ता ।
भवन्ति शिवालयवासिन त्रिभुवनचूडामणय सिद्धा ॥

पाऊण णाणसलिलं प्राप्य ज्ञानसलिलं लब्ध्वा सम्यग्ज्ञानपानीय । **णिम्मलसुविसुद्धभावसंजुत्ता** निर्मलो निरतिचार, सुविशुद्धो रागद्वेप मोहादिरहित, भावो निजात्मपरिणामस्तेन सयुक्ता सहिता पुरुपा । **हुंति सिवालयवासी** भवन्ति शिवालयवासिन सर्वकर्मक्षयलक्षणनिर्वाणपदनिवासिनो भवन्ति । **तिहुवणचूडामणी सिद्धा** त्रिभुवनचूडामणयस्त्रैलोक्यशिरोरत्नानि ते पुरुपा सिद्धा भवन्ति—आत्मोपलब्धिवन्तो भवन्ति ।

णाणगुणेहि विहीणा ण लहंते ते सुइच्छियं लाहं ।
इय णाउं गुणदोसं तं सण्णाणं वियाणेहि ॥ ४१ ॥

ज्ञानगुणैर्विहीना न लभन्ते ते स्विष्टं लाभम् ।
इति ज्ञात्वा गुणदोषौ तत् सद्ज्ञानं विजानीहि ॥

णाणगुणेहि विहीणा ज्ञानमेव गुणो जीवस्योपकारक पदार्थस्तेन विहीना रहिता । **ण लहंते ते सुइच्छियं लाहं** न लभन्ते न प्राप्नुवन्ति (ते) सुष्ठु इष्ट लाभ मोक्ष । उक्त च—

णाणविहीणहं मोक्खपउ जीव म कासु वि जोइ ।
बहुयइ सलिलविरोलियइं करु चोप्पडउ न होइ ॥ १ ॥

इय णाउं गुणदोसं इति पूर्वोक्तप्रकारेण गुण दोष च ज्ञात्वा ज्ञानस्य गुण, अज्ञानस्य दोष निज्ञाय । **तं सण्णाणं वियाणेहि** तत्तस्मात्कारणात्, सत्समीचीन, ज्ञान विजानीहीति तात्पर्यार्थ ।

चारित्तसमारूढो अप्पासु परं ण ईहए णाणी ।
पावइ अइरेण सुहं अणोवमं जाण णिच्छयदो ॥ ४२ ॥

चारित्रसमारूढ आत्मन पर न ईहते ज्ञानी ।
प्राप्नोति अचिरेण सुख अनुपम जानीहि निश्चयत ॥

चारित्तसमारूढो चारित्रसमारूढश्चारित्रं प्रतिपालयन् पुमान् । **अप्पासु परं ण ईहए णाणी** आत्मन सकाशात्पर इष्ट स्वग्वनितादिक न ईहते न वाञ्छति कोऽसौ, ज्ञानी ज्ञानवान् पुमान् । उक्त च—

स (श) मसुखशीलितमनसामशनमपि द्वेषमेति किमु कामाः ।
स्थलमपि दहति झषाणां किमङ्ग ! पुनरङ्गमङ्गाराः ॥ १ ॥

पावइ अइरेण सुहं प्राप्नोत्यचिरेण स्तोककालेन सुखमनन्तसौख्य । **अणोवमं जाण णिच्छयदो** कथभूत सुख, अनुपममुपमारहित जानीहि हे भव्य ! त्व णिच्छयदो—निश्चयत नि सन्देहान्निश्चयनयाद्वा ।

एवं संखेवेण य भणियं णाणेण वीयराएण ।
सम्मत्तसंजमासयदुण्हं पि उदेसियं चरणं ॥ ४३ ॥

एवं संक्षेपेण च भणितं ज्ञानेन वीतरागेण ।
सम्यक्त्वसंयमाश्रयद्वयोरपि उद्देशितं चरणम् ॥

एवं संखेवेण य एवममुना प्रकारेण संक्षेपेण च। **भणियं णाणेण वीयराएण** भणितं प्रतिपादितं णाणेण—ज्ञानेन ज्ञानरूपेण ज्ञानस्वभावेन केवलज्ञानिना सर्वज्ञेन वीतरागेण रागद्वेषमोहादिभिरष्टादशदोषरहितेन। किं भणितं, **सम्मत्तसंजमासयदुण्हं पि** सम्यक्त्वसंयमाश्रययोर्द्वयोरपि दर्शनाचारचारित्राचारयोर्द्वयोरपि। **उद्देसियं चरणं** उद्देशितमुद्देशमात्रं संक्षेपेण चारित्रं प्रतिपादितं। विस्तरेण तु वट्टकेरलादौ ज्ञातव्यं।

भावेह भावसुद्धं फुडु रइयं चरणपाहुडं चेव।
लहु चउगइ चइऊण अचिरेणऽपुणब्भवा होइ॥ ४४॥

भावयत भावशुद्धं स्फुटं रचितं चरणप्राभृतं चैव।
लघु चतुर्गतीः त्यक्त्वा अचिरेणाऽपुनर्भवा भवत॥

भावेह भावसुद्धं भावयत भावनाविषयी कुरुत यूयं हे भव्याः!। **फुडु रइयं चरणपाहुडं चेव** स्फुटं प्रकटार्थं रचितं चरणप्राभृतं चारित्रसारं। चेवशब्दाद्दर्शनाचरणं चोद्देशितं। **लहु चउगइ चइऊणं** लघु शीघ्रं चतुर्गतीस्त्यक्त्वा नरकतिर्यङ्मनुष्यदेवगतालक्षणाः परिहाय। **अचिरेणऽपुणब्भवा होइ** अचिरेण स्तोककालेन—इतस्तृतीये भवेऽपुनर्भवाः सिद्धाः भवत यूयं। सिद्धिगतिं पंचमीं गतिं प्राप्नुत यूयमिति भद्रम्।

इति श्रीपद्मनन्दिकुन्दकुन्दाचार्यवक्रग्रीवाचार्यैलाचार्यगृद्धपिच्छाचार्यनामपंचकविराजितेन सीमन्धरस्वामिज्ञानसम्बोधितभव्यजीवेन श्रीजिनचन्द्रसूरिभट्टारकपट्टाभरणभूतेन कलिकालसर्वज्ञेन विरचिते षट्प्राभृते ग्रन्थे सर्वमुनिमण्डलीमण्डितेन कलिकालगौतमस्वामिना—श्रीमल्लिभूषणेन भट्टारकेणानुमतेन सकलविद्वज्जनसमाजसम्मानितेनोभयभाषाकविचक्रवर्तिना श्रीविद्यानन्दिगुरुवेवासिना सूरिवरश्रीश्रुतसागरेण विरचिता चरणप्राभृतटीका समाप्ता।

सूत्रप्राभृतं ।



अरहंतभासियत्थं गणहरदेवेहिं गंथियं सम्मं ।
सुत्तत्थमग्गणत्थं सवणा साहंति परमत्थं ॥ १ ॥

अर्हद्भाषितार्थं गणधरदेवैर्ग्रथितं सम्यक् ।
सूत्रार्थमार्गणार्थं श्रमणा साधयन्ति परमार्थम् ॥

अरहंतभासियत्थं अर्हद्भिस्तीर्थकरपरमदेवैर्भाषितोऽर्थं सूत्र भवति। **गणहरदेवेहि गंथियं सम्मं** गणधरदेवैश्चतुर्भिर्ज्ञानैः सम्पूर्णैरष्टमहासिद्धिसहितैस्तीर्थंकरयुवराजै गथिय—पदै रचित, सम्म—सम्यक् पूर्वापरविरोधरहित शास्त्र सूत्र भवति । **सुत्तत्थमग्गणत्थं** सूत्रार्थमार्गणं सूत्रार्थविचार सोऽर्थ प्रयोजन यस्मिन् सूत्रे तत्सूत्रार्थमार्गणार्थं । तेन शुक्लध्यानद्वयं भवति । तेन **सवणा साहंति परमत्थं** सूत्रार्थेन श्रवणा सद्दृष्टयो दिगम्बरा परमार्थं मोक्ष साधयन्ति—आत्मवशे कुर्वन्ति तेन कारणेन सूत्र मोक्षहेतुरिति भावार्थ ।

सुत्तम्मि जं सुदिट्ठं आइरियपरंपरेण मग्गेण ।
णाऊण दुविहसुत्तं वट्टइ सिवमग्ग जो भव्वो ॥ २ ॥

सूत्रे यत् सुदृष्ट आचार्यपरम्परेण मार्गेण ।
ज्ञात्वा द्विविधसूत्र वर्तते शिवमार्गे यो भव्य ॥

सुत्तम्मि जं सुदिट्ठं सूत्रे यत् सुष्ठु अतिशयेनाराधिततया ■ दृष्टं प्रतिपादित । **आइरियपरंपरेण मग्गेण** आचार्याणां परपरा श्रेणियत्र मार्गे ■ आचार्यपरम्पर आचार्यप्रवाहयुक्तो मार्गस्तेन मार्गेण । कोऽसौ मार्ग इति चेदुच्यते—श्रीमहावीरादनन्तरं श्रीगौतम सुधर्मो

---

१ मग्गि ग घ । मग्गे. क ।

जम्बूश्चेति त्रय केवलिन । विष्णु नन्दिमित्र अपराजित गोवर्धन भद्रबाहुश्चेति पंच श्रुतकेवलिन । तदनन्तरं, विशाख प्रौष्ठिल क्षत्रिय जयस नागसेन सिद्धार्थ धृतिषेण विजय बुद्धिल गगदेव धर्मसेन इत्येकादश दशपूर्विण । नक्षत्र जयपाल पाण्डु ध्रुवसेन कसाश्चेति पंचैकादशाङ्गधरा । सुभद्र यशोभद्र भद्रबाहु लोहाचार्य एते चत्वार एकाङ्गधारिण । जिनसेनश्च । अर्हद्बलि माघनन्दी धरसेन पुष्पदन्त भूत बलि जिनचन्द्र कुन्दकुन्दाचार्य उमास्वामी समन्तभद्रस्वामी शिवकोटि शिवायन पूज्यपाद एलाचार्य वीरसेन जिनसेन नेमिचंद्र रामसेनश्चेति प्रथमाङ्गपूर्वभागज्ञा । अकलंक अनन्तविद्यानन्दी माणिक्यनन्दी प्रभाचन्द्र रामचन्द्र एते सुलाकिका । वासवचन्द्र गुणभद्र एतौ नानौ अन्ते वीराङ्गजश्च । णाऊण दुविहसुत्तं ज्ञात्वा द्विविधं सूत्रं अर्थत शब्दतश्च द्विविधं सूत्र । वट्टइ सिवमग्गे जो भव्वो वर्तते शिवमार्गे मोक्षमार्गे यो मुनि स भव्यो रत्नत्रययोग्यो भवति मोक्षं प्राप्नोतीति भाव ।

सुत्तं हि जाणमाणो भवस्स भवणासणं च सो कुणदि ।
सूई जहा असुत्ता णासदि सुत्ते सहा णो वि ॥ ३ ॥

सूत्र हि जानान भवस्य भवनाशन च स करोति ।
सूची यथा असूत्रा नश्यति सूत्रेण सह नापि ॥

सुत्त हि जाणमाणो भवस्स सूत्र शास्त्रानुक्रमं हि निश्चयेन जानानो जानन् यस्य सूत्र, भवस्स–भवस्य सर्वज्ञवीतरागस्य । भवणासणं च सो कुणदि भवस्य ससारस्य नाशनं विनाशं स पुमान् करोति विदधाति तीर्थकरो भूत्वाऽऽत्मान प्रकटयति मुक्तो भवतीत्यर्थ । अमुमेवार्थ दृष्टान्तेन दृढयति सूई जहा असुत्ता णासदि सूची लोहसूचिका वस्त्रदरकसहिता असूत्रा दवरकरहिता नश्यति न लभ्यते । सुत्ते

सहा णो वि सूत्रेण सह वर्तमाना सूत्रेण दोरेण सहिता णो विनापि नश्यति हस्ते चटति ।

पुरिसो वि जो ससुत्तो ण विणासइ सो गओ वि संसारे ।
सच्चेयणपच्चक्खं णासदि तं सो अदिस्समाणो वि ॥ ४ ॥

पुरुषोपि य ससूत्र न विनश्यति स गतोपि संसारे ।
स्वचेतनाप्रत्यक्षेण नाशयति त सोऽदृश्यमानोपि ॥

पुरिसो वि जो ससुत्तो पुरुषोऽपि जीवोऽपि य ससूत्रो जिनसूत्रसहित । **ण विणासइ सो गओ वि संसारे** न विनश्यति स पुमान् गतोऽपि नष्टोऽपि संसार पतितोऽपि पुनरुज्जीवति मुक्तो भवति । **सच्चेयणपच्चक्खं** आत्मानुभवप्रत्यक्षेण । **णासदि तं सो अदिस्समाणो वि** णासदि--नश्यति, अन्तर्निर्णीतो प्रयोग , तेनायमर्थ नाशयति त संसारं स आसन्नभव्यजीव । कथभूत , अदिस्समाणो वि--अदृश्यमानोऽपि चतुर्विधसघमध्येऽप्रकटोऽप्यप्रसिद्धोऽपि ।

सुत्तत्थं जिणभणियं जीवाजीवादिबहुविहं अत्थं ।
हेयाहेयं च तहा जो जाणइ सो हु सद्दिट्ठी ॥ ५ ॥

सूत्रार्थं जिनभणित जीवाजीवादिबहुविधमर्थम् ।
हेयाहेय च तथा यो जानाति स हि सदृष्टिः ॥

सुत्तत्थं जिणभणियं सूत्रस्यार्थ जिनेन भणितं प्रतिपादित । **जीवाजीवादिबहुविहं अत्थं** जीवाजीवादिक बहुविधमर्थं कर्मतापन्न वस्तु । **हेयाहेयं च तहा** हेय पुद्गलादिक पञ्चप्रकार, अहेयमादेय निजात्मानं, तथा तेनैव षड्वस्तुप्रकारेण । **जो जाणइ सो हु सद्दिट्ठी** य पुमान् जानाति वेत्ति स पुमान् हु--स्फुटं सद्दृष्टि सम्यग्दृष्टिर्भवति ।

जं सुत्तं जिणउत्तं ववहारो तह य जाण परमत्थो ।
तं जाणिऊण जोई लहइ सुहं खवइ मलपुंजं ॥ ६ ॥

यत् सूत्रं जिनोक्तं व्यवहारं तथा च जानीहि परमार्थम् ।
तत् ज्ञात्वा योगी लभते सुखं क्षिपते मलपुञ्जम् ॥

जं सुत्तं जिणउत्तं यत्सूत्रं जिनोक्तं। **ववहारो तह य जाणपरमत्थो** तत्सूत्रं व्यवहारं जानीहि तथा परमार्थं निश्चयरूपं च जानीहि हे भव्य ! त्वं वेत्थ। **तं जाणिऊण जोई** तत्सूत्रं व्यवहारनिश्चयरूपं ज्ञात्वा योगी ध्यानी पुमान्। **लहइ सुहं खवइ मलपुंजं** लभते सुखं निजात्मोत्थं परमानन्दलक्षणं क्षिपते निर्मूलकाषं कषते मलस्य पापस्य पुंजं राशिं त्रिषष्टिप्रकृतिसमूहं । घातिसंघातघातनं कृत्वा केवलज्ञानमुत्पादयतीति भावः । यथा वंशावष्टम्भं कृत्वाऽभ्यासवशेन रज्जूपरि चलति पश्चादत्यभ्यासवशेन वंशं त्यक्त्वा निराधारतया रज्जूपरि गच्छति तथा व्यवहारावष्टम्भेन निश्चयनयमलम्बते । तदनन्तरं व्यवहारमपि त्यक्त्वा निश्चयमेवावलंबते इति भावः ।

सुत्तत्थपयविणट्ठो मिच्छादिट्ठी हु सो मुणेयव्वो ।
खेडे वि ण कायव्वं पाणिप्पत्तं सचेलस्स ॥ ७ ॥

सूत्रार्थपदविनष्टो मिथ्यादृष्टिः हि सः ज्ञातव्यः ।
खेलेऽपि न कर्तव्यं पाणिपात्रं सचेलस्य ॥

सुत्तत्थपयविणट्ठो सूत्रार्थपदविनष्टः पुमान् । **मिच्छादिट्ठी हु सो मुणेयव्वो** मिथ्यादृष्टिरिति हु स्फुटं स पुमान् मुनितव्यो ज्ञातव्यः। **खेडे वि** खेलेऽपि क्रीडायामपि न कर्तव्यं पाणिपात्रेण भोजनं न विधातव्यं । कस्य, सचेलस्य गृहस्थस्य।

हरिहरतुल्लो वि णरो सग्गं गच्छेइ एइ भवकोडी ।
तह वि ण पावइ सिद्धिं संसारत्थो पुणो भणिदो ॥ ८ ॥

हरिहरतुल्योपि नरः स्वर्गं गच्छति एति भवकोटीः ।
तथापि न प्राप्नोति सिद्धिं संसारस्थः पुनः भणितः ॥

हरिहरतुल्लो वि णरो हरिश्च नारायणो हरश्च रुद्रस्ताभ्यां तुल्यः समानः ऋद्धिमानित्यर्थः । नरः प्राणी मनुष्यः । **सग्गं गच्छेइ एइ भवकोडी** दानपूजोपवासादिकं कृत्वा स्वर्गं देवलोकं गच्छति पश्चाद्भवान्तराणां कोटीरसंख्यानि भवान्तराणि अनन्तानि याः भवान्तराणि प्राप्नोति दुःखीभवति संसारी स्यात् । **तह वि ण पावइ सिद्धिं** तथापि भवकोटीपर्यटनप्रकारेणापि न प्राप्नोति सिद्धिं मोक्षं न लभते। किं तर्हि भवतीत्याह—**संसारत्थो पुणो भणिदो** संसारस्थः संसारी पुनर्भणितः सिद्धान्ते प्रतिपादितः । जिनसूत्राभावान्मिथ्यादृष्टिः सन् संसारदुःखं सहते सुखी न भवतीति भावः ।

उक्किट्ठसीहचरियं बहुपरियम्मो य गरुयभारो य ।
जो विहरइ सच्छंदं पावं गच्छेदि होदि मिच्छत्तं ॥ ९ ॥

उत्कृष्टसिंहचरितः बहुपरिकर्मा च गुरुभारश्च।
यो विहरति स्वच्छन्दं पापं गच्छति भवति मिथ्यात्वम् ॥

उक्किट्ठसीहचरियं उत्कृष्टं सर्वयतिभ्योऽधिकं सिंहवन्निर्भयत्वेन चरितं चारित्रं यस्य स पुमानुत्कृष्टसिंहचरितः । प्राकृतत्वादत्र नपुंसकत्वं। अथवा विहरतीति क्रियाविशेषणत्वाद्द्वितीयैकवचनं नपुंसकत्वं च । **बहुपरिकम्मो य गरुयभारो य** बहुपरिकर्मा चानेकतपोविधानमण्डितशरीरसंस्कारश्च मुनिर्गुरुतरभारश्च रागादिभयनिवारकः शिष्याणां पठनपाठनसमर्थो यात्राप्रतिष्ठाद्याक्षादानायुर्वेदज्योतिष्कशास्त्रनिर्णयकारकः षडावश्यककर्मकर्मठो धर्मोपदेशनसमर्थः सर्वेषां यतीनां च नैश्चिन्त्यकारको गुरुभार उच्यते, ईदृग्विधोऽपि गच्छनायको यतिः । **जो विहरइ सच्छंदं** यो यतिः स्वच्छन्दं विहरति—जिनसूत्रं न प्रमाणयति । **पावं गच्छेदि होइ मिच्छत्तं** स मुनिः पापं गच्छति प्राप्नोति—मिथ्यात्वं तस्य भवतीति तात्पर्यार्थः ।

णिच्चेलपाणिपत्तं उवइट्ठं परमजिणवरिंदेहि ।
एक्को वि मोक्खमग्गो सेसा य अमग्गया सव्वे ॥ १० ॥

निश्चेलपाणिपात्रं उपदिष्टं परमजिनवरेन्द्रैः ।
एकोपि मोक्षमार्गः शेषाश्च अमार्गाः सर्वे ॥

णिच्चेलपाणिपत्तं निश्चेलस्य मुनेः पाणिपात्रं करयोः पुटे भोजनं मुक्तं । **उवइट्ठं परमजिणवरिंदेहि** उपदिष्टं परमजिनवरेन्द्रैस्तीर्थंकरपरमदेवैः । **एक्को हि मोक्खमग्गो** एक एव मोक्षमार्गो निर्ग्रन्थलक्षण । **सेसा य अमग्गया सव्वे** शेषा मृगचर्मवल्कलकर्पासपट्टकूलरोमवस्त्रतट्टगोणीतृणप्रावरणादि, सर्वे रक्तवस्त्रादि पीताम्बरादयश्च निश्चेलाः, अमार्गा संसारपर्यटनहेतुत्वान्मोक्षमार्गा न भवन्तीति भव्यजनैर्ज्ञातव्य ।

जो संजमेसु सहिओ आरंभपरिग्गहेसु विरओ वि ।
सो होइ वंदणीओ ससुरासुरमाणुसे लोए ॥ ११ ॥

यः संयमेषु सहितः आरम्भपरिग्रहेषु विरतः अपि ।
स भवति वन्दनीयः ससुरासुरमानुषे लोके ॥

जो संजमेसु सहिओ यो मुनिर्न तु गृहस्थः संयमेषु सहितः इंद्रियप्राणसंयमवान् भवति । **आरंभपरिग्गहेसु विरओ वि** आरम्भाः सेनाकृषिवाणिज्यप्रमुखाः, परिग्रहाः क्षेत्रवास्त्वादयस्तेषु निरतो निरक्तो भवति । अपिशब्दः समुच्चये वर्तते । तेन ब्रह्मचर्यादयो गृह्यन्ते तस्माद्ब्रह्मचर्यधरो यतिरिति वचनात् । **सो होइ वंदणीओ** स मुनिर्वन्दनीयो भवति । स वन्दनीयो भवति, **ससुरासुरमाणुसे लोए** लोके त्रिभुवने वन्दनीयो भवति । कथंभूते लोके, ससुरासुरमानुषे देवदानवमानवसहिते ।

जे बावीसपरीसह सहंति सत्तीसएहिं संजुत्ता ।
ते होंति वंदणीया कम्मक्खयणिज्जरासाहू ॥ १२ ॥

ये द्वाविंशतिपरीषहान् सहन्ते शक्तिशतैः संयुक्ताः ।
ते भवन्ति वन्दनीयाः कर्मक्षयनिर्जरासाधवः ॥

जे बावीसपरीसह सहंति ये द्वाविंशतिपरीषहान् सहन्ते । **सत्ती-सएहिं संजुत्ता** शक्तीनां शतैः संयुक्ताः । **ते होंति वंदणीया** ते भवन्ति वन्दनीया नमोऽस्तु शब्दयोग्याः । **कम्मक्खयनिज्जरासाहू** कर्मक्षयनिर्जरासाधवः ये कर्मक्षये निर्जरायां च साधवः कुशला भवन्ति योग्या भवन्तीति भावः ।

अवसेसा जे लिंगी दंसणणाणेण सम्मसंजुत्ता ।
चेलेण य परिगहिया ते भणिया इच्छणिज्जाय ॥१३॥

अवशेषा ये लिङ्गिनः दर्शनज्ञानेन सम्यक्त्वसंयुक्ताः ।
चेलेन च परिगृहीताः ते भणिता इच्छाकारयोग्याः ॥

अवसेसा जे लिंगी अवशेषा ये लिङ्गिनः क्षुल्लकादयः । **दंसण-णाणेण सम्मसंजुत्ता** दर्शनज्ञानेन सम्यक्त्वसंयुक्ताः । **चेलेण य परि-गहिया** वस्त्रैकधराः सकोपीनाश्च वस्त्रमपि सीवितं न भवति किं तर्हि खण्डवस्त्रं धरन्ति ते वस्त्रपरिगृहीताः । **ते भणिया इच्छणिज्जाय** ते भणिताः इच्छाकारयोग्या नमस्कारयोग्याः ।

इच्छायारमहत्थं सुत्तठिओ जो हु छंडए कम्मं ।
ठाणे ठियसम्मत्तं परलोयसुहंकरो होइ ॥ १४ ॥

इच्छाकारमहार्थं सूत्रस्थितः यः स्फुटं त्यजति कर्म ।
स्थाने स्थितसम्यक्त्वः परलोकसुखकरो भवति ॥

इच्छायारमहत्थं इच्छाशब्देन नम उच्यते कारशब्दस्तु अर्थः स्थ क्रियते तत् नमस्कार इति भवति । क्षुल्लकानां वन्दना । **सुत्तठिओ जो हु छंडए कम्मं** सुत्तठिओ—सूत्रस्थितः समयं जानन् यः पुमान् कर्म त्यजति गृहस्थकर्म न करोति वैयावृत्यं विना स्वयं रन्धनादिकं न

करोति । **ठाणे ह्वियसम्मत्तं** एकादशस्वपि स्थानेषु सम्यक्त्वपूर्वको भवति । **परलोयसुहंकरो होइ** स्वर्गसौख्य साधयति षोडशसु स्वर्गेष्वन्यतमस्वर्गे उत्पद्यते ततश्च्युत्वा निर्ग्रन्थो भूत्वा मोक्ष गच्छति ।

अह पुण अप्पा णिच्छदि धम्माइं करेदि निरवसेसाइं ।
तह वि ण पावदि सिद्धिं संसारत्थो पुणो भणिदो ॥ १५॥

अथ पुन आत्मान नेच्छति धर्मान् करोति निरवशेषान् ।
तथापि न प्राप्नोति सिद्धिं ससारस्थ पुन भणित ॥

अह पुण अप्पा णिच्छदि अथ अथवा पुनरात्मान नेच्छति आत्म भावना न करोति । **धम्माइं करेइ निरवसेसाइं** धर्मान् करोति निरवशेषान् दानपूजातप शालादिकानि निरवशेषाणि समस्तानि पुण्यानि करोति । **तह वि ण पावदि सिद्धिं** तथापि पुण्यकर्मप्रकारेणापि सिद्धिं मुक्तिं न प्राप्नोति । **ससारत्थो पुणो भणिदो** ससारस्थ पुनर्भणित संसारी भवतीति सिद्धान्ते प्रतिपादित । उक्त च देवसेनेन भगवता—

अइकुणउ तव पालेउ संजम पढउ सयलसत्थाइं[1] ।
जाम ण झावइ अप्पा ताम ण मोक्ख जिणो भणई ॥ १ ॥

एएण कारणेण य तं अप्पा सद्दहेह तिविहेण ।
जेण य लहेह मोक्खं त जाणिज्जह पयत्तेण ॥ १६ ॥

एतेन कारणेन च त आत्मान श्रद्धत्त त्रिविधेन ।
येन च लभेध्व मोक्ष त जानीत प्रयत्नेन ॥

एएण कारणेण य एतेन प्रत्यक्षीभूतेन कारणेन हेतुना । चकार उक्तसमुच्चयार्थ, बहिस्तत्वभूतपचपरमेष्ठिकारणसूचनार्थ इत्यर्थ । **तं अप्पा सद्दहेह तिविहेण** तमात्मान शुद्धबुद्धैकस्वभाव-

---

१ अतिकरोतु तप पालयतु सयम पठतु सकलशास्त्राणि ।
यावन्न ध्यायति आत्मान तावन्न मोक्ष जिनो भणति ॥ १ ॥

मात्मतत्वं श्रद्धत्त यूयं रोचत यूयं, त्रिविधेन मनोवचनकायप्रकारेण। **जेण य लहेह मोक्खं** येन चात्मतत्वेन लभेध्वं मोक्षं सर्वकर्मक्षयलक्षणं परमनिर्वाणं प्राप्नुत यूयं। अत्रापि चकार उक्तसमुच्चयार्थः तेन स्वर्गसौख्यं यथासंभवं सर्वार्थसिद्धिपर्यन्तं पूर्वं लब्ध्वा पश्चान्मोक्षं लभेध्वं। **तं जाणिज्जह पयत्तेण** तमात्मानं न केवलं श्रद्धत्त अपि तु जानीत विदांकुरुत चेति कथ, प्रयत्नेन सावधानतया सर्वतात्पर्येणेत्यर्थः।

वालग्गकोडिमत्तं परिगहगहणं ण होइ साहूणं।
भुंजेइ पाणिपत्ते दिण्णण्णं इक्कठाणम्मि॥ १७॥

वालाग्रकोटिमात्रं परिग्रहग्रहणं न भवति साधूनाम्।
भुंजीत पाणिपात्रे दत्तमन्येन एकस्थाने॥

वालग्गकोडिमत्तं वालस्य रोम्णोऽग्रकोटिमात्रं अग्रांशमात्रं अतीवाल्पमपि। **परिगहगहणं ण होइ साहूणं** परिग्रहस्य ग्रहणं स्वीकारो न भवति साधूनां निरम्बरयतीनां। **भुंजेइ पाणिपत्ते** भुञ्जीत भोजनं कुर्वीत कुर्यात्पाणिपात्रे निजकरपुटे। **दिण्णण्णं इक्कठाणम्मि** श्रावकेण दत्तं न त्वव्रतिना दत्तं भुञ्जीत, प्रासुकभोजनं किल सर्वत्र गृह्यते इति जैनाभासा ब्रुवन्ति तदनेन विशेषव्याख्यानेन प्रत्युक्तं भवतीति भावितव्यं। इक्कठाणम्मि--उद्भो भूत्वा एकवारं भुञ्जीतेति, यो बहुवारं भुंक्ते स वन्दनीयो न भवतीति भावार्थः।

जहजायरूवसरिसो तिलतुसमेत्तं न गिहदि हत्थेसु।
जइ लेइ अप्पवहुयं तत्तो पुण जाइ णिग्गोदं॥ १८॥

यथाजातरूपसदृशः तिलतुषमात्रं न गृह्णाति हस्तयोः।
यदि लाति अल्पबहुकं ततः पुनः याति निगोदम्॥

जहजायरूवसरिसो यथाजातरूपः सर्वज्ञनीतरागस्तस्य रूपसदृशो नग्नशरीरः। **तिलतुसमेत्तं ण गिहदि हत्थेसु** तिल-

स्य पितृप्रियकणस्य तुषस्तवन्मात्र न गृह्णाति हस्तयोरित्युत्सर्गव्याख्यानं प्रमाणमेव किंतु—

क्वचित्कालानुसारेण सूरिर्द्रव्यमुपाहरेत् ।
गच्छपुस्तकवृद्ध्यर्थमयाचितमथाल्पकं

इतीन्द्रनन्दिभगवत्प्रोक्तं त्वपवादव्याख्यानं । तत्रापि स्वहस्तेन न स्पृश्यं किन्तु श्रावकादिहस्तेन स्थापनीयं । जइ लेइ अप्पबहुयं यदि लाति गृह्णात्यल्प बहुकं वा निजोदरपोषणबुद्धया च । तत्तो पुण जाइ णिग्गोदं ततः पुनर्याति निगोदं प्रशंसनीयगतिं न गच्छतीत्यर्थः ।

जस्स परिग्गहगहणं अप्पं बहुयं च हवइ लिंगस्स ।
सो गरहिउ जिणवयणे परिग्गहरहिओ निरायारो ॥ १९ ॥

यस्य परिग्रहग्रहणं अल्पं बहुकं च भवति लिंगस्य ।
स गर्हणीयः जिनवचने परिग्रहरहितो निरागारः ॥

जस्स परिग्गहगहणं यस्य मुनेः श्वेताम्बरादेः परिग्रहग्रहणं शासने भवति । अप्पं बहुयं च हवइ लिंगस्स अल्पं अर्द्धफालिकादिकं बहुयं च—चतुर्दशोपकरणादिकं भवति लिंगस्य कपटकर्पटसितपटादेर्वेषे । सो गरहिउ जिणवयणे तल्लिंगं स वेषो निन्दितोऽप्रशंसनीयो भवति, क, जिणवयणे—श्रीवर्धमानगौतमादिप्रतिपादितसिद्धान्तशास्त्रे । तथा चोक्तं समन्तभद्रेण गुरुणा—

त्वमसि सुरासुरमहितो ग्रन्थिकसत्वाशयप्रणामामहितः ।
लोकत्रयपरमहितोऽनावरणज्योतिरुज्वलद्धामहितः ॥ १ ॥

अत्र ग्रन्थिकसत्वाः सितपटाः प्रभाचन्द्रेण क्रियाकलापटीकायां व्याख्याता, सितपटाभासास्तु लोकायतिका अतीव निन्द्या अशौचव्यवहारोच्छिष्टान्नभोजित्वात् । परिग्गहरहिओ निरायारो परिग्रहरहितो हि मुनिर्निरागारोऽनगारो यतिर्भवति यस्मात्कारणादिति शेषः.

पचमहव्वयजुत्तो तिहि गुत्तिहि जो स सनदो होइ ।
णिग्गंथमोक्खमग्गो सो होदि हु वंदणिज्जो य ॥ २० ॥

पचमहाव्रतयुक्त तिसृभि गुप्तिभि य स संयत भवति ।
निर्ग्रन्थमोक्षमार्ग स भवति हि वन्दनीय च ॥

पंचमहव्वयजुत्तो पचमहाव्रतैर्युक्त प्राणातिपातानृतादत्तमुरतपरिग्रहरहित पुमान् पंचमहाव्रतयुक्त उच्यते । यस्तु स्तोकमपि परिग्रहीत करोति सोऽणुव्रत सागारोऽव्रतो वा कथ्यते । तेन वस्त्रादौ परिग्रहे सति तत्र यूकालिक्षादयस्त्रीन्द्रिया जीवा उत्पद्यन्ते, यदि ततोऽपनीयान्यत्र क्षिप्यन्ते ततो म्रियन्ते कथ प्राणातिपातकरहितो निरागारो भवति, अलमतिविस्तरेण परिग्रहवान् महाव्रती न भवति । तिहि गुत्तिहि जो स सजदो होदि तिसृभिर्गुप्तिभिर्युक्तो यो मुनि स संयत सयमवान् भवति । णिग्गंथमोक्खमग्गो निर्ग्रन्थमोक्षमार्गो मन्यते । सो होदि हु वंदणिज्जो स भवति हु—स्फुट वन्दनीय । य सग्रन्थमोक्षमार्ग मन्यते स मिथ्यादृष्टिर्जैनाभासश्चावंदनीयो भवतीति भावार्थ ।

दुइयं च वुत्त लिङ्गं उक्किट्ठं अवरसावयाणं च ।
भिक्खं भमेइ पत्तो समिदीभासेण मोणेण ॥ २१ ॥

द्वितीय चोक्त लिङ्ग उत्कृष्ट अवरश्रावकाणा च ।
भिक्षा भ्रमति पात्र समितिभाषेण मौनेन ॥

दुइयं च वुत्त लिंगं द्वितीयं चोक्तं लिंगं वेष । उक्किट्ठं अवरसावयाण च उत्कृष्टं लिंगं अवरश्रावकाणां अगृहस्थश्रावकाणां । सोऽवश्रावक भिक्खं भमेइ पत्तो भिक्षां भ्रमति पात्रसहित करभोजी वा । समिदिभासेण मोणेण ईर्यासमितिसहित मौनसहित, उत्कृष्टश्रावको दशमैकादशप्रतिमा प्राप्त । उक्तं च समन्तभद्रेण महाकविना—

१ पुस्तकद्वयेऽपि ईदृगेव पाठ । अस्य स्थाने सामदेवनति गुच्छ मानि ।

आद्यास्तु षड्जघन्याः स्युर्मध्यमास्तदनु त्रयः ।
शेषौ द्वावुत्तमावुक्तौ जैनेषु जिनशासने ॥ १ ॥
एकादशके स्थाने ह्युत्कृष्टः श्रावको भवेद्द्विविधः ।
वस्त्रैकधरः प्रथमः कौपीनपरिग्रहोऽन्यस्तु ॥ २ ॥
कौपीनोऽसौ रात्रिप्रतिमायोगं करोति नियमेन ।
लोचं पिच्छं धृत्वा भुङ्क्ते ह्युपविश्य पाणिपुटे ॥ ३ ॥
वीरचर्या च सूर्यप्रतिमात्रैकाल्ययोगनियमश्च ।
सिद्धान्तरहस्यादिष्वध्ययनं नास्ति देशविरतानां ॥ ४ ॥

लिंगं इच्छीण हवदि भुंजइ पिंडं सुएयकालम्मि ।
अज्जिय वि एक्कवत्था वत्थावरणेण भुंजेइ ॥ २२ ॥

लिङ्गं स्त्रीणां भवति भुङ्क्ते पिण्डं स्वेककाले ।
आर्यापि एकवस्त्रा वस्त्रावरणेन भुङ्क्ते ॥

लिंगं इत्थीण हवदि तृतीयं लिङ्गं वेषः स्त्रीणां भवति । **भुंजइ पिंडं सुएयकालम्मि** भुङ्क्ते पिण्डमाहारं सुष्ठु निश्चलतया एककाले दिवसमध्ये एकवारं । **अज्जिय वि एक्कवत्था** आर्यापि एकवस्त्रा भवति । अपिशब्दात् क्षुल्लिकापि सव्यानवस्त्रेण सहिता भवति । **वत्थावरणेण भुंजेइ** भोजनकाले एकशाटकं धृत्वा भुङ्क्ते सव्यानं उपरितनवस्त्रमुत्तार्य भोजनं कुर्यादित्यर्थः ।

ण वि सिज्झइ वत्थधरो जिणसासणे जइ वि होइ तित्थयरो ।
णग्गो विमोक्खमग्गो सेसा उम्मग्गया सव्वे ॥२३॥

नापि सिध्यति वस्त्रधरो जिनशासने यद्यपि भवति तीर्थंकरः ।
नग्नो विमोक्षमार्गः शेषा उन्मार्गकाः सर्वे ॥

ण वि सिज्झइ वत्थधरो नापि सिद्ध्यति नैव सिद्धिमात्मोपलब्धिलक्षणां मुक्तिं लभते वस्त्रधरो मुनिः । **जिणसासणे जइ वि होइ तित्थयरो** जिनशासने श्रीवर्धमानस्वामिनो मते यद्यपि भवति तीर्थ-

कर तीर्थंकरपरमदेवोऽपि यदि भवति । गर्भावतारादिपंचकल्याणवानपि सिद्धो न भवति, आस्तां तावदन्योऽनगारकेवल्यादिक । **णग्गो विमोक्खमग्गो** नग्नो वस्त्राभरणरहितो विमोक्षमार्गो ज्ञातव्य । **सेसा उम्मग्गया सव्वे** शेषा सितपटादीना मार्गा सर्वेऽपि उन्मार्गका कुत्सिता मिथ्यारूपा मार्गा ज्ञेया जानीया विद्वद्भिरित्यर्थ ।

लिंगम्मि य इत्थीणं थणंतरे णाहिकक्खदेसेसु ।
भणिओ सुहमो काओ तासं कह होइ पव्वज्जा ॥२४॥

लिङ्गे च स्त्रीणां स्तनान्तरे नाभिकक्षादेशेषु ।
भणित सूक्ष्म काय तासां कथ भवति प्रव्रज्या ॥

लिंगम्मि य इत्थीणं लिंगे योनिमध्ये स्त्रीणां योषितां । **थणंतरे णाहिकक्खदेसेसु** स्तनान्तरे द्वयो स्तनयोर्मध्ये वक्ष प्रदेशे, नाभिकक्षादेशेषु, नाभौ तुन्दिकायां, कक्षादेशयोर्बाह्वो मूल्योर्द्वयो स्थानयो । **भणिओ सुहमो काओ** भणित आगमे प्रतिपादित कोऽसौ भणित सूक्ष्म काय सूक्ष्मजीवशरीरं लोचनावगोचर सूक्ष्मपंचेंद्रियपर्यन्तो जीववर्ग । **तासिं कह होइ पव्वज्जा** तासां स्त्रीणां कथं भवति प्रव्रज्या दीक्षा–अपि तु न भवति । यदि प्रव्रज्या न भवति तर्हि कथं पंचमहाव्रतानि दीयन्ते ? सत्यमेतत् सज्जातिज्ञापनार्थं महाव्रतानि उपचर्यन्ते स्थापनान्यास क्रियते इत्यर्थ । तथा चोक्तं शुभचन्द्रेण महाकविना–

मैथुनाचरणे मूढ ! म्रियन्ते जन्तुकोटय ।
योनिरन्ध्रसमुत्पन्ना लिंगसंघट्टपीडिता ॥ १ ॥

कियन्तो जन्तवो म्रियन्त इति चेत् घाते घातेऽसंख्येया कोटय इति । "घाए घाए असंखेज्जा" इति वचनात् ।

जइ दंसणेण सुद्धा उत्ता मग्गेण सा वि संजुत्ता।
घोर चरिय चरित्तं इत्थीसु ण पावया भणिया ॥ २५ ॥

यदि दर्शनेन शुद्धा उक्ता मार्गेण सापि संयुक्ता।
घोरं चरित्वा चरित्रं स्त्रीषु न प्रव्रज्या भणिता ॥

जइ दंसणेण सुद्धा यदि दर्शनेन सम्यक्त्वरत्नेन शुद्धा निर्मला भवति। **उत्ता मग्गेण सा वि संजुत्ता** तदा मार्गेण सम्यग्दर्शनज्ञान-चारित्रलक्षणेन सापि स्त्री च संयुक्ता भवति-पञ्चमगुणस्थानं प्राप्नोति, स्त्री-लिंगं छित्वा स्वर्गाग्रे देवो भवति, ततश्च्युत्वा मनुष्यभवमुत्तमं प्राप्य मोक्षं लभते। उक्तं च—

सम्यग्दर्शनसम्पन्नमपि मातङ्गदेहजं।
देवा देवं विदुर्भस्मगूढाङ्गारान्तरौजसं ॥ १ ॥

स्वर्गेऽपि गता पुनः स्त्रीलिंगं न लभते। तदप्युक्तं समन्तभद्रेण महा कविना—

सम्यग्दर्शनशुद्धा नारकतिर्यङ्नपुंसकस्त्रीत्वानि।
दुष्कुलविकृताल्पायुर्दरिद्रतां च व्रजन्ति नाप्यव्रतिकाः ॥१॥

•**घोर चरिय चरित्तं** घोरं कातरजनभीतिजनकं चरित्रं चरित्वा षोडशसु स्वर्गेष्वन्यतमं स्वर्गं यान्ति अहमिन्द्रत्वमपि स्त्रीभवे न लभन्ते कथं मोक्षं स्त्रीभवे प्राप्नुवन्ति। तेन कारणेन **इत्थीसु ण पावया भणिया** स्त्रीषु न प्रव्रज्या निर्वाणयोग्या दीक्षा भणिता। इत्यनया गाथया सित-पटानां मतं स्त्रीमुक्तिप्राप्तिलक्षणं प्रयुक्तं भवति। मरुदेवी-ब्राह्मी सुन्दरी-यशस्वती-सुनन्दा सुलोचना सीता-राजि मति चन्दना अनन्तमति-द्रौपदी-त्यादिकाः स्त्रियः स्वर्गं गता न तु मोक्षमिति।

चित्तासोहि ण तेसिं ढिल्लं भावं तहा सहावेण।
विज्जदि मासा तेसिं इत्थीसु णऽसंकया झाणं ॥२६॥

चित्ताशोधि न तेषां शिथिलो भावः तथा स्वभावेन।
विद्यन्ते मासा तासां स्त्रीषु न शङ्कया ध्यानम् ॥

चित्तासोहि ण तेसिं चित्तस्य मनसः आ समन्ताच्छोधिर्निर्मलता न विद्यते तासां स्त्रीणां । **ढिल्लं भावं तहा सहावेण** शिथिलो भावः परिणामस्तथा स्वभावेन प्रकृत्यैव, कस्मिंश्चिद्व्रतादावतिदार्ढ्यं न वर्तते । **विज्जदि मासा तेसिं** विद्यन्ते मासा—मासे मासे रुधिरस्रावस्तासां स्त्रीणां । **इत्थीसु णऽसंकया झाणं** स्त्रीषु न वर्तते किं तत्, अशंकया निर्भयतया ध्यानमेकाग्रचिन्तानिरोधलक्षणमिति भावः । "लुक्च" इति प्राकृतव्याकरणसूत्रेणाकारलोपः ।

गाहेण अप्पगाहा समुद्दसलिले सचेलअत्थेण ।
इच्छा जाहु णियत्ता ताह णियत्ताइं सव्वदुःखाइं ॥२७॥

ग्राहेण अल्पग्राहाः समुद्रसलिले स्वचेलार्थेन ।
इच्छा येभ्यो निवृत्ता तेषां निवृत्तानि सर्वदुःखानि ॥

गाहेण अप्पगाहा ग्राहेण आहारादिना ये मुनयोऽल्पग्राहाः स्तोकं गृह्णन्ति । **समुद्दसलिले सचेलअत्थेण** यथा समुद्रसलिले प्रचुरजलाशये सत्यपि स्वचेलप्रक्षालनार्थमल्पमेव जलं गृह्यते किं क्रियतेऽधिकजलग्रहणेन । **इच्छा जाहु णियत्ता** इच्छा तृष्णा लोभलक्षणा येभ्यो मुनिभ्यो निवृत्ता गता । **ताह णियत्ताइं सव्वदुःखाइं** तेषां निवृत्तानि नष्टानि सर्वदुःखानि शारीरमानसागन्तूनि कष्टानि नष्टान्येव समीपतरसिद्धिसुखसंभवादिति भावः ।

इति श्रीपद्मनन्दिकुन्दकुन्दाचार्यवक्रग्रीवाचार्यैलाचार्यगृद्धपिच्छाचार्यनामपंचकविराजितेन श्रीसीमन्धरस्वामिज्ञानसंबोधितभव्यजनेन श्रीजिनचन्द्रसूरिभट्टारकपट्टाभरणभूतेन कलिकालसर्वज्ञेन विरचिते षट्प्राभृतग्रन्थे सर्वमुनिमण्डलमण्डितेन कलिकालगौतमस्वामिना श्रीमल्लिभूषणेन भट्टारकानुमतेन सकलविद्वज्जनसमाजसम्मानितेनोभयभाषाकविचक्रवर्तिना श्रीविद्यानन्दिगुर्वन्तेवासिना सूरिवरश्रीश्रुतसागरेण विरचिता सूत्रप्राभृतटीका समाप्ता ।

बोधप्राभृतं ।



बहुसत्थअत्थजाणे संजमसम्मत्तसुद्धतवयरणे ।
वंदित्ता आयरिए कसायमलवज्जिदे सुद्धे ॥ १ ॥
सयलजणबोहणत्थं जिणमग्गे जिणवरेहिं जह भणियं ।
वुच्छामि समासेण य छक्कायहियंकर सुणसु ॥ २ ॥

बहुशास्त्रार्थज्ञायकान् संयमसम्यक्त्वशुद्धतपश्चरणान् ।
वन्दित्वाऽऽचार्यान् कषायमलवर्जितान् शुद्धान् ॥
सकलजनबोधनार्थं जिनमार्गे जिनवरैर्यथा भणितम् ।
वक्ष्यामि समासेन च षट्कायहितकरं शृणु ॥

वुच्छामि वक्ष्यामि कथयिष्यामि । क कर्ता अहं श्रीकुन्दकुन्दाचार्य । किं तत्कर्मतापन्नं, छक्कायहियंकरं षट्कायहितकरं पृथ्व्यप्तेजोवायुवनस्पतित्रसकायहितकारकं शास्त्रं बोधप्राभृताभिधानं शास्त्रं । केन कृत्वा वक्ष्यामि, समासेण संक्षेपेण । सुणसु शृणु त्वं हे भव्य ! "विध्यादिष्व त्रयाणामेकत्र दुसुमुध" इत्यनेन प्राकृतव्याकरणसूत्रेण हि-स्थाने सुरादेश बहुवचने तु पञ्चम्या सुणह इत्येवं भवति मध्यमस्य । कथंभूतं बोधप्राभृतं, जिणमग्गे जिणवरेहिं जह भणियं जिनमार्गे जिनशास्त्रे जिनवरै केवलिभिर्यथा येन प्रकारेणाऽऽयतनादिभिर्भणित प्रतिपादित । किमर्थं जिनैर्भणित, सयलजणबोहणत्थं सर्वभव्यजीवसम्बोधननिमित्तं । किं कृत्वा पूर्वं वुच्छामि, वंदित्ता आयरिए वंदित्वाऽऽचार्यान् तृतीयपरमेष्ठिपदस्थान् गुरून् । कथंभूतानाचार्यान्, बहुसत्थअत्थजाणे अनेकशास्त्रार्थज्ञायकान् । पुन कथंभूतानाचार्यान्, संजमसम्मत्तसुद्धतवयरणे संयमश्च चारित्रं, सम्यक्त्वं च सम्यग्दर्शनं

शुद्ध निरतिचार, तपश्चरणं च द्वादशविध तपो येषा ते सयमसम्यक्त्व-शुद्धतपश्चरणास्तान् सयमसम्यक्त्वशुद्धतपश्चरणान् । भूयोऽपि कथ भूतानाचार्यान्, **कसायमलवज्जिदे** क्रोधमानमायालोभलक्षणचतुष्क-षायमलवर्जितान् कषायोत्पन्नपापरहितानित्यर्थ । अपरं कथंभूताना-चार्यान्, **सुद्धे** शुद्धान् षट्त्रिंशद्गुणप्रतिपालनेन निर्मलान् निष्पापान् । के ते षट्त्रिंशद्गुणा इत्याह—

आचारवान् श्रुताधारः प्रायश्चित्तासनादिदः (?)।
आयापायकथी दोषाभाषकोऽश्रावकोऽपि च ॥ १ ॥
सन्तोषकारी साधूना निर्यापक इमेऽष्ट च।
दिगम्बरोऽप्यनुद्दिष्टभोजी शय्याशनीति च ॥ २ ॥
आरोगभुक् क्रियायुक्तो व्रतवान् ज्येष्ठसद्गुणः ।
प्रतिक्रमी च षण्मासयोगी च तद्द्विनिषद्यक ॥ ३ ॥
द्वि-षट्तपास्तथा षट् चावश्यकानि गुणा गुरोः ।

आयदणं चेदिहर जिणपडिमा दंसणं च जिणबिंबं ।
भणियं सुवीयरायं जिणमुद्दा णाणमादत्थं ॥ ३ ॥
अरहंतेण सुदिट्ठं जं देवं तित्थमिह य अरहंतं ।
पावज्ज गुणविसुद्धा इय णायव्वा जहाकमसो ॥ ४ ॥

आयतन चैत्यगृह जिनप्रतिमा दर्शन च जिनबिम्बम् ।
भणित सुवीतराग जिनमुद्रा ज्ञानमात्मस्थम् ॥
अर्हता सुदृष्ट यो देव तीर्थमिह च अर्हन् ।
प्रव्रज्या गुणविशुद्धा इति ज्ञातव्या यथाक्रमश ॥

आयदणं आयतन ज्ञातव्य । **चेदिहरं** चैत्यगृह द्वितीय ज्ञातव्यं । **जिणपडिमा** जिनप्रतिमा तृतीयोऽधिकारो बोधप्राभृते ज्ञातव्य । **दंसणं** च दर्शन च चतुर्थोऽधिकारो बोधकरो मन्तव्य । **जिणबिंबं** जिन-

१ न इति ख पुस्तके ।

बिम्बं पंचमोऽधिकारो बोधजनको विज्ञेयः। कथंभूतं जिनबिम्बं, **भणियं सुवीयरायं** भणितमागमे प्रतिपादितं सुष्ठु अतिशयेन वीतरागं न तु लक्ष्मीनारायणवद्रागसहितं। **जिणमुद्दा** जिनमुद्रा बोधकरी षष्ठोऽधिकारो वेदितव्यः। **णाणमादत्थं** ज्ञानमात्मस्थं सप्तमो नियोगो बोधप्राभृतस्य बोद्धव्यः। **अरहंतेण सुदिट्ठं जं देवं** अर्हता सर्वज्ञवीतरागेण सुदृष्टमबाधं प्रतिपादितं जं देवं यो देवः, प्राकृते लिंगभेदत्वादत्र देवशब्दस्य नपुंसकत्वं सोऽयं देवाधिकारो बोधजनकोऽष्टमोऽवगन्तव्यः। **तित्थमिह य** तीर्थमिह च नवमोऽधिकारस्तीर्थमिह बोधप्राभृतेऽवेतव्यः। **अरहंतं** अर्हत्स्वरूपनिरूपकोऽधिकारो दशमः प्रत्येतव्यः। **पावज्ज गुणविसुद्धा** प्रव्रज्या एकादशोऽधिकारो बोधप्राभृतस्य स्मर्तव्यः। कथंभूता प्रव्रज्या, गुणविशुद्धा गुणैरुज्ज्वला। **इय णायव्वा जहाकमसो** इति ज्ञातव्या यथाक्रमशः। एते एकादशाधिकारा बोधप्राभृतस्य चिन्तनीयाः।

गाथाद्वयेन द्वारं बोधप्राभृतस्य कृतं। इदानीं तद्विवरणं कुर्वन्ति श्रीमन्तो गृद्धपिच्छाचार्यास्तत्रायतनं निरूपयन्ति—

मणवयणकायदव्वा आसत्ता जस्स इंदिया विसया।
आयदणं जिणमग्गे णिदिट्ठं संजयं रूवं ॥ ५ ॥

मनोवचनकायद्रव्याणि आसक्ता यस्य ऐन्द्रिया विषयाः।
आयतनं जिनमार्गे निर्दिष्टं संयतं रूपम् ॥

मणवयणकायदव्वा मनोवचनकायद्रव्याणि हृदयमध्येऽष्टदलकमलाकारं मानसद्रव्यं यस्य मनो भवति। उरःप्रभृत्यष्टस्थानाश्रितं यस्य वचनं वचनशक्तिकं वाग्द्रव्यं भवति। अष्टावङ्गानि अनेकोपाङ्गानि यस्य मुनेः कायद्रव्यं भवति। **आसत्ता जस्स इंदिया विसया।** आसक्ताः सम्बन्धमायाता यस्य मुनेः ऐन्द्रिया विषयाः, इन्द्रियेषु स्पर्श-

नरसनघ्राणचक्षुः श्रोत्रलक्षणेषु हृषीकेषु मनः एन्द्रियाः ते च ते विषयाः स्पर्शरसगन्धरूपशब्दलक्षणाः यथासंभव शक्तिरूपा व्यक्तिरूपाश्च भवन्ति। आयदणं जिणमग्गे आयतनं जिनमार्गे। णिदिट्ठं संजयं रूवं निर्दिष्टमागमे प्रतिपादितं सायतं रूपं संयमिनः सचेतनं शरीरं।

मय राय दोस मोहो कोहो लोहो य जस्स आयत्ता।
पंचमहव्वयधारा आयदणं महरिसी भणियं ॥ ६ ॥

मदो रागो द्वेषो मोहः क्रोधो लोभश्च यस्य आयत्ताः।
पञ्चमहाव्रतधरा आयतनं महर्षयो भणिताः॥

मय राय दोस मोहो मदोऽष्टविधः। उक्तं च समन्तभद्रेण महाकविना–

ज्ञानं पूजां कुलं जातिं बलमृद्धिं तपो वपुः।
अष्टावाश्रित्य मानित्वं स्मयमाहुर्गतस्मयाः॥ १ ॥

रागः प्रीतिलक्षणः। दोषो द्वेषोऽप्रीतिस्वभावः। मोहः कलत्रपुत्रमित्रादिस्नेहः। **कोहो लोहो य जस्स आयत्ता** क्रोधो रोषस्वभावः, लोभो मूर्च्छा परिग्रहग्रहणस्वभावः। चकारात्परवञ्चनप्रकृतिर्माया। एते पदार्था यस्य महर्षेः त्रिविधमुनिसमूहस्याऽऽयत्ता निग्रहपरिग्रहनायकाः भवन्ति। **पंचमहव्वयधारा** पञ्चमहाव्रतधराः अहिंसासत्याचौर्यब्रह्मचर्याकिंचन्यानि रात्रिभोजनवर्जनषष्ठानि प्रतिपालयन्तः। **आयदणं महरिसी भणियं** आयतनं महर्षयो भणिताः। एतेऽभिगमनयोग्या भवन्ति दर्शनस्पर्शनवन्दनार्हाश्च भवन्ति। अन्ये विलिंगिनो जटिनः पाशुपता एकदण्डत्रिदण्डधरा मिथ्यादृष्टिमुण्डिनः शिखिनः पञ्चचूला भस्मोद्धूलना नग्नाण्डकाः चरकनामानो दिगम्बरसञ्ज्ञकाः हंसपरमहंसाभिधाना यज्ञयाज्ञिका दीक्षिता अध्वर्यवः उद्गातारो होतारः आथर्वणा व्यासाः स्मार्ता जैना–

भासाश्च नाभिगम्या न दर्शनीया नाभिवादनीयाश्च भवन्ति। अथ के ते जैनाभासा पूर्वमप्युक्ता —

गोपुच्छिकः श्वेतवासो द्राविडो यापनीयकः।
निष्पिच्छश्चेति पञ्चैते जैनाभासाः प्रकीर्तिताः ॥ १ ॥

एते मयूरपिच्छधरा अपि न वन्दनीया संशयमिथ्यादृष्टित्वात्। तथा च बौद्धमत आयतनलक्षण—

पञ्चेन्द्रियाणि शब्दाद्या विषया षष्ठ मानसं।
धर्मायतनमेतानि द्वादशायतनानि च ॥ १ ॥

धर्मायतन शरीरमिति।

सिद्धं जस्स सदत्थं विसुद्धझाणस्स णाणजुत्तस्स।
सिद्धायदणं सिद्धं मुणिवरवसहस्स मुणिदत्थं ॥ ७ ॥

सिद्ध यस्य सदर्थ विशुद्धध्यानस्य ज्ञानयुक्तस्य।
सिद्धायतन सिद्ध मुनिवरवृषभस्य ज्ञातार्था ॥

सिद्धं जस्स सदत्थं सिद्ध लब्धिमायातं यस्य मुनिवरवृषभस्य। किं सिद्ध,सदर्थं निजात्मस्वरूप। कथमूतस्य, **विसुद्धझाणस्स णाणजुत्तस्स** विशुद्धध्यानस्य आर्तरौद्रध्यानद्वयरहितस्य धर्म्यशुक्लध्यानद्वयसहितस्य गणधरकेवलिनो मुण्डकेवलिनस्तीर्थंकरपरमदेवकेवलिनो वा। कथंभूतस्यैतत्त्रयस्य, ज्ञानयुक्तस्य सकलविमलकेवलज्ञानयुक्तस्य। **सिद्धायदणं सिद्धं** सिद्धायतन सिद्ध सिद्धायतन प्रतिपादितं। कस्य, **मुणिवरवसहस्स** मुनिवरवृषभस्य मुनिवराणा मध्ये वृषभस्य श्रेष्ठस्य। कथभूतमायतन, **मुणिदत्थं** मुनिता यथावद्विज्ञाता अर्था षड्द्रव्याणि पंचास्तिकाया सप्ततत्त्वानि नवपदार्था। जीवपुद्गलधर्माधर्मकालाकाशा इति षड्द्रव्याणि। कालरहितानि षड्द्रव्याणि पचास्तिकाया भवन्ति।

म्पर्येण स्वर्गमोक्षं लभते । यज्जलं चैत्यगृहस्य कार्यमायाति तद्वत्तदपि शुभभाग्भवति । यत्तेजोऽग्नि चैत्यगृहनिमित्तं प्रज्वाल्यते तदपि तद्वच्छुभं लभते । यो वायुश्चैत्यगृहनिमित्तं वर्हि सधुक्षणार्थं विराध्यते धूपाङ्गारहविःपाकार्थं चोत्क्षेपनिक्षेपणं प्राप्यते सोऽपि तद्वच्छुभं प्राप्नोति । यो वनस्पतिः पुष्पादिकश्चैत्यगृहपूजार्थं लूयते सोऽपि काययोगेन पुण्यमुपार्जयति तस्यापि शुभं भवति । उक्तं च—

फुल्लं पुकारइ याडियहिं कहिया जिणहं चडेसि ।
धम्मी को वि न आवियउ कप्पिय धरणि पडेसि ॥ १ ॥

अन्यच्च—

केणय वाडी वाइया केणय वीणिय फुल्ल ।
केणय जिणह चडाविया प निष्णि वि समतुल्ल ॥ २ ॥

चेइयहर—चैत्यगृहाधिकारः समाप्त इत्यर्थः । २ ।

सपराजंगमदेहा दंसणणाणेण सुद्धचरणाणं ।
णिग्गंथवीयराया जिणमग्गे एरिसा पडिमा ॥ १० ॥

स्वपराजङ्गमदेहा दर्शनज्ञानेन शुद्धचरणानाम् ।
निर्ग्रन्थवीतरागा जिनमार्गे ईदृशी प्रतिमा ॥

सपराजंगमदेहा स्वकीया अर्हच्छासनसम्बन्धिनी । परा परकीयशासनसम्बन्धिनी प्रतिमा भवति । स्वकीयशासनस्य या प्रतिमा सा उपादेया ज्ञातव्या । या परकीया प्रतिमा सा हेया न वन्दनीया ।

---

१ तात्पर्यमत्रान्उन्यमिति न्यायेन तत्रस्था जीवा ज्ञातव्याः पञ्चस्वपि कायेषु शुभोपार्जकाः पृथिव्यादीनां केवलानां जड वास्तवसमवात् ।

२ फुल्लं पुकारयति माली कथं जिनस्य चडसि । [?]
धर्मी कोऽपि नाऽऽयात कम्पायस्व धरणो पातयसि ॥ १ ॥

३ केन च वाटिका उपिता केन च चित नि पुष्पाणि ।
केन च जिनस्य चाढापितानि एन त्रयाऽपि समतुल्याः ॥ २ ॥

अथवा सपरा—स्वकीयशासनेऽपि या प्रतिमा परा उत्कृष्टा भवति सा वन्दनीया न तु अनुत्कृष्टा। का उत्कृष्टा का वाऽनुत्कृष्टा इति चेदुच्यन्ते या पचजैनाभासैरञ्चलिकारहितापि नग्नमूर्तिरपि प्रतिष्ठिता भवति सा न वन्दनीया न चार्चनीया च। या तु जैनाभासरहितै साक्षादार्हतसंघै प्रतिष्ठिता चक्षु स्तनादिषु विकाररहिता नन्दिसघ-सेनसघ-देवसघ-सिंहसघे समुपन्यस्ता सा वन्दनीया। तथा चोक्त इन्द्रनन्दिना भट्टारकेण—

चतुःसंघसंहितायां जैनं बिम्बं प्रतिष्ठितं।
नमेन्नापरसंघाया यतो न्यासविपर्ययः॥ १॥
चतुःसंघ्या नरो यस्तु विदध्याद्देवमायना।
स सम्यग्दर्शनातीतः संसारे ससरत्यरं॥ २॥

न्यासविपर्ययस्तु गुरुवचनादेवावगन्तव्यः। तथा चोक्त श्रीवीरनन्दिशिष्यैः श्रीपद्मनन्दिभिराचार्यै —

बिम्बादलोन्नतियवोन्नतिमेव भक्त्या
ये कारयन्ति जिनसद्म जिनाकृतिं च।
पुण्यं तदीयमिह वागपि नैव शक्ता
वक्तुं परस्य किमु कारयितु द्वयस्य॥ १॥

ये तु प्रतिमाया वस्त्राभरणादि कुर्वन्ति प्रतिष्ठावेलाया दधिसक्तुमुखे बध्नन्ति तन्मतनिरासार्थं श्रीगौतमेन महामुनिना पृथ्वीवृत्तमुक्तं—

निराभरणभासुरं विगतरागवेगोदया-
न्निरम्बरमनोहरं प्रकृतिरूपनिर्दोषतः।
निरायुधसुनिर्भयं विगतहिंस्यहिंसाक्रमा
न्निरामिषसुतृप्तिमद्विविधवेदनानां क्षयात्॥ १॥
इक्कहिं फुल्लहिं माटिदेइ जु सुरनरिंद्हडी।
यहीं वरह कुसाटिघनु मोक्खिम जिणवरतणी॥ १॥

पक्कहिं फुल्लहिं फुल्लसउ
वाए फुल्ल सहासु ।
जिम्व जिम्व जिणवर पुज्जियइ
तिम्व तिम्व दुरियइ नासु ॥ २ ॥

तथा चोक्तं समन्तभद्रस्वामिना मुनिवरेण आर्याद्वयं—

देवाधिदेवचरणे परिचरणं सर्वदुःखनिर्हरणम् ।
कामदुहि कामदाहिनि परिचिनुयादादृतो नित्यम् ॥ १ ॥
अर्हच्चरणसपर्या महानुभावं महात्मनामवदत् ।
भेकः प्रमोदमत्तः कुसुमेनैकेन राजगृहे ॥ २ ॥

अजंगमदेहा—सुवर्णमरकतमणिघटिता, स्फटिकमणिघटिता, इन्द्रनीलमणिनिर्मिता, पद्मरागमणिरचिता, विद्रुमकल्पिता, चन्दनकाष्ठानुष्ठिता वा अजंगमा प्रतिमा कथ्यते । ईदृशी प्रतिमा केषां भवति, **दंसणणाणेण सुद्धचरणाणं** दर्शनेन ज्ञानेन निर्मलचारित्राणां तीर्थंकरपरमदेवानां । कथंभूता प्रतिमा, **णिग्गंथवीयराया** निर्ग्रन्था वस्त्राभरणजटामुकुटायुधरहिता, वीतरागा रागरहितभावेऽरतारिता । **जिणमग्गे एरिसा पडिमा** जिनमार्गे सर्वज्ञवीतरागमते ईदृशी प्रतिमा भवति ।

जं चरदि सुद्धचरणं जाणइ पिच्छेइ सुद्धसम्मत्तं ।
सा होइ वंदणीया णिग्गंथा संजदा पडिमा ॥ ११ ॥

यः चरति शुद्धचरणं जानाति पश्यति शुद्धसम्यक्त्वम् ।
सा भवति वन्दनीया निर्ग्रन्था संयता प्रतिमा ॥

जं चरदि सुद्धचरणं यो मुनिश्चरति प्रतिपालयति । किं, शुद्धचरणं निरतिचारचारित्रं । **जाणइ पिच्छेइ सुद्धसम्मत्तं** जिनसूत्रं जानाति स्वयोग्यं वस्तु पश्यति च । शुद्धं पञ्चविंशतिदोषरहितं यस्य सूरेः सम्यक्त्वं भवति । **सा होइ वंदणीया** सा भवति वन्दनीया नमस्करणीया । **णिग्गंथा संजदा पडिमा** निर्ग्रन्था चतुर्विंशतिपरिग्रहरहिता

संयतानां मुनीनां दिगम्बराणां प्रतिमा आकारः, जंगमा प्रतिमा मुनयो भवन्तीत्यर्थः।

दंसणअणंतणाणं अणंतवीरिय अणंतसुक्खा य।
सासयसुक्ख अदेहा मुक्का कम्मट्ठबंधेहिं ॥ १२ ॥

दर्शनानन्तज्ञानं अनन्तवीर्या अनन्तसुखा च।
शाश्वतसुखा अदेहा मुक्ताः कर्माष्टबन्धैः ॥

दंसणअणंतणाणं दर्शनमनन्तं केवलदर्शनं सत्तावलोकनमात्रलक्षणं। काकाक्षिगोलकन्यायेनानन्तशब्द उभयत्राभिसम्बध्यते तेनानन्तज्ञानं वस्तुयथावत्स्वरूपग्राहकं केवलज्ञानं लोकालोकव्यापकं द्वयं। तद्योगाद्दर्शनानन्तज्ञानं अनन्तदर्शनमनन्तज्ञानं च सिद्धा भवन्ति। उक्तं चाशाधरेण महाकविना—

सत्तालोचनमात्रमित्यपि निराकारं मतं दर्शनं
साकारं च विशेषगोचरमिति ज्ञानं प्रवादीच्छया।
ते नेत्रे क्रमवर्तिनी सरजसां प्रादेशिके सर्वतः
स्फूर्जन्ती युगपत्पुनर्विरजसां युष्माकमङ्गातिगाः ॥१॥

तथा च नेमिचन्द्रसिद्धान्तचक्रवर्तिना चोक्तं—

दंसणपुव्वं णाणं छदुमत्थाणं ण दोण्णि उवओगा।
जुगवं जम्हा केवलिणाहे जुगवं तु ते दो वि ॥ १ ॥

अणंतवीरिय अणंतसुक्खा य अनन्तवीर्याश्च सिद्धा भवन्ति लोकालोकस्वरूपावलोकने ज्ञातृत्वं च या शक्तिस्तदनन्तवीर्यं ज्ञातव्यं। अनन्तसौख्याश्च सिद्धा भवन्ति सर्ववस्तुस्वरूपपरिज्ञाने सति तेषां सुखमुत्पद्यते। तथा चोक्तं नेमिचन्द्रेण त्रिलोकसारग्रन्थे वैमानिकाधिकारपर्यन्ते—

एय सत्थ सव्व सत्थ वा सम्ममेत्थ जाणता ।
ति य तुस्सति णरा किं ण समत्थत्थतच्चण्हा ॥ १ ॥
चक्कि कुरुफणिसुरेंदसहमिंदे अ सुह तिकालभव ।
तत्तो अणतगुणिद सिद्धाण खणसुह होदि ॥ २ ॥

सासयसुक्ख अदेहा शाश्वतसुखा अविनश्वरसुखा, अदेहा देहरहिता ज्ञानमयमूर्तय इत्यर्थ । **मुक्का कम्मट्ठबंधेहिं** मुक्ता कर्माष्टबन्धनै ।

णिरुवममचलमखोहा णिम्मिवियाजगमेण रूवेण ।
सिद्धट्ठाणम्मि ठिया वोसरपडिमा धुवा सिद्धा ॥ १२ ॥

निरुपमा अचला अक्षोभा निर्मापिता अजङ्गमेन रूपेण ।
सिद्धस्थाने स्थिता व्युत्सर्गप्रतिमा ध्रुवा सिद्धा ॥

णिरुवममचलमखोहा निरुपमा उपमारहिता । ईदृश पुमान् *कोऽपि नास्ति येन सिद्धा उपमीयन्ते । अचला* स्वस्थानादाकुंरीकोटितम भागमपि न परतो गच्छन्ति । अखोहा अक्षोभा न क्षोभ प्राप्नुवन्ति । उक्त च समन्तभद्रेणोत्सर्पिणीकाले आगामिनि भविष्यत्तीर्थकरपरमदेवेन—

काले कल्पशतेऽपि च गते शिवाना न विक्रिया लक्ष्या ।
उत्पातोऽपि यदि स्यात्त्रैलोक्यसम्भ्रान्तिकरणपटु ॥ १ ॥

णिम्मवियाजगमेण रूवण स्थिररूपेण निर्मापिता ससारान्त्यक्षणेन निष्पादिता एकसमयेन त्रैलोक्यशिखर प्राप्ता धर्मास्तिकायाभा-

१ एक शास्त्र सर्व शास्त्र वा सम्यगत्र जानन्त ।
तीर्थं तुष्यन्ति नरा किं न समस्तार्थतत्त्वज्ञा ॥ १ ॥
चक्रिकुरुफणिसुरेन्द्रेषु अहमिन्द्रे यत्सुख त्रिकालभव ।
ततोऽनन्तगुणित सिद्धानां क्षणसुख भवति ॥ २ ॥
२ सर्वत्र प्रभागतम ।

चापरतो न गच्छन्ति, अजंगमेन रूपेण स्थिररूपेण तिष्ठन्ति निश्चय स्थिरप्रतिमाभिधाना । **सिद्धट्ठाणम्मि ठिया** सिद्धाना मुक्तात्मना स्थाने त्रिभुवनाग्रे तनुवातवलये स्थिता —मुक्तिशिलासमीपद्गूनगव्यूतिमधो मुक्त्वा आकाशे निराधारा· स्थिता । **वोसरपडिमा धुवा सिद्धा** व्युत्सर्गप्रतिमाः कायोत्सर्गेण पद्मासनेन वा स्थिता ध्रुवा शाश्वताः सिद्धाः प्रतिमा भवन्ति । तेऽपि वन्दनीया भवन्ति ।

पडिमा—प्रतिमाधिकारस्तृतीय समाप्त । ३ ।

अथेदानीं गाथाद्वयेन दर्शनाधिकार कथयन्ति श्रीकुन्दकुन्दाचार्या —

दंसेइ मोक्खमग्गं सम्मत्तं संयमं सुधम्मं च ।
णिग्गंथं णाणमयं जिणमग्गे दंसणं भणियं ॥ १४ ॥

दर्शयति मोक्षमार्गं सम्यक्त्वं संयमं सुधर्मं च ।
निर्ग्रन्थं ज्ञानमयं जिनमार्गे दर्शनं भणितम् ॥

दंसेइ मोक्खमग्गं दर्शयति प्रकटयति मोक्षमार्गं सम्यग्दर्शनज्ञान-चारित्रलक्षणं यत्तद्दर्शनं। "कृत्यल्युटोऽन्यत्रापीति" वचनात्कर्तरि युट्प्रत्यय । कोऽसौ मोक्षमार्गो य दर्शनं कर्तृतया दर्शयति, **सम्मत्तं** सम्यक्त्वं तत्त्वार्थश्रद्धानलक्षणं । तथा **संयमं** चारित्रं पचमहाव्रतपचसमिति-त्रिगुप्तिलक्षणं दर्शयति । सुधर्मं चानशनादि द्वादशविधं तपश्च दर्शयति । कथभूतं दर्शनं, **णिग्गंथं** बाह्याभ्यन्तरपरिग्रहरहितं। भूयोऽपि कथभूतं दर्शनं, **णाणमयं** सम्यग्ज्ञानेन निर्वृत्तं । **जिणमग्गे दंसणं भणियं** जिनमार्गे सर्वज्ञवीतरागप्रतिपादिते मार्गे दर्शनं सम्यक्त्वरूपं भणितं यतिश्रावकाकारं प्रतिपादितं, अविरतसद्दृष्ट्याधारभूतं च ।

जह फुल्लं गंधमयं भवदि हु खीरं स घियमयं चावि ।
तह दंसणं हि सम्मं णाणमयं होइ रूवत्थं ॥ १५ ॥

यथा पुष्पं गन्धमयं भवति स्फुटं क्षीरं तद्घृतमयं चापि ।
तथा दर्शनं हि सम्यग्ज्ञानमयं भवति रूपस्थम् ॥

जह फुल्लं गंधमयं यथा पुष्पं गन्धमयं भवति । **भवदि हु खीरं स घियमयं चावि** भवति हु—स्फुटं क्षीरं दुग्धं, स—तत् घृतमयं घृतयुक्तं चापि । अपिशब्दादन्योऽपि कनकपाषाणकाष्ठाग्निप्रभृतयो दृष्टान्ता ज्ञातव्याः । **तह दंसणं हि सम्मं** तथा दर्शनं सम्यक्त्वं हि निश्चयेन सम्यग्ज्ञानमयं भवति । **रूवत्थं** यतिश्रावकार्यसम्यग्दृष्टिमूर्तिस्थितं दर्शनं ज्ञातव्यमित्यर्थः ।

दंसणं-दर्शनाधिकार एकादशाधिकारेषु नामप्राभृतं चतुर्थं समाप्तं ।४।

अथेदानीं जिनबिम्बस्वरूपं निरूपयन्ति श्रीगृद्धपिच्छाचार्या भगवन्तः—

जिणबिंबं णाणमयं संजमसुद्धं सुवीयरायं च ।
जं देइ दिक्खसिक्खा कम्मक्खयकारणे सुद्धा ॥१६॥

जिनबिम्बं ज्ञानमयं संयमशुद्धं सुवीतरागं च ।
यद् ददाति दीक्षाशिक्षे कर्मक्षयकारणे शुद्धे ।

जिणबिंबं णाणमयं जिनस्य बिम्बमाकारो ज्ञानमयं मतिज्ञानश्रुतज्ञानयथासंभवावधिज्ञानयथासंभवमनःपर्ययज्ञानमयं भवति तृतीयपरमेष्ठी आचार्यसंज्ञको जिनबिम्बं ज्ञातव्यं इत्यर्थः । **संजमसुद्धं सुवीयरायं च** तदुक्तलक्षणं जिनबिम्बं कथंभूतं भवतीत्याह—संयमशुद्धं संयमेन निरतिचारचारित्रेण शुद्धं निर्मलं, सुष्ठु—अतिशयेन वीतरागं वीतं क्षयं गतो रागः प्रीतिलक्षणो यस्मादिति वीतरागः । अज क्षेपणे इति धातोः प्रयोगात् । "अजेर्वी" इति वचनादजधातोर्वीरादेशः । चकारात्तद्गुणारोपणा निष्पत्तिका च जिनबिम्बं भवति । **जं देइ दिक्खसिक्खा** यज्जिनबिम्बमाचार्यं ददाति दीक्षां व्रतारोपणलक्षणां, शिक्षां च द्वादशानुप्रेक्षालक्षणां ददाति । **कम्मक्खयकारणे सुद्धा**

कर्मक्षयकारण शुद्धा निर्मला। जीवन्मुक्तनिनवदाचार्यो माननीय इति भावार्थ । उक्त च सोमदेवेन सूरिणा--

ज्ञानकाण्डे क्रियाकाण्डे चातुर्वर्ण्यपुर सर ।
सूरिर्देव इवाराध्य ससाराब्धितरण्डक ॥ १ ॥

तस्स य करह पणामं सव्वं पुज्जं च विणय वच्छल्लं ।
जस्स य दंसण णाणं अत्थि धुवं चेयणाभावो ॥ १७ ॥

तस्य च कुरुत प्रणाम सर्वां पूजा विनय वात्सल्य ।
यस्य च दर्शन ज्ञान, अस्ति ध्रुव चेतनाभाव ॥

तस्स य करह पणामं तस्य च जिनबिम्बस्य जिनबिम्बमूर्तेराचार्यस्य प्रणाम नमस्कार पचाङ्गमष्टाङ्ग वा कुरुत यूय हे भव्यजीवा !, चकाराद्रुपाध्यायस्य सर्वसाधोश्च प्रणाम कुरुत तयोरपि जिनबिम्बस्वरूपत्वात् । **सव्वं पुज्जं च विणय वच्छल्लं** सर्वां पूजामष्टविधमर्चन च कुरुत यूयमिति, तथा विनय हस्तयोटन पादपतन सन्मुखगमन च कुरुत, वात्सल्य भोजन पान पादमर्दन शुद्धतैलादिनाङ्गाभ्यञ्जन तत्प्रक्षालन चेत्यादिक कर्म सर्व तीर्थकरनामकर्मोपार्जनहेतुभूत वैयावृत्य कुरुत यूय । उक्त च समन्तभद्रेण महामुनिना--

व्यापत्तिव्यपनोद पदयो सवाहन च गुणरागात् ।
वैयावृत्य यावानुपग्रहोऽन्योऽपि सयमिना ॥ १ ॥

तथा चकारात् पाषाणादिघटितस्य जिनबिम्बस्य पचामृतै स्नपन, अष्टविधै पूजाद्रव्यैश्च पूजन कुरुत यूय । वदना भक्ति च कुरुत। यदि तथाभूत जिनबिम्ब न मानयिष्यथ गृहस्था अपि सन्तस्तदा कुंभीपाकादिनरकादौ पतिष्यथ यूय । तथा चोक्त सोमदेवेन स्वामिना--

अपूजयित्वा यो देवान् मुनीननुपचर्य च ।
यो भुञ्जीत गृहस्थ सन् स भुञ्जीत पर तम ॥ १ ॥

परं तम इति कोऽर्थः कुर्भानरक, सप्तमे नरके पंच बिलानि तेषां नामानि यथा-रौरवमहारौरवासिपत्रकूटशाल्मलीकुंभीपाका इति। सप्तमनरके यानि चतुर्दिक्षु चत्वारि बिलानि वर्तन्ते तान्यर्धरज्जुप्रमाणानि सन्ति तेषां मध्ये यत्कुंभीपाकसंज्ञकं पंचमं बिलमस्ति तदेकयोजनलक्षप्रमाणं वर्तते, पचभिरपि रज्जुरेका भूमी रुद्धा वर्तते। **जस्स य दंसण णाणं** यस्य पूर्वोक्तलक्षणस्य जिनबिंबस्य दर्शनं ज्ञानं च वर्तते। **अत्थि धुवं चेयणाभावो** अस्ति विद्यते ध्रुवं निश्चयेन चेतनाभाव आत्मस्वरूपं स्थापनान्यासनापीति तात्पर्यम्।

तवयगुणेहि सुद्धो जाणदि पिच्छेइ सुद्धसम्मत्तं।
अरहंतमुद्द एसा दायारी दिक्खसिक्खा य॥ १८॥

तपोव्रतगुणैः शुद्धः जानाति पश्यति शुद्धसम्यक्त्वम्।
अर्हन्मुद्रा एषा दात्री दीक्षाशिक्षाणां च॥

तववयगुणेहि सुद्धो तपोभिर्द्वादशभेदैः, व्रतैर्हिंसासत्यास्तेयब्रह्मापरिग्रहैः पचभिः, गुणैः पूर्वोक्तलक्षणैश्चतुरशीतिलक्षैः शुद्धो निष्कलङ्कः। **जाणदि पिच्छेइ सुद्धसम्मत्तं** जानाति सम्यग्ज्ञानवान्, पश्यति स्वरूपं वेत्ति कस्य शुद्धसम्यक्त्वस्य पंचविंशतिमलरहितस्य। **अरहंतमुद्द एसा** श्रीमद्भगवदर्हत्सर्वज्ञवीतरागस्य मुद्रा आकार एषा धर्माचार्यलक्षणा पाषाणधातुचित्रविम्बस्वरूपा यत्रमन्त्राराधनगम्या च जिनबिम्बं भवति। **दायारी दिक्खसिक्खा य** कथंभूता मुद्रा, दात्री दायका कासां, दीक्षाशिक्षाणां। चकारायात्राप्रतिष्ठादिकर्मणा च प्रवर्तिका।

जिणबिंबं इति श्रीबोधप्राभृते जिनबिम्बाधिकारः पंचमः समाप्तः॥५॥

अथेदानीमेकया गाथया जिनमुद्रां निरूपयति श्रीमत्कुंदकुंदाचार्या —

दढसंजममुद्दाए इंदियमुद्दा कसायदढमुद्दा।
मुद्दा इह णाणाए जिणमुद्दा एरिसा भणिया॥ १९॥

दढसयमसुद्रया इन्द्रियमुद्रा कषायदढमुद्रा ।
मुद्रा इह ज्ञानेन जिनमुद्रा ईदृशी भणिता ॥

दढसंजमसुद्दाए दढया वज्रघटितप्रायया सयममुद्रया षड्जीवनिकायरक्षणलक्षणया षडिन्द्रियसंकोचस्वरूपया च मुद्रया वेषेण जिनमुद्रा भवति। **इंदियमुद्दा कसायदढमुद्दा** इन्द्रियाणा स्पर्शनरसनघ्राणचक्षुःश्रोत्राणा द्रव्येन्द्रियाणा यत्र मुद्रणं कूर्मवत्करचरणसंकोचनमिन्द्रियमुद्रोच्यते सा जिनमुद्रा भवति। कसायदढमुद्दा कषायाणा दृढ गाढ मुद्रण कषायदढमुद्रा। **मुद्दा इह णाणाए** मुद्रा इह जिनशासने ज्ञानेन भवति, अर्हनिशं पठनपाठनादिना जिनमुद्रा भवति। **जिणमुद्दा एरिसा भणिया** जिनमुद्रेदृशी भणिता। मुनीनामाकारो जिनमुद्रा। ब्रह्मचारिणामाकारश्चक्रवर्तिमुद्रा ते उभये अपि माननीया (ये)। यदि कश्चिद्दुरभिनिवेशेन ता न मानयति स पुमान् जिनमुद्राद्रोही विशिष्टैर्दण्डनीय इति भावार्थ। शिर कूर्चश्मश्रुलोचो मयूरपिच्छधर कमण्डलुकरोऽध केशरक्षण इति जिनमुद्रा सा मान्यते। तदुक्तमिन्द्रनन्दिना प्रतिष्ठाचार्येण—

मुद्रा सर्वत्र मान्या स्यान्निर्मुद्रो नैव मान्यते ।
राजमुद्राधरोऽत्यन्तहीनवच्छास्त्रनिर्णय ॥ १ ॥

जिणमुद्दा–इति श्रीबोधप्राभृते जिनमुद्राधिकार षष्ठ समाप्तः। ६।

अथेदानीं ज्ञानाधिकार प्रारभ्यते—

संजमसंजुत्तस्स य सुज्झाणजोयस्स मोक्खमग्गस्स ।
णाणेण लहदि लक्खं तम्हा णाणं च णायव्वं ॥ २० ॥

सयमसयुक्तस्य च सुध्यानयोगस्य मोक्षमार्गस्य ।
ज्ञानेन लभते लक्ष्य तस्मात् ज्ञान च ज्ञातव्यम् ॥

संजमसंजुत्तस्स य सयमेनेन्द्रियजयप्राणरक्षणलक्षणेन संयुक्तस्य सहितस्य। **सुज्झाणजोयस्स मोक्खमग्गस्स** सुष्ठु ध्यानयोगस्य आर्तरौद्रध्यानद्वयरहितस्य ध्यानस्य धर्म्यध्यानशुक्लध्यानद्वयस्य योगेन सयोगेन सहितस्य, एवं विशेषणद्वयविशिष्टस्य मोक्षमार्गस्य सम्बन्धित्वेन। **णाणेण लहदि लक्खं** ज्ञानेन कारणभूतेन लभते, किं कर्मतापन्नं लक्ष्यं निजात्मस्वरूपं। **तम्हा णाणं च णायव्वं** तस्मात्कारणाज्ज्ञानं च ज्ञातव्यं, न केवलमायतनादिषट्कं ज्ञातव्यं किन्तु ज्ञानं च ज्ञातव्यं। चशब्दः परस्परसमुच्चयार्थः।

जह ण वि लहदि हु लक्खं रहिओ कंडस्स वेज्झयविहीणो।
तह ण वि लक्खदि लक्खं अण्णाणी मोक्खमग्गस्स ॥२१॥

यथा नापि लक्षयति स्फुटं लक्ष्यं रहितः काण्डस्य वेध्यकविहीनः।
तथा नापि लक्षयति लक्ष्यं अज्ञानी मोक्षमार्गस्य॥

जह ण वि लहदि हु लक्खं यथा येन प्रकारेण नापि नैव लभते, हु–स्फुटं, लक्ष्यं वेध्यं। कोऽसौ वेध्यं न लभते, **रहिओ कंडस्स वेज्झयविहीणो** रहितोऽभ्यासरहितः, काण्डस्य बाणस्य, वेध्यकविहीनोऽनभ्यस्तवेध्यव्यधनः पुमान्। **तह ण वि लक्खदि लक्खं** तथा तेन प्रकारेण नापि लक्षयति जानाति लक्ष्यं परमात्मानं। **अण्णाणी मोक्खमग्गस्स** अज्ञानी ज्ञानरहितः पुमान् मोक्षमार्गस्य सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रलक्षणस्य लक्ष्यं निजात्मस्वरूपं न लक्षयति।

णाणं पुरिसस्स हवदि लहदि सुपुरिसो वि विणयसंजुत्तो।
णाणेण लहदि लक्खं लक्खंतो मोक्खमग्गस्स ॥ २२ ॥

ज्ञानं पुरुषस्य भवति लभते सुपुरुषोऽपि विनयसंयुक्तः।
ज्ञानेन लभते लक्ष्यं लक्षयन् मोक्षमार्गस्य॥

णाणं पुरिसस्स हवदि ज्ञान श्रुतज्ञान पुरुषस्यासन्नभव्यजीवस्य भवति सतिष्ठते । **लहदि सुपुरिसो वि विणयसंजुत्तो** लभते प्राप्नोति ज्ञान सुपुरुषोऽप्यासन्नभव्यजीव । अपिशब्दाद्ब्राह्मी सुदरी राजिमति-चन्दनादिवत् एकादशाङ्गानि लभन्ते, मृगलोचना अपि स्त्रीलिंग छित्वा स्वर्गसुख भुक्त्वा राजकुलादिपु पद्य मोक्षं तृतीयेऽपि भवे लभन्ते । पुरुषास्तु सकल श्रुत लब्ध्वा तद्भवेऽपि मोक्ष यान्ति । ईदृश ज्ञानं क प्राप्नोति ? विणयसजुत्तो—विनयसयुक्तो गुरुचरणरेणुरजितभालस्थल इति भावार्थ । **णाणेण लहदि लक्खं** ज्ञानेन श्रुतज्ञानेन लभते लक्ष्य निजात्मस्वरूप । **लक्खंतो मोक्खमग्गस्स** लक्षयन् ध्यायन् लक्ष्य लभते, कस्य लक्ष्य-मोक्षमार्गस्य रत्नत्रयस्य ।

मइधणुहं जस्स थिरं सुदगुण बाणा सुअत्थि रयणत्तं ।
परमत्थबद्धलक्खो ण वि चुक्कदि मोक्खमग्गस्स ॥ २३ ॥

मतिधनुर्यस्य स्थिर श्रुतगुणो बाणा सुसन्ति रत्नत्रयम् ।
परमार्थबद्धलक्ष्य नापि स्खलति मोक्षमार्गस्य ॥

मइधणुहं जस्स थिरं मतिर्मतिज्ञान यस्य मुनेर्धनुश्चाप स्थिर निश्चल । **सुदगुण** श्रुतज्ञान गुण प्रत्यचा । **बाणा सुअत्थि रयणत्तं** बाणा शरा सुष्ठु अतिशयवन्त सन्ति विद्यन्ते, कि ? रत्नत्रय भेदाभेद-लक्षण रत्नत्रय । **परमत्थबद्धलक्खो** परमार्थे निजात्मस्वरूपे बद्धलक्ष्य निश्चलीकृतात्मस्वरूपो मुनि । **ण वि चुक्कदि मोक्खमग्गस्स** न स्खलति मोक्षमार्गस्य लक्ष्ये इति सम्बन्ध । तथा चोक्त श्रीवीरनन्दि-शिष्येण पद्मनन्दिनाचार्येण—

प्रेरिता श्रुतगुणेन शेमुषीकार्मुकेण शरवद्दृगादय. ।
वाह्यवेध्यविपय कृतश्रमाश्छिद्रणे प्रहतकर्मशत्रव ॥ १ ॥

तथा च सोमदेवस्वामिनापि श्रुतज्ञानस्य गुणस्तुतिकृता—

अत्यल्पायतिरक्षजा मतिरियं बोधोऽवधिः सावधिः।
साश्चर्यः क्वचिदेव योगिनि स च स्वल्पो मनःपर्ययः ॥
दुष्प्रापं पुनरद्य केवलमिदं ज्योतिःकथागोचरं।
माहात्म्यं निखिलार्थगे तु सुलभे किं वर्णयामः श्रुते ॥१॥

णाणं–इति श्रीबोधप्राभृते ज्ञानाधिकारः सप्तमः समाप्तः ।७।

अथेदानीं गाथाद्वयेन देवस्वरूपं निरूपयन्ति श्रीकुन्दकुन्दाचार्याः–

सो देवो जो अत्थं धम्मं कामं सुदेइ णाणं च।
सो देइ जस्स अत्थि दु अत्थो धम्मो य पव्वज्जा ॥२४॥

स देवो योऽर्थं धर्मं कामं सुददाति ज्ञानं च।
स ददाति यस्य अस्ति तु अर्थः धर्मश्च प्रव्रज्या ॥

सो देवो जो अत्थं स देवो योऽर्थं धनं निधिरत्नादिकं ददाति। **धम्मं कामं सुदेइ णाणं** च धर्मं चारित्रलक्षणं दयालक्षणं वस्तुस्वरूपमात्मोपलब्धिलक्षणमुत्तमक्षमादिदशभेदं सुददाति सुष्ठु अतिशयेन ददाति। कामं-अधमण्डलिकमण्डलिकमहामण्डलिकबलदेववासुदेवचक्रवर्तीन्द्रधरणेन्द्रभोगं तीर्थंकरभोगं च यो ददाति स देवः। सुष्ठु ददाति ज्ञानं च केवलं ज्योतिः ददाति। **सो देइ जस्स अत्थि दु** स ददाति यस्य पुरुषस्य यद्वस्तु वर्तते असत्कथं दातुं समर्थः। **अत्थो धम्मो य पव्वज्जा** यस्यार्थो वर्तते सोऽर्थं ददाति, यस्य धर्मो वर्तते स धर्मं ददाति, यस्य प्रव्रज्या दीक्षा वर्तते स केवलज्ञानहेतुभूतां प्रव्रज्यां ददाति, यस्य सर्वं सुखं वर्तते स सर्वसौख्यं ददाति। उक्तं च गुणभद्रेण गणिना—

सर्वः प्रेप्सति सत्सुखाप्तिमचिरात् सा सर्वकर्मक्षयात्
सद्वृत्तात् स च तच्च बोधनियतं सोऽप्यागमात्स श्रुतेः।

सा चाप्तात् स च सर्वदोषरहितो रागादयस्तेऽप्यत
स्त युक्त्या सुविचार्य सर्वसुखदं सन्त श्रयन्तु श्रिय ॥ १ ॥

धम्मो दयाविसुद्धो पव्वज्जा सव्वसंगपरिचत्ता।
देवो ववगयमोहो उदयकरो भव्वजीवाण ॥ २५ ॥

धर्मो दयाविशुद्धः प्रव्रज्या सर्वसंगपरित्यक्ता।
देवो व्यपगतमोहः उदयकरो भव्यजीवानाम् ॥

धम्मो दयाविसुद्धो धर्मो दयया विशुद्धो निर्मल, यो दया कुर्वन्नपि चर्मजलं पिबति, अजिनतैलमास्वादयति, कुतुपघृत भुक्ते, भूत नाशनमत्ति तस्य पुंसो धर्मो विशुद्धो न भवति स यतिर्वेषधार्यपि म्लेच्छो ज्ञातव्य । **पव्वज्जा सव्वसगपरिचत्ता** प्रव्रज्या सर्वसग परित्यक्ता भवति यो दण्ड करे करोति कम्बलमुपदधाति शाखकरनारी स्पृष्टमन्नमश्नाति स कथ प्रव्रज्यावान् भवति । **देवो ववगयमोहो** देवो व्यपगतमोह, यो देवोऽङ्के वनिता दधाति, यो देवो हृदयस्थले लक्ष्मीमुपवेशयति, यो देवो दड धरति, यो देवो वेश्या चापमुक्ते, वसिष्ठ पिता भवति स कथ देव । **उदयकरो भव्वजीवाण** भव्यजीवानामुदयकर उत्कृष्टतीर्थकरनामशुभदायक स देवो ज्ञातव्य ।

देव–इति श्रीबोधप्राभृते देवाधिकारोऽष्टम समाप्त । ८ ।

अथेदानीं गाथाद्वयेन तीर्थं निरूपयन्ति श्रीपद्मनन्दिदेवा —

वयसम्मत्तविसुद्धे पंचिंदियसंजदे णिरावेक्खे।
ण्हाएउ मुणी तित्थे दिक्खासिक्खासुण्हाणेण ॥२६॥

व्रतसम्यक्त्वविशुद्धे पञ्चेन्द्रियसंयते निरपेक्षे।
स्नातु मुनि तीर्थे दीक्षाशिक्षासुस्नानेन ॥

वयसम्मत्तविसुद्धे व्रतैर्हिंसासत्यास्तेयब्रह्मापरिग्रहलक्षणै पचभि र्महाव्रतै, सम्यक्त्वेन च पचविंशतिमलरहितेन तत्वार्थश्रद्धानलक्षणेन, विशुद्धे विशेषेण निर्मले चर्मजलाद्यास्वादनरहिततयाऽकश्मले तीर्थे। **पंचिंदियसंजदे णिरावेक्खे** पचेन्द्रियसयते पचेन्द्रियाणि स्पर्शनरसनघ्राणचक्षु श्रोत्रलक्षणानि सयतानि बद्धानि स्पर्शरसगन्धरूपशब्दलक्षणपचविषयरहितानि यस्मिंस्तीर्थे तत्तथोक्तस्तस्मिन् पचेन्द्रियसयते। पुन कथभूते तीर्थे, निरपेक्ष बाह्यवस्त्वपेक्षारहिते आकांक्षारहित माया-मिथ्यानिदानशल्यत्रयविवर्जिते। **ण्हाएउ मुणी तित्थे** स्नातु स्नान करोतु—अष्टकर्ममलकलङ्कप्रक्षालन करोतु—कवलज्ञानाद्यनन्तचतुष्टयसंयुक्तो भवतु, कोऽसौ मुनि प्रत्यक्षपरोक्षज्ञानसयुक्तो महात्मा महानुभावो जीव, तीर्थे शुद्धबुद्धैकस्वभावलक्षणे निजात्मस्वरूपे ससारसमुद्रतारणसमर्थे तीर्थे स्नातु विशुद्धो भवतु। केन कृत्वा स्नातु, **दिक्खासिक्खासुण्हाणेण** दीक्षा पचमहाव्रतपचसमितिपंचेन्द्रियरोधलोचषडावश्यकक्रियादयोऽष्टाविंशतिमूलगुणा उत्तमक्षमामार्दवार्जवसत्यशौचसंयमतपस्त्यागाकिंचन्यब्रह्मचर्याणि दशलक्षणिको धर्मोऽष्टादशशीलसहस्राणि चतुरशीतिलक्षगुणास्त्रयोदशविधं चारित्र द्वादशविध तपश्चेति सकलसम्पूर्ण दीक्षा भवति, स्त्रीप्रसंगवर्जनं द्वादशानुप्रेक्षाचिन्तनं शिक्षा जिननाथस्य, सुस्नानेन कर्मविध्वंसकरणकिट्टिनिर्लोपनलक्षणेन स्नानेन स्नातु।

जं णिम्मलं सुधम्मं सम्मत्तं संजमं तवं णाणं।
तं तित्थं जिणमग्गे हवेइ जदि संतिभावेण ॥२७॥

यन्निर्मल सुधर्म सम्यक्त्व संयम तप ज्ञान।
तत्तीर्थं जिनमार्गे भवति यदि शान्तभावेन ॥

जं णिम्मलं सुधम्मं यन्निर्मल निरतिचारं सुधर्म सुष्ठु शोभनं चारित्रं तत्तीर्थं ज्ञातव्यं। **सम्मत्तं संजमं तवं णाणं** सम्यक्त्वं तत्वार्थ

श्रद्धानलक्षणं तीर्थं भवति । संयम इन्द्रियाणां मनसश्च संकोचनं पृथिव्यप्तेजोवायुवनस्पतिकायस्थावरजीवरक्षणमविराधनं । द्वीन्द्रियादिपञ्चेन्द्रियत्रसजीवदयाकरणं क्वचित्प्रमाददोषेण विराधनायां शास्त्रोक्तप्रायश्चित्तकरणं संयम उच्यते सोऽपि संसारसमुद्रतारकत्वात्तीर्थं भवति । तप इच्छानिरोधलक्षणं द्वादशविधं तत्त्वार्थमोक्षशास्त्रनवमाध्याये विस्तरेण निरूपितत्वाज्ज्ञातव्यं । ज्ञानं च तीर्थं भवति । **तं तित्थं जिणमग्गे** तज्जगत्प्रसिद्धं निश्चयतीर्थप्राप्तिकारणं मुक्तमुनिपादस्पृष्टं तीर्थं ऊर्जयन्तशत्रुञ्जयलाटदेशपावागिरि-आभीरदेशतुंगीगिरिनासिक्यनगरसमीपवर्तिगजध्वजगजपन्थसिद्धकूटतारापुरकैलासाष्टापदचम्पापुरीपावापुरवाणारसीनगरक्षेत्रहस्तिनागपत्तनसम्मेदपर्वतसह्याचलमेढ्रगिरिहिमाचलरूप्यगिरिअयोध्याकौशाम्बीविपुलगिरिवैभारगिरिरूप्यगिरिसुवर्णगिरिरत्नगिरिशौर्यपुरचूलाचलनर्मदातटद्रोणीगिरिकुन्थुगिरिकोटिकशिलागिरिजम्बूकवनचलनानदीतटतीर्थंकरपंचकल्याणस्थानानि चैत्यादिमार्गे यानि तीर्थानि वर्तन्ते तानि कर्मक्षयकारणानि वन्दनीयानि ये न वन्दन्ते ते मिथ्यादृष्टयो ज्ञातव्याः । तीर्थभ्रमणं विनाऽनन्ते संसारे भ्रमिष्यन्ति-अनुमोदनाच्च तं तरन्ति । उक्तं च पूज्यपादेन भगवता—

> इक्षोर्विकाररसपृक्तगुणेन लोके
> पिष्टोऽधिकं मधुरतामुपयाति यद्वत् ।
> तद्वच्च पुण्यपुरुषैरुषितानि नित्यं
> जातानि तानि जगतामिह पावनानि ॥ १ ॥

जिनमार्गबाह्यं यत्तीर्थं जलस्थानादिकं तन्न माननीयं तत्किं ? गंगायमुनासरयूनर्मदातापीमागधीगोमतीकपीवर्तारवस्यागभीराकालतोयाकौशिकीकालमहीताम्राऽरुणानिमुरलालौहित्यसमुद्रकन्धुकाशोणनदवीजामेखलोदुम्बरीपनसातमसाप्रमृशाशुक्तिमतीपपासरःछत्रवतीचित्रवतीमाल्यवतीवेणु-

मतीविशालानालिकासिन्धुपारानिष्कुन्दरीवहुवज्रारम्पासिक्तनी यूहासमतोयाकजाकपीवतीनिर्विन्ध्याजम्बूमतीवसुमन्यरिंगामिनीशर्करावतीसिप्राकृतमालापरिंजापनसाऽवन्तिकामाहस्तिपानीकागधुनीव्याघ्रीचर्मन्वतीशतभागानदाक्ररमवेगिनीक्षुल्लतापीरेवासप्तपाराकौशिकीपूर्वेदशानद्य । उक्तं च ब्राह्मणमते—

प्रागुदीच्यौ विभजते हंस क्षीरोदकं यथा ।
विदुषां शब्दसिद्धयर्थं सा न पातु शरावती ॥ १ ॥

अथ दक्षिणे—तैला इक्षुमती नक्ररवा चंगा स्वसना वैतरणी मापवती महेन्द्रा शुष्कनदा सप्तगोदावर गोदावरी मानसर सुप्रयोगा कृष्णवर्णा सन्नीरा प्रवेणी कुब्जा धैर्या चूर्णी वेला शूकरिका अम्बर्णा ।

अथ पश्चिमे देशे—भैमरथी दारुवेणा नीरा मूला बाणा केता स्वाकरीरी प्रहरा मुररा मदना गोदावरी तापी लागला खातिका कावेरी तुंगभद्रा साभ्रमती महीसागरा सरस्वतीत्यादयो नद्यो न तीर्थं भवन्ति पापहेतुत्वात् तन्मतमपि विरुद्धत्वात् ।

गंगाद्वारे कुशावर्ते बिल्वके नीलपर्वते ।
स्नात्वा कनखले तीर्थे सम्भवेन्न पुनर्भवे ॥ १ ॥

किमत्रनिरोध :—

दुष्टमन्तर्गतं चित्तं तीर्थस्नानान्न शुद्धयति ।
शतशोऽपि जलैर्धौतं सुराभाण्डमिवाशुचि ॥ १ ॥

तित्यं—इति श्रीबोधप्राभृते तीर्थाधिकारो नवम समाप्त । ९ ।

अथेदानीं चतुर्दशभिर्गाथाभिरर्हत्स्वरूपमर्हदधिकारं प्रारभन्ते श्री कुन्दकुन्दाचार्या —

णामे ठवणे हि य सदव्वे भावे हि सगुणपज्जाया ।
चउणागदि सपदिम भावा भावंति अरहंत ॥ २८ ॥

नाम्नि स्थापनायां हि च सद्रव्ये भावे च स्वगुणपर्यायाः ।
च्यवनमागतिः संपदिमं भावा भावयन्ति अर्हन्तम् ॥

णामे नामन्यासे सति । **ठवणे** स्थापनान्यासे सति । **हि** स्फुटं । **य** चकारः पादपूरणार्थः । **सदव्वे** समीचीने द्रव्यन्यासे सति । **भावे य** भावन्यासे च सति । **सगुणपज्जाया** स्वगुणा अनन्तज्ञानानन्तदर्शनानन्तवीर्यानन्तसुखसंज्ञा अर्हतो भवन्तीत्युपस्कारः । स्वपर्याया दिव्यपरमौदारिकशरीराष्टमहाप्रातिहार्यसमवसरणलक्षणाः पर्याया अर्हतो भवन्तीत्युपस्कर्तव्यः । **चउण** स्वर्गान्तरकाद्वा च्यवनं । **आगदि** भरतादिक्षेत्रे स्वागमनं । **सपत्** गर्भावतारात्पूर्वमेव षण्मासान् रत्नसुवर्णपुष्पगंधोदकवर्षणं मातुरङ्गणे भवति, अवतीर्णे सति नवमासपर्यन्तं सुवर्णरत्नवृष्टिर्मातुरङ्गणे सौधर्मेन्द्रादेशात् कुबेरः करोति कनकमयपत्तनं भवति। एतत्सर्वं महापुराणासम्पद्विवरणमर्हतो ज्ञातव्यं । **इम** अर्हन्तं । **भावा** भव्यजीवा आसन्नतरभव्यवरपुण्डरीकाः । **भावंति** भावयन्ति निजहृदयकमले निश्चलं धरन्ति । कं, **अरहंत** श्रीमद्भगवत्सर्वज्ञवीतरागं । तथा चोक्तं—

णामजिणा जिणणामा ठवणजिणा तह य ताह पडिमाओ ।
दव्वजिणा जिणजीवा भावजिणा समवसरणत्था[1] ॥ १ ॥

दंसण अणंतणाणे मोक्खो णट्ठट्ठकम्मबंधेण ।
णिरुवमगुणमारूढो अरहंतो एरिसो होइ ॥ २९ ॥

दर्शने अनन्तज्ञाने मोक्षो नष्टाष्टकर्मबन्धेन ।
निरुपमगुणमारूढ अर्हन् ईदृशो भवति ।

---

१ नामजिना जिननामानि स्थापनाजिना तथा च तेषां प्रतिमा ।
द्रव्यजिना जिनजीवा भावजिना समवसरणस्था ॥ १ ॥

दंसण अणंतणाणे अनन्तदर्शने सत्तावलोकनमात्रलक्षणे सति । तथा अनन्तज्ञाने विशेषगोचरसाकारे सति मोक्षो भवतीति तावद्वेदितव्यं । केन कृत्वा, **णट्टट्ठकम्मबंधेण** नष्टाष्टकर्मबन्धेन । ननु "मोहक्षयात् ज्ञानदर्शनावरणान्तरायक्षयाच्च केवलम्" इत्युमास्वामिवचनात् चत्वार्येव कर्माण्यर्हतो नष्टानि कथं नष्टाष्टकर्मबन्धेनेत्युच्यते ? साधूक्तं भवता यथा सैन्यनायके पतिते सति जीवत्यपि शत्रुवृन्दे तन्मृतवत्प्रतिभासते विकृतिकारकत्वभावाभावात्तथा सर्वेषां कर्मणां मुख्यभूते मोहनीयकर्मणि नष्टे सति वेदनीयायुर्नामगोत्रकर्मचतुष्टये सत्यपि भगवतो विविधफलोदयाभावादघातीन्यपि कर्माणि नष्टानीत्युच्यते । **णिरुवमगुणमारूढो** निरुपमं गुणमनन्तचतुष्टयलक्षणमारूढोऽर्हन्नष्टकर्मरहित उच्यते । **अरहंतो एरिसो होइ** अर्हन्नीदृशो भवतीति मुक्त एवोपचर्यत इति भावार्थः ।

जरवाहिजम्ममरणं चउगइगमणं च पुण्णपावं च ।
हंतूण दोसकम्मे हुउ णाणमयं च अरहंतो ॥ ३० ॥

जराव्याधिजन्ममरणं चतुर्गतिगमनं च पुण्यपापं च ।
हत्वा दोषकर्माणि भूतः ज्ञानमयः अर्हन् ॥

जर जरां हत्वा । **वाहि** व्याधिं हत्वा, एतेन पदेन ये महावीरस्वामिनं षाण्मासिकमतीसाररोगं केवलज्ञानिनं कथयन्ति तन्मतं निरस्तं भवति । **जम्म** जन्म गर्भवासं हत्वा, इदमपि पदमेवं सूचयति यद्देवानन्दाया ब्राह्मण्या उदराद्वीरं निष्कास्य क्षत्रियाया उदरे प्रवेशितवानिन्द्रस्तदप्ययुक्तं गतिदाता इन्द्र एवेति जीवस्य कर्मागमनं च वृथा भवतीति दोषसद्भावात् । तथा **मरणं** हत्वा । **चउगइगमणं च** चतुर्गतिगमनं च हत्वा । **पुण्णपावं च** पुण्यं पापं च हत्वा । **हंतूण दोसकम्मे** हत्वा विनाश्य दोषानष्टादशदोषान् । के ते ?—

क्षुत्पिपासाजरातङ्कजन्मान्तकभयस्मया ।
न रागद्वेषमोहाश्च यस्याप्तः स प्रकीर्त्यते ॥ १ ॥

चकाराच्चिन्तारतिनिद्राविषादस्वेदखेदविस्मया गृह्यन्ते । कम्मे—घाति कर्माणि । हतूण हत्वा । हुउ णाणमय च अरहंतो भूत सजात कीदृश णाणमयं—ज्ञानमय केवलज्ञानवान्, अर्हन् इन्द्रादिकृतामर्हणां पूजामनन्यसम्भविनीमर्हतीत्यर्हन् सर्वज्ञ वीतराग ।

गुणठाणमग्गणेहिं य पज्जत्तीपाणजीवठाणेहिं ।
ठावण पंचविहेहिं पणयव्वा अरुहपुरिसस्स ॥ ३१ ॥

गुणस्थानमार्गणाभिश्च पर्याप्तिप्राणजीवस्थानैः ।
स्थापना पञ्चविधैः प्रणेतव्या अर्हत्पुरुषस्य ॥

गुणठाणमग्गणेहिं य गुणस्थानेनार्हन् प्रणतव्यो योजनीय । कानि तानि गुणस्थानानि [2] तन्निर्देशो गाथाद्वयेन क्रियते—

मिच्छा सासण मिस्सो अविरिय सम्मो य देसविरओ य ।
विरया पमत्त इयरो अपुव्व अणियट्टि सुहमो य ॥ १ ॥
उवसततखीणमोहो सजोगकेवलिजिणो अजोगी य ।
चउदस गुणठाणाणि य कमेण सिद्धा य णायव्वा ॥ २ ॥

मार्गणाश्चतुर्दश निर्देक्ष्यति । पज्जत्ती पड्भि पर्याप्तिभिरर्हन् प्रणेतव्य । ता अपि निर्देक्ष्यति । पाणजीवठाणेहिं प्राणैर्दशभिरर्हन् प्रणेतव्य । तानपि निर्देक्ष्यति । जीवस्थानानि चतुर्दशसु गुणस्थानेषु जाता

१ णाणमओ इति पाठान्तर ।

२ मिथ्यात्व सासादन मिश्र अविरतसम्यक्त्व देशविरतश्च ।
विरत प्रमत्त इतरोऽपूर्वोऽनिवृत्ति सूक्ष्मश्च ॥ १ ॥
उपशान्तक्षीणमोह सयोगकेवलिजिनोऽयोगी च ।
चतुर्दशगुणस्थानानि च क्रमेण सिद्धाश्च ज्ञातव्या ॥ २ ॥

ये सन्ति तानि जीवस्थानानि । तानि गुणस्थाननिर्देशेन ज्ञातव्यानि । **ठावण पचविहेहिं** एव गुणस्थानमार्गणापर्याप्तिप्राणजीवस्थानस्थापनापचविधैः स्थापना योटनापञ्चप्रकारैः । **पणयव्वा अरुहपुरिसस्स** प्रणेतव्या योटनीया अर्हत्पुरुषस्य अर्हज्जीवस्येति ।

तेरहमे गुणठाणे सजोइकेवलिय होइ अरहंतो ।
चउतीसअइसयगुणा होंति हु तस्सट्ठपडिहारा ॥३२॥

त्रयोदशे गुणस्थाने सयोगकेवलिको भवति अर्हन् ।
चतुस्त्रिंशदतिशयगुणा भवन्ति हु तस्य प्रातिहार्याणि ॥

तेरहमे गुणठाणे त्रयोदशे गुणस्थाने । **सजोइकेवलिय होइ अरहंतो** सयोगकेवलिको भवत्यर्हन् । **चउतीसअइसयगुणा** चतुस्त्रिंशदतिशयगुणा । **होंति हु तस्सट्ठपडिहारा** भवन्ति हु स्फुटं तस्याऽर्हत्परमेश्वरस्याष्टप्रातिहार्याणि । के ते चतुस्त्रिंशदतिशया इति चेदुच्यन्ते—नित्यं निःस्वेदत्वं । निर्मलता मलमूत्ररहितता, तत्पितुस्तन्मातुश्च मलमूत्रं न भवति । उक्तं च—

तित्थयरा तप्पियरा हलहरचक्की य अद्धचक्की य ।
देवा य भूयभूमा आहारो अत्थि णत्थि णीहारो ॥ १ ॥

तथा तीर्थंकराणां श्मश्रूणि कूर्चश्च न भवति, शिरसि तु कचास्तु भवन्ति । तथा चोक्तं—

देवा वि य णेरइया हलहरचक्की य तह य तित्थयरा ।
सव्वे केसव रामा कामा णिक्कुचिया होंति ॥ १ ॥

---

१ पूर्वमप्युक्ता अष्टत्रिंशत्तमे पृष्ठे अत्र पुनरप्युच्यते ।
२ तीर्थकराः तत्पितरः हलधरचक्रिणश्चार्धचक्रिणश्च ।
देवाश्च भोगभूमाश्च (एतेषां) आहारोऽस्ति नैव नीहारः ॥ १ ॥
३ देवा अपि च नारका हलधरचक्रिणश्च तथा च तीर्थकराः ।
सर्वे केशवा रामाः कामा निष्कुञ्चिता भवन्ति ॥ १ ॥
४ भोयभुयचक्की इति ख पुस्तके पाठः ।

क्षीरगौररुधिरमासत्व। समचतुरस्रसंस्थान। वज्रर्षभनाराचसंहनन। सुरूपता। सुगन्धता। सुलक्षणत्व। अनन्तवीर्य। प्रियहितवादित्व चेति दशातिशया जन्मतोऽपि स्वामिन शरीरस्य।

गव्यूतिशतचतुष्टयसुभिक्षता। गगनगमन। अप्राणिवध। कवलाहारो न भवति भोजन नास्ति। उपसर्गो न भवति, केवलिनामुपसर्गं भुक्ति च ये कथयन्ति ते प्रत्युक्ता भवन्ति। चतुर्मुखत्व। सर्वविद्याना परमेश्वरत्व। अच्छायत्व दर्पणे मुखप्रतिबिम्ब न भवति शरीरच्छाया च न भवति। चक्षुषि मेषो-मेषो न भवति। नखाना केशाना च वृद्धिर्न भवति, एते दशातिशया घातिकर्मक्षयजा भवन्ति।

सर्वार्धमागधीया भाषा भवति, कोऽर्थ अर्ध भगवद्भाषाया मगधदेशभाषात्मक, अर्ध च सर्वभाषात्मक, कथमेव देवोपनीतत्व तदतिशयस्येति चेत्[1] मगधदेवसन्निधाने तथापरिणतया भाषया संस्कृतभाषया प्रवर्तते। सर्वजनता विषया मैत्री भवति सर्वे हि जनसमूहा मागधप्रीतिकरदेवातिशयवशा-मागधभाषया भाषन्तेऽन्यो य मित्रतया च वर्तन्ते इति द्वातिशयौ। सर्वर्तुना फलगुच्छ[1] प्रवाला पुष्पाणि च भूमी तरवो भवन्ति। आदर्शतलसदृशी भूमिर्मनोहरा रत्नमयी भवति। वायु पृष्ठत आगच्छति शीतो मन्द सुरभिश्च। सर्वलोकाना परमानन्दो भवति। एक योजनमभेऽन्ते नायवो भूमि सम्मार्जयन्ति स्वय सुगन्धमिश्रा धूलिकण्टकतृणकीटकान् कर्करान् पाषाणाश्च प्रमार्जन्ति। स्तनितकुमारा गन्धोदक वर्षन्ति। पादाधोऽम्बुजमेक, अग्रत सप्तकमलानि, पृष्ठतश्च सप्तपद्मानि योजनैकप्रमाणानि प्रत्येक सहस्रपत्राणि पद्मरागमणिकेसराणि अर्धयोजनकानि भवन्ति। सर्वसस्यनिष्पत्तियुता भूमि-

---

१ गुच्छा इति पाठान्तर।

भवति । शरत्कालसरोवरसदृशमाकाशं निर्मलं भवति । दिशः सर्वा अपि तिमिरका धूम्रता त्यजन्ति तमो मुञ्चंति रजसा अपि दिशो नाच्छादयन्ति धूलिर्नोड्डीयते । ज्योतिष्कान् व्यन्तरान् कल्पवासिदेवान् भवनवासिन आह्वयन्ति महापूजार्थं त्वरितमागच्छन्तु भवन्त इति । अरसहस्र रत्नमयं रवितेजस्तिरस्कारकं धर्मचक्रं अग्रेऽग्रे गगने निराधारं गच्छति । अष्ट मंगलानि भवन्ति, तानि कानि ? छत्र–ध्वज–दर्पण–कलश–चामर–भृंगार–ताल–सुप्रतीक इत्यष्ट मंगलानि चतुर्दशोऽतिशयः । एते चतुर्दशातिशया देवोपनीता भवन्ति। तथाष्टप्रातिहार्याणि भवन्ति, कानि तानीत्याह :—

अशोकवृक्षः सुरपुष्पवृष्टिर्दिव्यध्वनिश्चामरमासनं च ।
भामण्डलं दुन्दुभिरातपत्रं सत्प्रातिहार्याणि जिनेश्वराणाम् ॥१॥

गइ इंदियं च काए जोए वेए कसाय णाणे य ।
संजम दंसण लेसा भविया सम्मत्त सण्णि आहारे ॥ ३२ ॥

गतौ इन्द्रिये च काये योगे वेदे कषाये ज्ञाने च ।
संयमे दर्शने लेश्यायां भव्यत्वे सम्यक्त्वे संज्ञिनि आहारे ॥

गइ नारकतिर्यङ्मनुष्यदेवगतीनां मध्येऽर्हतो मनुष्यगतिः । इंदियं स्पर्शनरसनघ्राणचक्षुःश्रोत्रपचेंद्रियजातीनां मध्येऽर्हन् पचेंद्रियजातिः । पृथिव्यप्तेजोवायुवनस्पतित्रसकायानां मध्येऽर्हन् त्रसकायः । जोए सत्यमनोयोगासत्यमनोयोगोभयमनोयोगानुभयमनोयोगानामर्हत् सत्यानुभयमनोयोगी, सत्यवचनयोगासत्यवचनयोगोभयवचनयोगानुभयवचनयोगानां मध्येऽर्हत् सत्यानुभयवचनयोगी, औदारिककाययोगौदारिकमिश्रकाययोगवैक्रियिककाययोगवैक्रियिकमिश्रकाययोगाहारककाययोगाहारकमिश्रकाययोगकार्मणकाययोगानां मध्येऽर्हत्सु सप्त (त्रि) योगाः, सत्यमनोयोगाऽनुभयमनोयोग सत्यवचनयोगोऽनुभयवचनयोग औदारिककाययोग

औदारिकमिश्रकाययोग कार्मणकाययोगश्चेति सप्तयोगा। वेए स्त्रीपुन्नपुंसकवेदत्रयमध्येऽर्हत कोऽपि वेदो नास्ति। कसाय पंचविंशतिकषायाणां मध्येऽर्हत कोऽपि कषायो नास्ति। णाणे य पंचज्ञानानां मध्येऽर्हत केवलज्ञानमेकं। संजम सप्तानां संयमानां मध्येऽर्हत संयम एक एव यथाख्यातचारित्रं। दंसण चतुर्णां दर्शनानां मध्ये दर्शनमेकमेव केवलदर्शनं। लेसा षण्णां लेश्यानां मध्येऽर्हतो लेश्या एकैव शुक्ललेश्या। भविया भव्यद्वयमध्येऽर्हन् भव्य एव। सम्मत्त षण्णां सम्यक्त्वानामर्हत सम्यक्त्वमेकमेव क्षायिकसम्यक्त्वं। सण्णिद्वय मध्येऽर्हन् सञ्ज्ञी ह्येक एव। आहारे आहारकद्वयमध्येऽर्हत आहारकानाहरकद्वयं।

आहारो य सरीरो तह इंदियआणपाणभासा य।
पज्जत्तिगुणसमिद्धो उत्तमदेवो हवइ अरुहो ॥ ३४ ॥

आहार च शरीरं तथा इन्द्रियानप्राणभाषाश्च।
पर्याप्तिगुणसमृद्ध उत्तमदेवो भवति अर्हन् ॥

आहारो य सरीरो आहार समये समये प्रत्यनन्ता परमाणवोऽनन्यजनसाधारणा शरीरस्थितिहेतव पुण्यरूपा शरीरे सम्बन्धं यान्ति नोकर्मरूपा अर्हत आहार उच्यते न त्वितरमनुष्यवद्भगवति कवलाहारो भवति तस्मान्निद्राग्लानिरुत्पद्यते कथं भगवानर्हन् देवता कथ्यते। कवलाहारं भुञ्जानो मनुष्य एव। तथा चोक्तं समन्तभद्रेण भगवता—

मानुषीं प्रकृतिमभ्यतीतवान् देवतास्वपि च देवता यत।
तेन नाथ! परमोऽसि देवता श्रेयसे जिनवृष! प्रसीद न ॥ १ ॥

क्षुद्वेदनायां कवलाहारं भुंजानो भगवान् कथमनन्तसौख्यवानुच्यते वेदनायां सुखच्छेदत्वादित्यादि प्रमेयकमलमार्तण्डादिषु कवलाहारस्य

१ इंदियमण इति पाठान्तरं।

निषिद्धत्वात्, स्त्रीमुक्तेरपि। शरीरपर्याप्ति। तह इंदियआणपाणभासा य तथा इन्द्रियपर्याप्ति, आनप्राणपर्याप्ति कोऽर्थः उच्छ्वासनिश्वासपर्याप्तिः, भाषापर्याप्तिः, चकारात् मनःपर्याप्तिः, एवं कायवाङ्मनसां सत्ताया सत्यामपि भगवतः कर्मबन्धो नास्ति जीवन्मुक्तत्वात्स्य। तथा चोक्तं—

कायवाक्यमनसां प्रवृत्तयो नाभवंस्तव मुनेश्चिकीर्षया।
नासमीक्ष्य भवतः प्रवृत्तयो धीर! तावकमचिन्त्यमीहितम् ॥१॥

पज्जत्तिगुणसमिद्धो पट्पर्याप्तिगुणसमृद्धः संयुक्तः। उत्तमदेवो हवइ अरुहो उत्तमदेवो भवत्यर्हन् न तु हरिहरहिरण्यगर्भादय उत्तमदेवा भवन्ति तेषां दोषसद्भावात्। उक्तं च–

द्रुहिणाधोक्षजेशानशाक्यसूरपुरःसराः।
यदि रागाद्यधिष्ठानं कथं तथासता भवेत् ॥ १ ॥

रागादिदोषसंभूतिर्ज्ञेयाऽमीषु तदागमात्।
असतः परदोषस्य गृहीतौ पातकं महत् ॥ २ ॥

अजस्तिलोत्तमाचित्तः श्रीरतः श्रीपतिः स्मृतः।
अर्धनारीश्वरः शम्भुस्तथाप्येषु किलाप्तता ॥ ३ ॥

पंच वि इंदियपाणा मणवयकाएण तिण्णि बलपाणा।
आणप्पाणप्पाणा आउगपाणेण होंति दहपाणा ॥ ३५ ॥

पञ्चापि इन्द्रियप्राणा मनोवचःकायैः त्रयो बलप्राणाः।
आनप्राणप्राणा आयुष्कप्राणेन भवन्ति दशप्राणाः ॥

पंच वि इंदियपाणा इन्द्रियप्राणाः पञ्च भवन्ति। मणवचिकाएण तिण्णि बलपाणा मनोवचःकायैर्बलप्राणास्त्रयो भवन्ति। आणप्पाणप्पाणा आनप्राणप्राणा उच्छ्वासनिश्वासलक्षण एकः प्राणः। आउ

गपाणेण होंति दहपाणा आयुःप्राणेन कृत्वा दशप्राणा भवन्ति । यथा आयु शब्द सान्तो नपुसकलिंगे वर्तते तथा आयु इत्युकारान्तोऽपि नपुसके वर्तते । एव दशप्राणा भवन्तीति ज्ञातव्य ।

मणुयभवे पंचिंदिय जीवट्ठाणेसु होइ चउदसमे ।
एदे गुणगणजुत्तो गुणमारूढो हवइ अरुहो ॥ ३६ ॥

मनुजभवे पचेन्द्रियो जीवस्थानेषु भवति चतुर्दशे ।
एतद्गुणगणयुक्तो गुणमारूढो भवति अर्हन् ॥

मणुयभवे पंचिंदिय मनुजभवेऽर्हन् कथ्यते पचेन्द्रियोऽर्हन्नुच्यते । **जीवट्ठाणेसु होइ चउदसमे** जीवस्थानेषु मध्ये चतुर्दशे स्थानेऽर्हन् भवति अयोगकेवल्यप्यर्हन् भवतीति भाव । **एदे गुणगणजुत्तो** एतद्गुणगणयुक्त । **गुणमारूढो हवइ अरुहो** गुणस्थानमारूढोऽर्हन् भवति गुणस्थानात्परत सिद्ध उच्यते इति भाव ।

जरवाहिदुक्खरहियं आहारणिहारवज्जियं विमलं ।
सिंहाण खेल सेओ णत्थि दुगंछा य दोसो य ॥ ३७॥

जराव्याधिदु खरहित आहारनीहारवर्जित विमल ।
सिंहाण खेल स्वेद नास्ति दुगञ्छा च दोषश्च ॥

जरवाहिदुक्खरहियं जरारहितो व्याधिरहित शारीरमानसागन्तु दु खरहितोऽर्हन् भवति, प्राकृते लिंगभेदत्वात् जरवाहिदुक्खरहिय इति नपुसकलिंगनिर्देशो ज्ञातव्य एवमुत्तरत्रापि । **आहारणिहारवज्जियं** आहारनिहारवर्जित कवलाहाररहितोऽर्हन् भवति नीहाररहितो बहिर्भूमिबाधारहित । अनेन वाक्येन श्वेतपटमत निराकृत । **विमलं** शरीरे मलमर्हतो न भवति । **सिंहाण खेल सेओ** सिंहाण नासाया

१ विवमिय मूलगाया पाठ

मलो न भवति, खेला निष्ठीवनमर्हति नास्ति, स्वेदश्च शरीरे प्रस्वेदोऽर्हति न वर्तते। णत्थि दुगंछा य दोसो य अन्यदपि जुगुप्साहेतुभूत किमपि पिटकादिक (कं) अर्हति न वर्तते। दोषश्च वातपित्तश्लेष्माणोऽर्हति न वर्तन्ते।

दसपाणा पज्जत्ती अट्ठसहस्सा य लक्खणा भणिया।
गोखीरसंखधवलं मंसं रुहिरं च सव्वंगे॥ ३८॥

दशप्राणा पर्याप्तय अष्टसहस्राणि च लक्षणानि भणितानि।
गोक्षीरशङ्खधवलं मांसं रुधिरं च सर्वाङ्गे॥

दसपाणा पज्जत्ती दशप्राणा पूर्वोक्तलक्षणा अर्हति भवन्ति, षट्पर्याप्तयश्चार्हति भवन्ति। **अट्ठसहस्सा य लक्खणा भणिया** अष्टाधिक सहस्रमेकं लक्षणानां भणितं। तत्र नवशतानि तिलमसकादीनि व्यञ्जनानि भवन्ति, अष्टाधिकं शतं लक्षणानां भवति। तथा चोक्त--

प्रसिद्धाष्टसहस्रेद्धलक्षणं त्वा गिरां पतिम्।
नाम्नामष्टसहस्रेण तोष्टुमोऽभीष्टसिद्धये॥ १॥

तेषां लक्षणानां मध्ये कानिचिदुच्यन्ते। तथा हि। श्रीवृक्ष, शंख, अब्ज, स्वस्तिक, अंकुश, तोरण, चामरं, श्वेतच्छत्र, सिंहासनं, ध्वज, झषौ, कुम्भौ, कूर्म, चक्रं, समुद्र, सरोवर, विमान, भवनं, नाग, नरनार्यौ, सिंह, बाण, धनु, मेरु, इन्द्र, गंगा, पुरं, गोपुरं, चन्द्रसूर्यौ, जात्यश्व, व्यजनं, वेणु, वीणा, मृदंग, स्रजौ, पट्टांशुकं, आपण, कुण्डलादीनि विचित्राभरणानि, उद्यानं फलितं, सुपक्वकलमक्षेत्रं, रत्नद्वीप, वज्र, मही, लक्ष्मी, सरस्वती, सुरभि, सौरभेय, चूडामणिं, महानिधि, कल्पवल्ली, हिरण्यं, जंबूवृक्ष, गरुड, नक्षत्राणि, तारका, सौध, ग्रहा, सिद्धार्थपादपा, प्रातिहार्याणि, मङ्गलानि, एवमादीनि अष्टो-

त्तर शत लक्षणानि । **गोछीरसंखधवलं** गोक्षीरवच्छखवद्धवलमुज्ज्वल । **मंसं रुहिरं च सव्वंगे** मांस गोक्षीरवद्धवल रुधिर गोक्षीरवद्धवल सर्वाङ्गे सर्वस्मिन् शरीरे ।

एरिसगुणेहिं सव्वं अइसयवंतं सुपरिमलामोयं ।
ओरालियं च कायं णायव्वं अरुहपुरिसस्स ॥ ३९ ॥

ईदृशगुणै सर्व अतिशयवान् सुपरिमलामोद ।
आदारिक च काय ज्ञातव्य अर्हत्पुरुषस्य ॥

एरिसगुणेहिं सव्वं ईदृशगुणै सयुक्त सर्व कायोऽर्हत्पुरुषस्य ज्ञातव्य इति सम्बन्ध । **अइसयवंतं सुपरिमलामोयं** अतिशयवान् सुष्ठु अतिशयेन परिमलेन विमर्दोत्थगन्धेन कर्पूरादिना सदृश आमोदो गन्धविशेषो यत्र काये स सुपरिमलामोद । **ओरालियं च कायं** परमौदारिक काय शरीरमर्हत्पुरुषस्य भवति स्थिर स्थूलरूपधधुर्गम्य औदारिक उच्यते । **णायव्वं अरुहपुरिसस्स** ज्ञातव्यो वेदितव्य कायोऽर्हत्पुरुषस्य श्रीमद्भगवदर्हत्सर्वज्ञवीतरागस्य शरीर ज्ञातव्यमित्यर्थ ।

मयरायदोसरहिओ कसायमलवज्जिओ य सुविसुद्धो ।
चित्तपरिणामरहिदो केवलभावे मुणेयव्वो ॥ ४० ॥

मदरागदोषरहित कषायमलवर्जितश्च सुविशुद्ध ।
चित्तपरिणामरहित केवलभावे ज्ञातव्य ॥

मयरायदोसरहिओ मदरहितो रागरहितो दोषरहित । **कसायमलवज्जिओ य सुविसुद्धो** कषाया क्रोधमानमायालोभा, मला हास्यरत्यरतिशोकभयजुगुप्सास्त्रीपुन्नपुसकलक्षणा नोकषायास्तैर्वर्जितो र-हित, सुविशुद्ध शान्तमूर्ति । **चित्तपरिणामरहिदो** मनोव्यापा-ररहित । **केवलभावे मुणेयव्वो** क्षायिकभावे मुनितव्यो ज्ञातव्यो ऽर्हन्निति ।

सम्मद्दंसणि पस्सइ जाणदि णाणेण दव्वपज्जाया ।
सम्मत्तगुणविसुद्धो भावो अरहस्स णायव्वो ॥ ४१ ॥

सम्यग्दर्शनेन पश्यति जानाति ज्ञानेन द्रव्यपर्यायान् ।
सम्यक्त्वगुणविशुद्ध भाव अर्हत ज्ञातव्य ॥

सम्मद्दंसणि पस्सइ सम्यग्दर्शनेन पश्यति सम्यङ्निस्तुपतया दर्शनेन सत्तारूपलक्षणेन पश्यति वस्तुस्वरूप गृह्णाति । **जाणदि णाणेण दव्वपज्जाया** जानाति ज्ञानेन केवलज्ञानेन विशेषगोचरेण साकाररूपेण सम्यग्जानाति द्रव्याणि जीवपुद्गलधर्माधर्मकालाकाशलक्षणानि । **सम्मत्तगुणविसुद्धो** सम्यक्त्वगुणेन क्षायिकसम्यक्त्वेन विशुद्धो निर्मल । **भावो अरहस्स णायव्वो** भाव स्वरूप अर्हत सर्वज्ञस्य ज्ञातव्यो वेदितव्य ।

अरहंत––इति श्रीबोधप्राभृतेऽर्हदधिकारो दशम समाप्त ॥१०॥

अथेदानीं प्रव्रज्यास्वरूप निरूपयन्ति श्रीकुन्दकुन्दाचार्या सप्तदशगाथाभिरिति––

सुण्णहरे तरुहिट्ठे उज्जाणे तह मसाणवासे वा ।
गिरिगुहगिरिसिहरे वा भीमवणे अहव वसिते वा ॥४२॥

शून्यगृहे तरुमूले उद्याने तथा श्मशानवासे वा ।
गिरिगुहागिरिशिखरे वा भीमवने अथवा वसतौ वा ॥

सुण्णहरे तरुहिट्ठे शून्यगृहे निवास कर्तव्य प्रव्रज्यावतेपुरस्कार । तरुहिट्ठे-वृक्षमूले स्थातव्यं । **उज्जाणे** उद्याने कृत्रिमवने स्थातव्यं । **तह मसाणवासे वा** तथा श्मशानवासे वा पितृवनस्थाने स्थातव्य । **गिरिगुहगिरिसिहरे वा** गिरिगुह गिरेर्गुहाया स्थातव्य, गिरिशिखरे वा पर्वतोपरि स्थातव्य । **भीमवणे अहव वसिते वा** भीमवने भयानकायाम-

टव्या स्थातव्य। अथवा वसिते वा ग्रामनगरादौ वा स्थातव्य, नगरे पचरात्रे स्थातव्य, ग्रामे विशेषेण न स्थातव्य।

सवसा सत्तं तित्थं वच चइदालत्तयं च वुत्तेहिं।
जिणभवणं अह वेज्जं जिणमग्गे जिणवरा विंति ॥४३॥

स्ववशा, सत्त्व तीर्थं वचश्चैत्यालय च उक्तै।
जिनभवन अथ वेध्य जिनमार्गे जिनवरा विदन्ति ॥

सवसा सत्तं तित्थं एते प्रदेशा स्ववशा पराधीनत्वरहिता स्थाप्या यध्यानयोग्या। तत्र स्थित्वा किं कर्तव्यमित्याह सत्त छिद्यमाने भिद्यमानेऽपि शतखण्ड क्रियमाणेऽपि निजशरीरे सत्त्वमखडितव्रततत निश्चलचारित्रब्रह्मचर्यत्व रक्षणीयमिति सत्त्व साहस वेध्य भवति, तथा तीर्थं द्वादशाङ्ग ऊर्जयन्तादिर्वा वेध्य ध्यानीय ध्यातव्य ज्ञातव्यं। **वच चइदालत्तयं च वुत्तेहिं** वचश्चैत्यालयश्च परमागमशब्दागमयुक्तयागमपुस्तक च वेध्य ध्यातव्य भवति। तथा चोक्त—

बारहअंगंगिज्जा दसणतिलया चरित्तवत्थहरा।
चउदसपुव्वाहरणा ठावेदव्वा य सुअदेवी ॥ १ ॥

उक्तैर्जिनवचनप्रमाणतया। **जिणभवणं अह वेज्जं** जिनभवन जिनचैत्यालय, अथ मंगलभूत सर्वभव्यजीवमंगलकर कृत्रिममकृत्रिम च वेध्य ध्यातव्य। तथा चोक्त नेमिचन्द्रेण चामुण्डरायराजमल्लदेवगुरुणा त्रिलोकसारग्रन्थे—

भवणवितरजोइसविमाणणरतिरियलोयजिणभवणे।
सव्वामरिंदनरवइसपूजियवदिए वदे ॥ १ ॥

सर्वाकृत्रिमचैत्यालयसख्यापरिज्ञानार्थं श्रीपूज्यपादैराचार्यैश्चक्रे—

१ भवनव्यन्तरज्योतिर्विमानेनरतिर्यग्लोकजिनभवनानि।
सर्वामरेन्द्रनरपतिसंपूजितवन्दितानि वन्दे ॥ १ ॥

नवनवचतुःशतानि च सप्त च नवति सहस्रगुणिता षट् च ।
पञ्चाशत्पञ्चवियत्प्रहता पुनरत्र कोटयोऽष्टौ प्रोक्ता ॥ १ ॥

अकृत्रिमचैत्यालयानां संख्या यथा—एकाशीत्यधिकचत्वारि शतानि सप्तनवतिसहस्राणि षट्पञ्चाशल्लक्षाणि अष्टौ कोटयो भवन्ति । एकैक-चैत्यालयेऽष्टाधिकं शतं प्रतिमानां भवति । तासां संख्या यथा—

णवकोडिसया पणवीसा लक्खा छप्पण्ण सहस्सगवीसा ।
चउसय तह अडयाला जिणपडिम अकिट्टिम वंदे ॥ १ ॥

नवशतकोटयः पञ्चविंशतिकोटयश्च षट्पञ्चाशल्लक्षाः सप्तविंशति सहस्राः चत्वारि शतानि अष्टचत्वारिंशदधिकानि भवन्ति । ज्योतिषां व्यन्तराणां च चैत्यालयानां संख्या नास्ति । जिणमग्गे जिणवरा विंति जिनमार्गे जिनशासने जिनवरा विदन्ति जानन्ति । सर्वं, तीर्थं, शास्त्रं, पुस्तकं, जिनभवनं, प्रतिमाश्च एतत् सर्वं वेद्यं मुनीनां श्रावकाणां च सम्यग्दृष्टीनां वेद्यं ध्यानावलम्बनीयं वस्त्वर्हन्तः कथयन्ति । तद्ये न मानयन्ति ते मिथ्यादृष्टयो भवन्तीति भावार्थः ।

पंचमहव्वयजुत्ता पंचिंदियसंजया णिरावेक्खा ।
सज्झायझाणजुत्ता मुणिवरवसहा णिइच्छंति ॥ ४४ ॥

पञ्चमहाव्रतयुक्ताः पञ्चेन्द्रियसंयता निरपेक्षाः ।
स्वाध्यायध्यानयुक्ता मुनिवरवृषभा नीच्छन्ति ॥

पंचमहव्वयजुत्ता पञ्चमहाव्रतयुक्ताः पूर्वोक्तपंचमहाव्रतयुक्ताः सर्व-जीवदयाप्रतिपालका ऋषयः सत्यवचसोऽचौर्यव्रतधारिणः ब्रह्मचर्यव्रतो-

२ नवकोटिशतानि पञ्चविंशति लक्षाः षट्पञ्चाशत् सहस्राणि सप्तविंशतानि ।
चतुःशतानि तथाऽष्टचत्वारिंशत् जिनप्रतिमा अकृत्रिमा वन्दे ॥ २ ॥
३ होवण ४ णवसय ५ निरपाश० ६ नवशत० इत्येव रूपेण पाठेन भवितव्यं ।

पेता निष्परिग्रहा अश्रवणप्रायोग्यपरिग्रहपरित्यक्ता रजनिभोजनवर्जित एतद्वेष्यं वस्तु निश्चयेनेच्छन्ति मानयन्ति जिनवचनप्रमाणकारित्वात् । **पंचिंदियसंजया णिरावेक्खा** पंचेंद्रियाणि संयतानि बद्धानि निज-विषयेषु प्रवर्तितुं व्यावृत्तानि निषिद्धानि यैस्ते पंचेन्द्रियसंयताः । निरपेक्षाः प्रत्युपकारवाञ्छारहिता भव्यजीवसम्बोधनपरा एतद्वेष्यं नीच्छन्ति । **सज्झायझाणजुत्ता** स्वाध्यायध्यानयुक्ताः । स्वाध्याय. पंचप्रकारः, वाचना-शिष्याणा व्युत्पत्तिनिमित्तं शास्त्रार्थकथनं, पृच्छना-अनुयोगकरणं, अनुप्रेक्षा-पठितस्य व्याकृतस्य च शास्त्रस्य पुनश्चेतसि चिन्तनं, आम्नायः-शुद्धपठनं, धर्मोपदेशः-महापुराणादिशास्त्रस्य मुनीनां श्रावकादीनामग्रतो व्याख्यानविधानं । ध्याने—आर्तध्यानरौद्रध्यानद्वयं परिहृत्य धर्मध्यानशुक्लध्यानद्वये प्रवर्तनं विधिनिषेधरूपं । **मुणिवरवस-हा णिइच्छंति** मुनिवरवृषभा सर्वपाखण्डिभ्योऽधिकश्रेष्ठा. सर्वलोक-प्रशंसनीयाः परमार्थयतय दिगम्बरा नि—अतिशयेनेच्छन्ति वेच्छं .वाञ्छन्ति पुन.पुनरभ्यासं कुर्वन्ति ।

गिहगंथमोहमुक्का बावीसपरीसहाजि अकसाया ।
पावारंभविमुक्का पव्वज्जा एरिसा भणिया ॥ ४५ ॥

गृहग्रन्थमोहमुक्ता द्वाविंशतिपरीषहजिदकषाया ।
पापारम्भविमुक्ता प्रव्रज्या ईदृशी भणिता ॥

गिहगंथमोहमुक्का गृहस्य निवासस्य, ग्रन्थस्य परिग्रहस्य बाह्यस्य दशप्रकारस्य मोहेन मुक्ता ममेदं भावरहिता प्रव्रज्या दीक्षा भवति । के ते दश बाह्यपरिग्रहा. १ क्षेत्रं सस्याधिकरणं । वास्तु गृहं । हिरण्यं रूप्य-द्रम्मादि । सुवर्णं काञ्चनं । धनं गोमहिष्यादि । धान्यं व्रीह्यादि । दासी कर्मकरी । दासः पुंनपुंसकवर्गः कर्मकर. । कुप्यं क्षौमकर्पासकौशेयच-

न्दनागुर्वादि । चतुर्दशाभ्यन्तरपरिग्रहरहिता । के ते चतुर्दशाभ्यन्तरपरिग्रहा ?—

मिथ्यात्ववेदौ हास्यादिषट् कषायचतुष्टयं ।
रागद्वेषौ च सङ्गाः स्युरन्तरङ्गाश्चतुर्दश ॥ १ ॥

द्वाविंशतिपरीषहाजि अकसाया द्वाविंशतिपरीषहजिप्रव्रज्या भवति के ते द्वाविंशतिपरीषहाः ? क्षुधाजयः, पिपासा तृषाजयः, शीतजयः, उष्णजयः, दंशमशकसर्पोपघातसहनं, नग्नत्वसहनं, अरतिजयः, स्त्रीपरीषहजयः, चर्या-गमनं तस्य जयः, निषद्या-उपवेशनं तस्य जयः, शय्यासहनं, आक्रोशजयः अनिष्टवचनसहनं, वधसहनं, याचनसहनं न किमपि याचते, अलाभसहनमन्तरायसहनं, रोगसहनं, तृणस्पर्शसहनं, मलसहनं लोचसहनं च, सत्कारपुरस्कारः पूजाया अकरणस्य सन्मानाप्रासनादानस्य च सहनं सत्कारपुरस्कारजयः, प्रज्ञापरीषहजयो ज्ञानमदनिरासः अज्ञानोऽयमिति वचनसहनमज्ञानपरीषहजयः, अदर्शनपरीषहजयो लब्ध्यभावसहनं । तथा चोक्तमुमास्वामिना—

क्षुत्पिपासाशीतोष्णदंशमशकनाग्न्यारतिस्त्रीचर्या-
निषद्याशय्याक्रोशवधयाचनाऽलाभरोगतृणस्पर्श-
मलसत्कारपुरस्कारप्रज्ञाऽज्ञानादर्शनानि ॥

अकसाया—कषायरहिता प्रव्रज्या भवति । पापारम्भविमुक्का पापारम्भनिमुक्ता सवाङ्वाणिज्यादि पापारंभस्तस्माद्विमुक्ता। इत्यनेन किमुक्तं भवति यद्द्राविडसंघा जैनाभासा वदन्ति तदयुक्तं—

बीएसु णत्थि जीवो उब्भसणं णत्थि फासुगं णत्थि ।
सावज्जं ण हु मण्णइ ण गणइ गिहकप्पियं अट्ठं ॥ १ ॥

१ बीजेषु नास्ति जीव उद्भासनं नास्ति प्रासुकं नास्ति ।
सावद्यं न हि मन्यते न गणयति गृहकल्पितं आर्तं ॥ १ ॥
कच्छ क्षेत्रं वसतिं वाणिज्यं कारयित्वा जीवन् ।
स्नात् शीतलनीरे पापं प्रचुरं समर्जयति ॥ २ ॥

कच्छ खेत्त वसदिं वाणिज्जं कारिऊण जीवंतो ।
ण्हंतो सीयलनीरे पाव पउर समज्जेदि ॥ २ ॥

पव्वज्जा एरिसा भणिया प्रव्रज्या दीक्षा ईदृशी भणिता ।

धणधण्णवत्थदाणं हिरण्णसयणासणाइ छत्ताइं ।
कुद्दाणविरहरहिया पव्वज्जा एरिसा भणिया ॥ ४६ ॥

धनधान्यवस्त्रदानं हिरण्यशयनासनादि छत्रादि ।
कुदानविरहरहिता प्रव्रज्या ईदृशी भणिता ॥

धणधण्णवत्थदाणं धनं गवादि, धान्यं गोधूमादि, वस्त्रं पट्टाम्बरादि एतेषां दानं विश्राणनं मुनयो न कुर्वन्ति । हिरण्णसयणासणाइ छत्ताइं हिरण्यं रूप्यघटितं नाणकं सुवर्णघटितं नाणकं ताम्ररूप्यमिश्रघटितं नाणकं केवलताम्रादिघटितं नाणकं हिरण्यमुच्यते तद्दानं मुनयो न कुर्वन्ति । शयनं अट्टशल्या खट्वा पल्यङ्कः तद्दानं मुनयो न कुर्वन्ति । आसनं पीठं आदिशब्दात् पल्लं, छत्रमातपत्रं आदिशब्दाद्ध्वजाचामरादिकं मुनयो न ददति । कुद्दाणविरहरहिया कुत्सितदानस्य विशेषेण रहस्त्यागस्तेन रहिता । पव्वज्जा एरिसा भणिया प्रव्रज्या दीक्षा ईदृशी भणिता श्रीगौतमस्वामिना वीरेण तीर्थकृता प्रतिपादिता । इत्यनेन येऽनन्तसरस्वतीनरसिंहभारतीमधुसूदनसरस्वतीप्रभृतयः सान्यासिका अपि सन्तः कुत्सितानि दानानि ददति तन्मतं निराकृतमिति भावः ।

सत्तूमित्ते य समा पसंसणिंदाअलद्धिलद्धिसमा ।
तणकणए समभावा पव्वज्जा एरिसा भणिया ॥ ४७ ॥

शत्रुमित्रे च समा प्रशंसानिन्दाऽलब्धिलब्धिसमा ।
तृणकनके समभावा प्रव्रज्या ईदृशी भणिता ॥

सत्तूमित्ते य समा शत्रौ वैरिणि, मित्रे सुहृदि समा रागद्वेषरहिता । पसंसणिंदाअलद्धिलद्धिसमा प्रशंसायां गुणस्तुतौ, निन्दायामवर्णवादे,

लब्धौ निरन्तरायभोजने, अलब्धौ भोजनान्तराय च समा सदृशी प्रव्रज्या भवति । **तणकणए समभावा** तृणे, कनके सुवर्णे च, समभावा अनादरादररहिता । **पव्वज्जा एरिसा भणिया** प्रव्रज्या ईदृशी भणिता चिरन्तनाचार्यैः प्रतिपादिता ।

उत्तममज्झिमगेहे दारिद्दे ईसरे णिरावेक्खा ।
सव्वत्थ गिहिदपिंडा पव्वज्जा एरिसा भणिया ॥ ४८ ॥

उत्तममध्यमगेहे दरिद्रे इश्वरे निरपेक्षा ।
सर्वत्र गृहीतपिण्डा प्रव्रज्या ईदृशी भणिता ॥

उत्तममज्झिमगेहे उत्तमगृहे उत्तुङ्गतोरणादिसहिते राजसदनादौ, मध्यमगेहे नीचैर्गृहे तृणपर्णादिनिर्मिते, निरपेक्षा उच्चैर्गृहे भिक्षार्थं गच्छामि नीचैर्गृहे अहं न व्रजामि न प्रविशामीत्यपेक्षारहिता प्रव्रज्या भवति । **दारिद्दे ईसरे णिरावेक्खा** दरिद्रस्य निर्धनस्य गृहं न प्रविशामि, इश्वरस्य धनवतो गृहं प्रविशाम्यहं निवशे इत्यपेक्षारहिता प्रव्रज्या भवति । **सव्वत्थ गिहिदपिंडा** सर्वत्र योग्यगृहे गृहीतपिण्डा स्वीकृताहारा प्रव्रज्या ईदृशी भवति । किं तदयोग्यं गृहं यत्र भिक्षा न गृह्यते इत्याह–

गायकस्य तलारस्य, नीचकर्मोपजीविनः ।
मालिकस्य विलिंगस्य वेश्यायास्तैलिकस्य च ॥ १ ॥

अस्यायमर्थः –गायकस्य गन्धर्वस्य गृहे न भुज्यते । तलारस्य कोटपालस्य, नीचकर्मोपजीविनः चर्मजलशकटादर्वाहकादेः श्रावकस्यापि गृहे न भुज्यते । मालिकस्य पुष्पोपजीविनः, विलिंगस्य भरटस्य, वेश्याया गणिकायाः, तैलिकस्य घाञ्चिकस्य ।

दीनस्य सूतिकायाश्च छिंपकस्य विशेषतः ।
मद्यविक्रयिणो मद्यपायिसंसर्गिणश्च न ॥ २ ॥

दीनस्य श्रावकोऽपि सन् यो दानं भाषते। सूतिकाया या बालकानां जननं कारयति। अन्यत्सुगमं।

शालिका मालिकश्चैव कुम्भकारस्तिलंतुद।
नापितश्चेति विज्ञेया पचते पञ्चकारव ॥ ३ ॥
रजकस्तक्षकश्चैव अयःसुवर्णकारक।
दृषत्कारादयश्चेति कारवो बहव स्मृता ॥ ४ ॥
क्रियते भोजनं गेहे यतिना मोक्तुमिच्छुना।
एवमादिकमप्यत्र चिन्तनीयं स्वचेतसा ॥ ५ ॥
वरं स्वहस्तेन कृतः पाको नान्यत्र दुर्दृशां।
मन्दिरे भोजनं यस्मात् सर्वं संपद्यते सगम ॥ ६ ॥

णिग्गंथा णिस्संगा णिम्माणासा अराय णिद्दोसा।
णिम्मम णिरहंकारा पव्वज्जा एरिसा भणिया ॥४९॥

निर्ग्रन्था निस्सङ्गा निर्मानाशा अरागा निर्दोषा।
निर्ममा निरहंकारा प्रव्रज्या ईदृशी भणिता ॥

णिग्गंथा परिग्रहरहिता अथवा नि आतशब्दवद्भि ग्रन्थे शास्त्रे सहिता निर्ग्रन्था। णिस्संगा स्त्रीप्रमुखसंगरहिता, अथवा निश्चिते शोभने अङ्गैर्द्वादशाङ्गैः संयुक्ता निस्संगा, अथवा निश्चितैरङ्गैरवयवैः शरीरैरुपाङ्गैश्च सहिता।

प्राप्तेन ज्ञातपीफकण्ठबद्धतिमणिना तेन मोहाज्झितेन
प्राग्विज्ञात सुदृशो द्विजनृपतिवणिग्वर्णपण्याङ्गपूर्णं।
भूभुल्लोकाविरुद्धं स्वजनपरिजनोन्मेचितो वीतमोह
श्चित्रापस्मारतो ह्याद्यगत इति च ज्ञातिसंकीर्तनाद्यैः ॥१॥

इति वीरनन्दिआचार्यकृतत्वात्। अथ कानि तान्यष्टाङ्गानीति चेत्—

णलया बाहू य तहा णियंबपुट्ठी उरं च सीसं च।
अट्ठेव दु अंगाइं सेसं उवंगाइं देहस्स ॥ १ ॥

---

१ कालका स। २ नि टा। ३ आचारसार द्वितीयपृष्ठे।
४ नलको बाहू च तथा नितम्बपृष्ठ उरश्च शीर्षं च।
अष्टैव तु अङ्गानि शेषाणि उपाङ्गानि देहस्य ॥ १ ॥

लब्धौ निरंतरायभोजने, अलब्धौ भोजनान्तराये च समा सदृशी प्रव्रज्या भवति । तणकणए सममावा तृणे, कनके सुवर्णे च, समभावा अनादरादररहिता । पव्वज्जा एरिसा भणिया प्रव्रज्या ईदृशी भणिता चिरंतनाचार्यैः प्रतिपादिता ।

उत्तममज्झिमगेहे दारिद्दे ईसरे णिरावेक्खा ।
सव्वत्थ गिहिदपिंडा पव्वज्जा एरिसा भणिया ॥ ४८ ॥

उत्तममध्यमगेहे दरिद्रे ईश्वरे निरपेक्षा ।
सर्वत्र गृहीतपिण्डा प्रव्रज्या ईदृशी भणिता ॥

उत्तममज्झिमगेहे उत्तमगृहे उत्तुङ्गतोरणादिसहिते राजसदनादौ, मध्यमगृहे नीचैर्गृहे तृणपर्णादिनिर्मिते, निरपेक्षा उच्चैर्गृहं भिक्षार्थं गच्छामि नीचैर्गृहं अहं न व्रजामि न प्रविशामीत्यपक्षरहिता प्रव्रज्या भवति । **दारिद्दे ईसरे णिरावेक्खा** दरिद्रस्य निर्धनस्य गृहं न प्रविशामि, ईश्वरस्य धनवतो गृहं प्रविशाम्यहं निरवशेषपक्षरहिता प्रव्रज्या भवति । **सव्वत्थ गिहिदपिंडा** सर्वत्र योग्यगृहे गृहीतपिण्डा स्वीकृताहारा प्रव्रज्या ईदृशी भवति । किं तदयोग्यं गृहं यत्र भिक्षा न गृह्यते इत्याह–

गायकस्य तलारस्य, नीचकर्मोपजीविनः ।
मालिकस्य विलिङ्गस्य वेश्यायास्तैलिकस्य च ॥ १ ॥

अस्यायमर्थः–गायकस्य गन्धर्वस्य गृहे न भुज्यते । तलारस्य कोटपालस्य, नीचकर्मोपजीविनः चर्मजलशाकुनादिवाहकादेः आरक्षकस्यापि गृहे न भुज्यते । मालिकस्य पुष्पोपजीविनः, विलिङ्गस्य भरटस्य, वेश्यायाः गणिकायाः, तैलिकस्य घाञ्चिकस्य ।

दीनस्य सूतिकायाश्च छिम्पकस्य विशेषतः ।
मद्यविक्रयिणो मद्यपायिसंसर्गिणश्च न ॥ २ ॥

सहत्यकार्येष्विति कोऽर्थः ? मुखादिकार्योत्पादकेषु मंत्रतंत्रादिसहकारिकारणेषु मिलित्वा । अथवा णिरहंकारा निरहं निरघं निष्पापं सर्वसावद्ययोगरहितत्वं यथा भवत्येवकारा, कस्य ? शुद्धबुद्धैकस्वभावस्य निजात्मस्वरूपस्य । आरात्समीपतो वर्तते कारा, चिच्चमत्कारलक्षणज्ञायकैकस्वभावटंकोत्कीर्णनिजात्मनि सल्लीना प्रव्रज्या भवतीति ज्ञातव्यं । "पापक्रियाविरमणं चरणं क्रियेति" वचनात् । पव्वज्जा प्रव्रज्या दीक्षा । **एरिसा** ईदृशी उक्तलक्षणा । भणिया गौतमस्वामिना प्रतिपादिता ।

णिण्णेहा णिल्लोहा, णिम्मोहा णिव्वियार णिक्कलुसा ।
णिब्भय णिरासभावा पव्वज्जा एरिसा भणिया ॥५०॥

नि स्नेहा निर्लोभा निर्मोहा निर्विकारा निष्कलुषा ।
निर्भया निराशभावा प्रव्रज्या ईदृशी भणिता ॥

णिण्णेहा नि स्नेहा पुत्रकलत्रमित्रादिस्नेहरहिता, अथवा तैलाद्यभ्यङ्गरहिता नि स्नेहा । **णिल्लोहा** हे मुने ! हे तपस्विन् ! तवेदं वस्तु वस्त्रादिकं दास्यामि मम गृहे भिक्षा गृह्यतां भवतेति लोभरहिता, अथवा सुवर्णरजतताम्रपत्रपुन्नागादिभाजनविवर्जिता निर्लोभा । **णिम्मोहा** दर्शनमोहो मिथ्यात्वं त्रिविधं चारित्रमोहः पंचविंशतिप्रकारस्तद्द्वाभ्यामपि रहिता निर्मोहा, अथवा निश्चिताया अकलङ्कदेवसमन्तभद्रविद्यानन्दिप्रभाचंद्रादिभिस्तार्किकैर्निर्धारिताया मायाः प्रत्यक्षपरोक्षलक्षणोपलक्षिताया प्रमाणद्वयस्य ऊहो वितर्को विचारणा यस्या प्रव्रज्यायां सा निर्मोहा । **णिव्वियार** निर्विकारा वस्त्राभरणादिवेषविकाररहिता निर्विकारा, अथवा निश्चितो विचारो विवेको भेदज्ञान यस्या सा निर्विचारा, आत्मा पृथक् कर्म पृथक् इति विवेकोपेता । उक्तं च—

१ नि टी

कुरूपिणो हीनाधिकाङ्गस्य कुष्ठादिरोगिणश्च प्रव्रज्या न भवति। णिम्माणासा निर्माना अष्टमदरहिता, निराशा आशारहिता। उक्तं च—

आशागर्तः प्रतिप्राणि यस्मिन् विश्वमणूपमम्।
कस्य किं कियदायाति वृथा वो विषयैषिता॥ १॥

अथवा—

आशा दासीकृता येन तेन दासीकृतं जगत्।
आशाया यो भवेद्दासः स दासः सर्वदेहिनाम्॥ १॥

निरङ्गा अङ्गरहिता तदुपलक्षणं गजतुरगादीनां। अराय रागरहिता, अथवा प्रव्रज्याया राजभिः सह स्नेहादिकं न कर्तव्यं, तदुपलक्षणं मन्त्र्यादीनां प्रत्यक्षनरकपातबद्धयाप्यनादरात्, केचिच्च जिन धर्मप्रभावनार्थं मुनीनां सुस्थित्यर्थं च तन्निषेधं न कुर्वन्ति म्लेच्छादिपी डानिराकरणहेतुत्वात्। णिद्दोसा अप्रीतिलक्षणद्वेषरहिता, अथवा वात पित्तश्लेष्मादिदोषरहितस्य प्रव्रज्या भवतीति निर्दोषा। णिम्मम निर्ममा ममेति शब्दोऽव्ययः निर्गतं ममेति यस्याः प्रव्रज्यायां सा निर्ममा, अथवा मश्च मा च ममे निर्गते ममे द्वे यस्याः सा निर्ममा मद्यमांसमधुमकाररहिता लक्ष्मीस्वीकाररहिता चेत्यर्थः। तथा चोक्तं—

अकिंचनोऽहमित्यास्स्व त्रैलोक्याधिपतिर्भवेः।
योगिगम्यं तव प्रोक्तं रहस्यं परमात्मनः॥ १॥

णिरहंकारा अहङ्काररहिता कर्मोदयप्रधाना सुखं वा दुःखं वा जीवस्य कर्मोदयेन भवति मयेदं कृतमित्यहङ्कारो न कर्तव्यमित्यर्थः। तथा चोक्तं समन्तभद्रेण तार्किकशिरोमणिना—

अलंघ्यशक्तिर्भवितव्यतेयं हेतुद्वयाविष्कृतकार्यलिङ्गा।
अनीश्वरो जन्तुरहं क्रियार्तः संहत्य कार्येष्विति साध्ववादीः॥१॥

१ य आशाया टी। २ नि टी।

मानुष्यं सत्कुले जन्म लक्ष्मीर्बुद्धिः कृतज्ञता ।
विवेकेन विना सर्वं सदप्येतन्न किंचन ॥ १ ॥

अन्यच्च—

आत्मा भिन्नस्तदनुगतिमत्कर्म भिन्नं तयोर्या
प्रत्यासत्तेर्भवति विकृतिः सापि भिन्ना तथैव ।
कालक्षेत्रप्रमुखमपि यत्तच्च भिन्नं मतं मे
भिन्नं भिन्नं निजगुणकलालंकृतं सर्वमेतत् ॥ १ ॥

णिक्कलुसा निष्कलुषा निष्पापा । णिब्भय निर्भया सप्तभयरहिता । णिरासभावा निराशाभावा आशारहितस्वभावा । पव्वज्जा एरिसा भणिया प्रव्रज्या ईदृशी भणिता आत्मभावनाधनेनेति शेषः ।

जहजायरूवसरिसा अवलंबियभुअ णिराउहा संता ।
परकियनिलयनिवासा पव्वज्जा एरिसा भणिया ॥ ५१ ॥

यथाजातरूपसदृशा अवलम्बितभुजा निरायुधा शान्ता ।
परकृतनिलयनिवासा प्रव्रज्या ईदृशी भणिता ॥

जहजायरूवसरिसा यथाजातरूपसदृशा नग्नरूपा इत्यर्थः । अवलंबियभुअ अवलम्बितभुजा प्रायेण कायोत्सर्गस्थिता पद्मासनादिस्थिता वा । पद्मासनं किं[१]—

संन्यस्ताभ्यामधोऽङ्घ्रिभ्यामूर्वोरुपरि युक्तितः ।
भवेच्च समगुल्फाभ्यां पद्मवीरसुखासनम् ॥ १ ॥

तत्र सुखासनस्येदं लक्षणं—

गुल्फोत्तानकराङ्गुष्ठरेखारोमालिनासिकाः ।
समदृष्टिः समाः कुर्यान्नातिस्तब्धो न वामनः ॥ २ ॥

णिराउहा निरायुधा दण्डाद्यायुधरहिता, अथवा निरायुधां प्राभृतान्

1 नि टी । २ सम्यग्दृष्टिः समाः कुर्यात् ख पुस्तके पाठः ।

प्रव्रज्या दीक्षा ईदृशी भणिता प्रतिपादिता चतुर्विंशतितमेन तीर्थ-कृतेति शेषः ।

जिणमग्गे पव्वज्जा छहसंघयणेसु भणिय णिग्गंथा ।
भावंति भव्वपुरिसा कम्मक्खयकारणे भणिया ॥ ५४ ॥

जिनमार्गे प्रव्रज्या षट्संहननेषु भणिता निर्ग्रन्था ।
भावयन्ति भव्यपुरुषाः कर्मक्षयकारणे भणिता ॥

जिणमग्गे पव्वज्जा जिनमार्गे आर्हतशासने प्रव्रज्या दीक्षा । **छहसंघयणेसु** षट्संहननेषु वज्रर्षभनाराचवज्रनाराचनाराचार्धनाराच-कीलिकाप्राप्तासृपाटिकनामसु षट्सु संहननेषु । **भणिय णिग्गंथा** भणिता प्रतिपादिता श्रीन्द्रभूतिनामगणधरदेवेनेति शेषः । कथंभूता भणिता, *निग्रन्था यथाजातरूपधारिणी यतोऽस्मिन् क्षेत्रेऽन्त्यो निर्ग्रन्थो वीराङ्गजो यो भविष्यति पञ्चमकालस्यान्ते स किलाप्राप्तासृपाटिको संहननो भविष्यति तेन षष्ठेऽपि संहनने निग्रन्थप्रव्रज्या ज्ञातव्या ।* **भावंति भव्वपुरिसा** भावयन्ति मानयन्ति एतद्वचनं, के? भव्यपुरुषा आसन्न-भव्यजीवाः । **कम्मक्खयकारणे भणिया** पारम्पर्येण कर्मक्षयकारणे मोक्षप्राप्तिनिमित्तं भणिता प्रतिपादिता ।

तिलओसत्तनिमित्तं समबाहिरगंथसंगहो णत्थि ।
पावज्ज हवइ एसा जह भणिया सव्वदरिसीहिं ॥ ५५ ॥

तिलकोश[1]मात्रं समबाह्यग्रन्थसंग्रहो नास्ति ।
प्रव्रज्या भवति एषा यथा भणिता सर्वदर्शिभिः ॥

तिलओसत्तनिमित्तं तिलस्य पितृप्रियबीजस्य कोशान्यमात्रं तिलतुषमात्रमपि अश्रमणपरिग्रहः । **समबाहिरगंथसंगहो णत्थि**

[1] अत्रस्थले सर्वत्र एतादृगेव पाठः ।

विवरीयमूढभावा विपरीतमूढभावा विशेषेण परि समन्तात् इतो गतो नष्टो मूढभावो जडतास्वरूपं यस्या सा विपरीतमूढभावा। पणट्ठकम्मट्ठ णट्ठमिच्छत्ता प्रणष्टानि कर्माण्यष्टौ यस्या सा प्रणष्टकर्माष्टा नष्टमिथ्यात्वा पंचमिथ्यात्वरहिता। उक्तं च—

> एयंत बुद्धदरिसी विवरीओ बंभ तावसो विणओ।
> इंदो वि य संसयिदो मक्कडियो चेव अण्णाणी॥ १॥

अस्या अयमर्थः—सर्वथा क्षणिकवादी बुद्धः। ब्रह्मवादी विपरीतः आत्मानं शाश्वतमेवैकं तेन मन्यते। तापसो वैनयिकः सर्वविनयेन मोक्षं मन्यते गुणदोषविचारणा तन्मते नास्ति। इन्द्रचन्द्रनागेन्द्रवादी संशयमिथ्यादृष्टिः श्वेताम्बरजैनाभासाश्च। संशयवादी किमेवं मन्यते—

> सेयंबरो य आसंबरो य बुद्धो य तह य अण्णो य।
> समभावभावियप्पा लहेइ मोक्खं ण संदेहो॥ १॥

मस्करपूरण एवमेवं वदति—

> अण्णाणादो मोक्खं णाणं णत्थित्ति मुक्कजीवाणं।
> पुणरागमणं भमणं भवे भवे णत्थि जीवाणं॥ १॥

सम्मत्तगुणविसुद्धा सम्यक्त्वमेव गुणस्तेन विशुद्धा निर्मला, अथवा सम्यक्त्वगुणैर्निःशङ्कितनिःकांक्षितनिर्विचिकित्सितामूढदृष्ट्युपगूहनस्थिती-करणवात्सल्यप्रभावनालक्षणैरष्टभिः सम्यक्त्वगुणैर्विशुद्धा विशेषेण निर्मला पंचविंशतिदोषरहिता सम्यक्त्वगुणविशुद्धा। पव्वज्जा एरिसा भणिया

१ एकान्तो बुद्धदर्शी विपरीतो ब्राह्मणः तापसः विनयः।
इन्द्रोऽपि च संशयितः मस्करी चैवाज्ञानी॥ १॥

२ अस्याः छाया पूर्वं द्वादशमे सूत्रे गता।

३ अज्ञानतो मोक्षं ज्ञानं नास्तीति मुक्तजीवानाम्।
पुनरागमनं भ्रमणं भवे भवे नास्ति जीवानाम्॥ १॥

ध्यायेन वाचनापृच्छनानुप्रेक्षाम्नायधर्मोपदेशलक्षणेन पचविधेन युक्ता प्रव्रज्या भवति, ध्यानेन धर्म्यध्यानशुक्लध्यानद्वयेन युक्ता आर्त्तरौद्रदुर्ध्यानद्वयरहिता। **पव्वज्जा एरिसा भणिया** प्रव्रज्या जैनी दीक्षा ईदृशी एतल्लक्षणविराजमाना भणिता प्रतिपादिता अकलङ्कदेवैनेति शेषः।

तववयगुणेहिं सुद्धा संजमसम्मत्तगुणविसुद्धा य।
सुद्धा गुणेहिं सुद्धा पव्वज्जा एरिसा भणिया ॥ ५८ ॥

तपोव्रतगुणैः शुद्धा संयमसम्यक्त्वगुणविशुद्धा च।
शुद्धा गुणैः शुद्धा प्रव्रज्या ईदृशी भणिता॥

तववयगुणेहिं सुद्धा तपोभिरिच्छानिरोधलक्षणैर्द्वादशभिः, व्रतैरहिंसादिभिः पंचाभि· रात्रिभोजनपरिहारव्रतषष्ठैः, गुणैश्चतुरशीतिलक्षलक्षणैः शुद्धा उज्वला। **संजमसम्मत्तगुणविसुद्धा य** संयमा इन्द्रियप्राणसंयमलक्षणा द्वादश, सम्यक्त्वानि दशप्रकाराणि द्वित्रिप्रकाराणि च, ते च ते गुणा आत्मोपकारकाः परिणामविशेषास्तैर्विशुद्धा निर्मला प्रव्रज्या भवति। निसर्गजमधिगमजं सम्यक्त्वं द्विविधं, उपशमवेदकक्षायिकभेदात्सम्यक्त्वं त्रिविधं।

"आज्ञामार्गसमुद्भवमुपदेशात्सूत्रबीजसंक्षेपात्।
विस्ताराथोभ्यां भवमवपरमावगाढे च"

इत्यार्षकथिताः सम्यक्त्वस्य दशप्रकारा ज्ञातव्याः। तद्विवरणं वृत्तत्रयं यथा—

आंज्ञासम्यक्त्वमुक्तं यदुत विरुचितं वीतरागाज्ञयैव
त्यक्तग्रन्थप्रपंचं शिवममृतपथं श्रद्दधन्मोहशान्तेः।
मार्गश्रद्धानमाहुः पुरुषवरपुराणोपदेशोपजाता
या सञ्ज्ञानागमाब्धिप्रसृतिभिरुपदेशादिरादेशि दृष्टिः॥ १॥

---

१ द्वादशमे पृष्ठेऽप्युक्ता। २ एते त्रय श्लोका त्रयोदशमे पृष्ठेऽप्युक्ताः सविवरणाः।

तिलतुषमात्रसमोऽपि बाह्यग्रन्थस्य संग्रहो नास्ति न विद्यते। पावज्ज हवइ एसा प्रव्रज्या भवत्येषा। जह भणिया सव्वदरिसीहिं यथा भणिता सर्वदर्शिभिः सर्वज्ञदेवैरिति।

उवसग्गपरिसहसहा णिज्जणदेसे हि णिच्च अत्थेइ।
सिल कट्टे भूमितले सव्वे आरुहइ सव्वत्थ॥ ५६॥

उपसर्गपरीषहसहा निर्जनदेशेहि नित्यं तिष्ठति।
शिलायां काष्ठे भूमितले सर्वाणि आरोहति सर्वत्र॥

उवसग्गपरिसहसहा उपसर्गाश्च तिर्यग्मानवदेवाचेतनभयाश्चतुःप्रकाराः, परीषहाश्च पूर्वोक्ता द्वाविंशतिः उपसर्गपरीषहास्तान् सहते तेषु वा सहा समर्था उपसर्गपरीषहसहा। णिज्जणदेसे हि णिच्च अत्थेइ निर्जनदेशे मनुष्यरहितप्रदेशे वने हि-स्फुटं नित्यं तिष्ठति। सिल कट्टे भूमितले शिलायां दृषदि, काष्ठे दारुफलके, भूमितले भूमौ तृणायां वा। सव्वे आरुहइ सव्वत्थ एतानि सर्वाणि, आरोहति उपविशति शेते च सर्वत्र वने ग्रामनगरादौ वा।

पसुमहिलसंढसंगं कुसीलसंगं ण कुणइ विकहाओ।
सज्झायझाणजुत्ता पव्वज्जा एरिसा भणिया॥ ५७॥

पशुमहिलाषण्ढसंगं कुशीलसंगं न करोति विकथाः।
स्वाध्यायध्यानयुक्ता प्रव्रज्या ईदृशी भणिता॥

पसुमहिलसंढसंगं यत्र पशवो भवन्ति तत्र न स्थीयते, यत्र महिला भवति यत्र षंढा नपुंसकानि भवन्ति तत्र न स्थीयते। कुसीलसंगं ण कुणइ विकहाओ कुशीलस्य कुत्सिताचारस्य सापुलोकशिक्षापरा ङ्मुखस्य संगं न करोति—तत्संगतो दुर्ध्यानमुत्पद्यते, न करोति विकथाश्च राजकथास्त्रीकथाभोजनकथाचोरकथाश्चेति। सज्झायझाणजुत्ता स्वा-

आकर्ण्याचारसूत्रं मुनिचरणविधेः सूचनं श्रद्दधानः
सूक्तासौ सूत्रदृष्टिर्दुरधिगमगतेरर्थसार्थस्य बीजैः ।
कैश्चिज्जातोपलब्धेरसमशमवशाद्बीजदृष्टिः पदार्थान्
सक्षेपेणैव बुद्ध्वा रुचिमुपगतवान् साधु सक्षेपदृष्टिः ॥ २ ॥
यः श्रुत्वा द्वादशाङ्गीं कृतरुचिरिह तं विद्धि विस्तारदृष्टिं
सञ्जातार्थात्कुतश्चित्प्रवचनवचनान्यन्तरेणार्थदृष्टिः ।
दृष्टिः साङ्गाङ्गबाह्यप्रवचनमवगाह्योत्थिता याऽवगाढा
कैवल्यालोकितार्थे रुचिरिह परमावादिगाढेति रूढा ॥ ३ ॥

सुद्धा गुणेहिं सुद्धा या प्रव्रज्या गुणैः कृत्वा शुद्धा सा शुद्धा कथ्यते न तु वेषमात्रेण शुद्धाऽस्यते । पव्वज्जा एरिसा भणिया प्रव्रज्या दीक्षेदृशी भणिता प्रतिपादिता शान्तिनाथेनेति शेषः ।

एवं आयत्तणगुणपज्जत्ता बहुविसुद्धसम्मत्ते ।
णिग्गंथे जिणमग्गे संखेवेणं जहाखादं ॥ ५९ ॥

एवं आत्मत्वगुणपर्याप्ता बहुविशुद्धसम्यक्त्वे ।
निर्ग्रन्थे जिनमार्गे संक्षेपेण यथाख्यातम् ॥

एवं पूर्वोक्तप्रकारेण । आयत्तणगुणपज्जत्ता आत्मत्वगुणपर्याप्ता, परिपूर्णा, आत्मभावनागुणरहितेयं प्रव्रज्या परिपूर्णा न भवति, आत्मगुणभावनासहिता तु स्तोकापि प्रव्रज्या पर्याप्ता सम्पूर्णा भवतीति भावार्थः । बहुविसुद्धसम्मत्ते बहुविशुद्धसम्यक्त्वे मुनौ प्रव्रज्या पर्याप्ता भवति मिथ्यात्वदूषिते तु नग्नेऽपि मुनौ दीक्षा अदीक्षा भवति संसारविच्छेदरहितत्वात् । उत्कृष्टतया नवमग्रैवेयकपदं लब्ध्वापि मिथ्यादृष्टयस्तत्परिहीन पुनः संसारं पतन्तीति ज्ञात्वा पुनः पुनः भणामि सम्यक्त्वव्रता मुनिना भवितव्यं । उक्तं चाननैव भगवता कुन्दकुन्दाचार्येण—

सम्म चेव य भावे मिच्छाभावे तहेव बोद्धव्वा ।
चइऊण मिच्छभावे सम्मम्मि उवट्ठिदे वंदे ॥ १ ॥

१ सम्यक् एव भावा मिथ्यात्वभावाः तथैव बोद्धव्याः
त्यक्त्वा मिथ्यात्वभावान् सम्यक्त्वे उपस्थितान् वन्दे ॥

उद्यानादिश्रितां छायामपास्य स्वां तपो स्वधात् ।
यतोऽयमत एवास्य स्याद्दोषमहाद्रुमः ॥ १९ ॥
स्व स्वापतेयमुचितं त्यक्त्वा निर्ममतामित ।
स्वयं निधिभिरभ्येत्य सेव्यते द्वारि दूरतः ॥ २० ॥
गृहशोभां कृतारक्षां दूरीकृत्य तपस्यत ।
श्रीमण्डपादिशोभ स्य स्वतोऽभ्येति पुरोगता ॥ २१ ॥
तपोयोगादनादस्य महतान्यधितिष्ठतः ।
त्रिजगज्जनतास्थानसह स्याद्यगादनं ॥ २२ ॥
क्षेत्रवास्तुन्यपास्यस्य स्वैरमस्यसमुपेयुष ।
स्वाधीन त्रिजगत्क्षेममस्यापजायते ॥ २३ ॥
आज्ञाभिमानमुत्सृज्य मौनमास्थितवानय ।
प्राप्नोति परमामाज्ञां सुरासुरशिरोधृता ॥ २४ ॥
स्वामिष्टभृत्यबन्ध्वादिसमाम् सृष्टवानय ।
परमाप्त्यपदप्राप्तावप्यास्ते त्रिजगत्सभां ॥ २५ ॥
स्वगुणोत्कीर्तनं त्यक्त्वा त्यक्तकामो महातपाः ।
स्तुतिनिन्दासमो भूयः कार्त्यते भुवनेश्वरैः ॥ २६ ॥
वन्दित्वा वन्द्यमर्हन्त यतोऽनुष्ठितवांस्तप ।
ततोऽयं वन्द्यते वन्द्यैरनिन्द्यगुणसन्निधिः ॥ २७ ॥
तपोऽयमनुप न कः पादचारी विवाहनः ।
कृतवान् पद्मगर्भेषु चरण न्यासमर्हति ॥ २८ ॥
वाग्गुप्तो हितवाग्वृत्त्या यतोऽय तपसि स्थितः ।
ततोऽस्य दिव्यभाषा स्यात्प्रीणयन्ती जगत्सभां ॥ २९ ॥
अनाश्वानियत्त ऽऽहारपारणोऽतप्यतत्तप ।
तदस्य दिव्यविजयपरमामृततृप्तय ॥ ३० ॥
त्यक्तकामसुखो भूत्वा तपस्यस्थ चिरं यतः ।
ततोऽय सुखसाद्भूत परमानन्दथुं भजेत् ॥ ३१ ॥
किमत्र बहुनोक्तेन यद्यदिष्ट यथाविध ।
त्यजेन्मुनिरसेवत्वपस्तत्तत् सुतेऽस्य तत्तप ॥ ३२ ॥

प्राप्तोत्कर्षं तदस्य स्यात्तपश्चिन्तामणेः फलं।
यतोऽर्हज्जातिमूर्त्यादिप्राप्तिः सैवानुवर्णिता ॥ ३३ ॥
जैनेश्वरीं परामाज्ञां सूत्रोद्दिष्टां प्रमाणयन्।
तपस्यां यदुपादत्ते पारिव्राज्यं तदाञ्जसं ॥ ३४ ॥
अन्यच्च बहुवाग्जाले निबद्धं युक्तिबाधितं।
पारिव्राज्यं परित्याज्यं ग्राह्यं चेदमनुत्तरं ॥ ३५ ॥

पंचत्रिंशच्छ्लोकैः प्रव्रज्या वर्णिता।

इति श्रीबोधप्राभृते प्रव्रज्याधिकार एकादशः समाप्तः। ११।

अथेदानीं बोधप्राभृतस्य चूलिकां गाथात्रयेण निरूपयन्ति—

रूवत्थं सुद्धत्थं जिणमग्गे जिणवरेहिं जह भणियं।
भव्वजणबोहणत्थं छक्कायहियंकरं उत्तं ॥ ६० ॥

रूपस्थं शुद्धयर्थं जिनमार्गे जिनवरैर्यथा भणितम्।
भव्यजनबोधनार्थं षट्कायहितंकरं-उक्तम् ॥

रूवत्थं सुद्धत्थं रूपस्थं निग्रन्थरूपस्थितमाचरणं मयोक्तमितिसम्बन्धः। किमर्थं भणितं, **सुद्धत्थं**—शुद्धयर्थं कर्मक्षयनिमित्तं। **जिणमग्गे जिणवरेहिं जह भणियं** जिनमार्गे जिनशासने जिनवरैस्तीर्थंकरपरमदेवैर्गौतमान्तगणधरदेवैश्च *यथा येन प्रकारेण भणितं।* **भव्वजणबोहणत्थं** आसन्नभव्यजीवसम्बोधनार्थं। **छक्कायहियंकरं उत्तं** षट्कायहितंकरं सर्वजीवदयाप्रतिपालनार्थं उक्तं निरूपितम्।

सद्दवियारो हूओ भासासुत्तेसु जं जिणे कहियं।
सो तह कहियं णायं सीसेण य भद्दबाहुस्स ॥ ६१ ॥

शब्दविकारो भूतः भाषासूत्रेषु यत् जिनेन कथितम्।
तत् तथा कथितं ज्ञातं शिष्येण च भद्रबाहोः ॥

सद्दवियारो हूओ शब्दविकारो भूतोऽर्हद्ध्वनिनिर्गतः। **भासासुत्तेसु जं जिणे कहियं** सर्वार्धमागधीभाषासूत्रेषु यज्जिनेन कथितं श्री-

धीरेणार्थरूपं शास्त्रं कथितं । **सो तह कहियं णायं** तत्तथा कथितं ज्ञातमवगतं । **सीसेण य भद्दबाहुस्स** केन ज्ञातं [1] शिष्येणान्तेवासिना भद्रबाहुशिष्येण अर्हद्वलिगुप्तिगुप्तापरनामद्वयेन विशाखाचार्यनाम्ना दशपूर्वधारिणामेकादशानामाचार्याणां मध्ये प्रथमेन ज्ञातं ।

बारसअंगवियाणं चउदसपुव्वंगविउलवित्थरणं ।
सुयणाणिभद्दबाहू गमयगुरूभयवओ जयओ ॥६२॥

द्वादशाङ्गविज्ञानः चतुर्दशपूर्वाङ्गविपुलविस्तरणः ।
श्रुतज्ञानिभद्रबाहुः गमकगुरुः भगवान् जयतु ॥

बारसअंगवियाणं द्वादशाङ्गविज्ञानयुक्तः । **चउदसपुव्वंगविउलवित्थरणं** चतुर्दशानां पूर्वाङ्गानां पूर्वाणां विपुलं पृथु विस्तरणं यस्य स चतुर्दशपूर्वाङ्गविपुलविस्तरणः । **सुयणाणिभद्दबाहू** पञ्चानां श्रुतकेवलिनां मध्येऽन्त्यो भद्रबाहुः । **गमयगुरूभयवओ जयओ** यादृशः सूत्रेऽर्थस्तादृशो वाक्यार्थस्तं जानन्तीति गमकास्तेषां गुरुरुपाध्यायो भगवान् इन्द्रादीनामाराध्यो जयतु सर्वोत्कर्षेण वर्ततां तस्मायैऽस्माकं नमस्कार इत्यर्थः ।

इति श्रीपद्मनन्दिकुन्दकुन्दाचार्यवक्रग्रीवाचार्यैलाचार्यगृद्धपिच्छाचार्यनामपञ्चकविराजितेन श्रीसीमन्धरस्वामिज्ञानसंबोधितभव्यजनेन श्रीजिनचन्द्रसूरिभट्टारकपट्टाभरणभूतेन कलिकालसर्वज्ञेन विरचिते षट्प्राभृतग्रन्थे सर्वमुनिमण्डलीमण्डितेन कलिकालगौतमस्वामिना श्रीमल्लिभूषणेन भट्टारकेणानुमतेन सकलविद्वज्जनसमाजसम्मानितेनोभयभाषाकविचक्रवर्तिना श्रीविद्यानन्दिगुर्वन्तेवासिना सूरिवरश्रीश्रुतसागरेण विरचिता बोधप्राभृतस्य टीका परिसमाप्ता ।

---

[1] अस्मादग्रे " चतुर्थं परिच्छेदं " इति पाठः टीकापुस्तके वर्तते ।

भावप्राभृतम् ।



अथेदानीं भावप्राभृतं कुर्वन्त श्रीकुन्दकुन्दाचार्या इष्टदेवता नमस्कुर्वन्ति—

णमिऊण जिणवरिंदे णरसुरभवणिंदवंदिए सिद्धे ।
वोच्छामि भावपाहुडमवसेसे संजदे सिरसा ॥ १ ॥

नमस्कृत्वा जिनवरेन्द्रान् नरसुरभवनेन्द्रवन्दितान् सिद्धान् ।
वक्ष्यामि भावप्राभृत–मवशेषान् संयतान् शिरसा ॥

णमिऊण जिणवरिंदे नमस्कृत्य, कान्[1] जिनवरेन्द्रान् सप्तप्रकृतिक्षयेण क्षायिकदर्शना जिना सदृश्य आरभ्याद्य एकादशगुणस्थानवर्तिन क्षीणकषायाश्च सयोगकेवलिपर्यन्ता जिना उच्यन्ते गणधरदेवाश्च तेषां मध्ये वरा श्रेष्ठा अपरकेवलिनश्च तेषामिन्द्रा स्वामिनस्तीर्थंकरपरमदेवा जिनवरेन्द्रा कथ्यन्ते तान् नत्वा । कथंभूतान् जिनवरेन्द्रान्, णरसुरभवणिंदवंदिए नरेन्द्रसुरेन्द्रभवनेन्द्रवन्दितान् । सिद्धे ताश्चशिरसोपणिशिष्टान् सिद्धांश्च नत्वा । वोच्छामि भावपाहुडं वक्ष्यामि कथयिष्यामि, किं तद्भावप्राभृतं भावसारग्रन्थं । न केवलमर्हत्सिद्धान् वन्दित्वाऽपि तु अवसेसे संजदे अवशेषान् संयतान् आचार्योपाध्यायसर्वसाधून् त्रिविधान् मुनीन् नत्वा । कथं, सिरसा उत्तमाङ्गेन जानुरूर्पर शिर पञ्चकेन प्रणिपत्येत्यर्थ ।

भावो य पढमलिंगं ण दव्वलिंगं च जाण परमत्थं ।
भावो कारणभूदो गुणदोसाणं जिणा बिंति[2] ॥२॥

1 धरमपूर्व 'ॐ नम सिद्धेभ्य' इति पाठ टीका पुस्तके 2 गुणा च गुणिन । 3 विंति–ब्रुवन्ति च ।

भावस्य प्रथमलिङ्गं न द्रव्यलिङ्गं च जानीहि परमार्थम् ।
भावं कारणभूतं गुणदोषाणां जिना बिदन्ति ॥

भावो य पढमलिंगं भावश्च प्रथमलिंग प्रथम दीक्षाचिन्ह भावो भवति । चकाराद्द्रव्यलिंगं धृत्वा भावलिंगं प्रकटं क्रियते यथाऽपत्योत्पादनेन पुरुषशक्तिः प्रकटीभवति तथा द्रव्यलिंगिनो मुनेर्भावलिंगं प्रकटं भवति पुरुषशक्तेर्भावस्य च लोचनानामगोचरत्वात् । उक्तं चेन्द्रनन्दिना भट्टारकेण समयभूषणप्रवचने—

द्रव्यलिंगं समास्थाय भावलिंगी भवेद्यतिः ।
विना तेन न वन्द्यः स्यान्नानाव्रतधरोऽपि सन् ॥१॥
द्रव्यलिंगमिदं ज्ञेयं भावलिंगस्य कारणं ।
तदध्यात्मकृतं स्पष्टं न नेत्रविषयं यतः ॥२॥
मुद्रा सर्वत्र मान्या स्यान्निर्मुद्रो नैव मान्यते ।
राजमुद्राधरोऽत्यन्तहीनवच्छास्त्रनिर्णयः ॥३॥

ण दव्वलिंगं च जाण परमत्थं द्रव्यलिंगे सति भावं विना परमार्थसिद्धिर्न भवति तेन कारणेन द्रव्यलिंगं परमार्थसिद्धिकरं न भवति मोक्षं न प्रापयति, तेन कारणेन द्रव्यलिंगपूर्वकं भावलिंगं धर्तव्यमिति भावार्थः । ये तु गृहस्थवेषधारिणोऽपि वयं भावलिंगिनो वर्तामहे दीक्षायामन्तर्भावत्वात्ते मिथ्यादृष्टयो ज्ञातव्या विशिष्टजिनलिंगविद्वेषित्वात्, योद्धुमिच्छवः कातरवत्स्वयं नश्यन्ति, अपरानपि नाशयन्ति, ते मुख्यव्यवहारधर्मलोपकत्वाद्विशिष्टैर्दण्डनीयाः । **भावो कारणभूदो** भावं परममुक्तिकारणभूतं । **गुणदोसाणं** गुणानां केवलज्ञानादीनां, दोषाणां नरकपातादीनां च कारणभूतो भाव एव । यदि द्रव्यलिंगं धृत्वा रागद्वेषमोहादिषु पतति मुनिस्तदा स तस्य भावः संसारकारणं भवति । यदि द्रव्यलिंगं धृत्वा नीरागनिर्द्वेषनिर्मोहभावनां भावयति तदा केवल-

ज्ञानादीन् गुणानुत्पादयति मुक्तिं गच्छति । एतदर्थं जिणा विंति केवलिनो जानन्ति ।

भावविसुद्धिणिमित्तं बाहिरगंथस्स कीरए चाओ ।
बाहिरचाओ विहलो अब्भन्तरगंथजुत्तस्स ॥३॥

भावविशुद्धिनिमित्तं बाह्यग्रन्थस्य क्रियते त्यागः ।
बाह्यत्यागो विफलः अभ्यन्तरग्रन्थयुक्तस्य ॥

भावविसुद्धिनिमित्तं भावस्यात्मनो विशुद्धिनिमित्तं कारणं । बाहिरगंथस्स कीरए चाओ. बाह्यग्रन्थस्य क्रियते त्यागः धनादेर्मोचनं विधीयते । बाहिरचाओ विहलो बाह्यत्यागो विफलोऽन्तर्गडुर्भवति । अब्भंतरगंथजुत्तस्स अभ्यन्तरपरिग्रहयुक्तस्य नग्नस्यापि यस्मादेराकांक्षायुक्तस्यैति भावः । तथा चोक्तं—

बाह्यग्रन्थविहीना दरिद्रमनुजाः स्वपापतः सन्ति ।
यः पुनरन्तःसंगत्यागी लोके स दुर्लभः साधुः ॥ १ ॥

भावरहिओ न सिज्झइ जइ वि तवं चरइ कोडिकोडीओ ।
जम्मंतराइं बहुसो लंवियहत्थो गलियवत्थो ॥४॥

भावरहितो न सिद्ध्यति यद्यपि तपश्चरति कोटकोटी ।
जन्मान्तराणि बहुशः लम्बितहस्तो गलितवस्त्रः ॥

भावरहिओ न सिज्झइ भवरहित आत्मस्वरूपभावनारहितो मिथ्यत्वकषायभावनासहितस्तपस्वी अपि न सिद्ध्यति न सिद्धिं प्राप्नोति । जइ वि[१] तवं चरइ कोडिकोडीओ यद्यपि तपश्चरति करोति कोटीकोटी । जम्मंतराइं जन्मान्तराणि । बहुशोऽनेककोटीकोटीजन्मान्तराणि । कथंभूतः सन्, लंवियहत्थो अधोमुक्तबाहुद्वयः । गलियवत्थो नग्नमुद्राधरोऽपि सन् ।

१ विफलो. ग. । २ संग. ग. घ. । ३ ब. टी. ।

परिणामम्मि असुद्धे गंथे मुच्चेइ बाहरे य जई।
बाहिरगंथच्चाओ भावविहूणस्स किं कुणइ ॥ ५॥

परिणामे अशुद्धे ग्रन्थान् मुञ्चति बाह्यान् च यदि।
बाह्यग्रन्थत्यागो भावविहीनस्य किं करोति ॥

परिणामम्मि असुद्धे परिणामे मनोव्यापारेऽशुद्धेऽपि विषय-कषायादिभिर्मलिने सति। **गंथे मुच्चेइ बाहिरे य जई** ग्रन्थान् मुञ्चति परिग्रहान् वस्त्रादीन् त्यजति यतिर्जिनलिंगधारी मुनि। **बाहिरगंथच्चाओ** बाह्यग्रन्थत्यागो वस्त्रादित्यजन। **भावविहूणस्स किं कुणइ** भावविहीनस्यात्मभावनारहितस्य बहिरात्मनो जीवस्य किं करोति, न किमपि कर्म संवरनिर्जरालक्षण कार्यं करोतीति भावार्थ।

जाणहि भावं पढमं किं ते लिंगेण भावरहिएण।
पंथिय सिवउरिपंथं जिणउवइट्ठं पयत्तेण ॥ ६॥

जानीहि भाव प्रथम किं ते लिङ्गेन भावरहितेन।
पथिक! शिवपुरिपथ जिनोपदिष्टः प्रयत्नेन ॥

• **जाणहि भावं पढमं** जानीहि भावमात्मस्वरूपभावना प्रथम मुख्य। **किं ते लिंगेण भावरहिएण** किं तव लिंगेन भावरहितेन किं, न किमपि संवरनिर्जरादिलक्षणं कार्यं, अपि तु न किमपि कार्यं भवति लिंगेन वस्त्रादित्यजनलक्षणेनात्मस्वरूपभावनारहितेन। **पंथिय** हे पथिक! मोक्षमार्गमार्गक! **सिवउरिपंथं** मोक्षनगरीमार्ग। **जिण-उवइट्ठं** जिनोपदिष्ट। प्रयत्नेन यत कारणादिति शेष।

भावरहिएण सउरिस अणाइकालं अणंतसंसारे।
गहिउज्झियाइं बहुसो बाहिरनिग्गंथरूवाइं ॥ ७॥

---

१ विहीणस्स इति मूलगाथापाठ। किन्तु टीकाया क ख ग घ पुस्तके विहूणस्स इति पाठ। तदनुसारेण प्रवर्तित। २ करइ इति मूलगाथापाठ। ३ द टी।

भावरहितेन सत्पुरुष ! अनादिकालं अनन्तसंसारे ।
गृहीतोज्झितानि बहुशः बाह्यनिर्ग्रन्थरूपाणि ॥

भावरहिएण सउरिस भावरहितेन सत्पुरुष ! भावविवर्जितेनात्मरूपभावनारहितेन त्वया । अणाइकालं अणंतसंसारे अनादिकालमनन्तसंसारे । गहिउज्झियाइं बहुसो गृहीतान्युज्झितानि च बहुशोऽनेकवारान् । बाहिरनिग्गंथरूवाइं बहिर्निर्ग्रन्थरूपाणि आत्मरूपभावनारहितानीति भावार्थः ।

भीसणणरयगईए तिरियगईए कुदेवमणुगइए।
पत्तोसि तिव्वदुक्खं भावहि जिणभावणा जीव[1] ॥ ८ ॥

भीषणनरकगतौ तिर्यग्गतौ कुदेवमनुष्यगत्योः ।
प्राप्तोऽसि तीव्रदुःखं भावय जिनभावनां जीव ! ॥

भीसणणरयगईए भीषणा भयानका या नरकगतिस्तस्यां भीषणनरकगत्यां । तिरियगईए तिर्यग्गत्यां । कुदेवमणुगइए कुत्सितदेवकुत्सितमनुष्यगत्योर्विषये । पत्तोसि तिव्वदुक्खं प्राप्तोऽसि तीव्रदुःखं एकान्तेन दुःखं । भावहि जिणभावणा जीव यथा जिना त्वं तीव्रं दुःखं प्राप्तश्चतुर्गतिषु तां भावय जिनभावनां जिनसम्यक्त्वभावनां हे जीव ! हे आत्मन् ! बहिरात्मत्वं मिथ्यादृष्टित्वं परित्यज्य सम्यग्दृष्टिर्भव त्वं, । तेन तव चतुर्गतिदुःखं विनंक्ष्यति स्तोकेन कालेनात्मभवान्तरेण तीर्थंकरो भूत्वा मुक्तिं यास्यसि । तथा चोक्तं—

एकापि समर्थेयं जिनभक्तिर्दुर्गतिं निवारयितुं ।
पुण्यानि च पूरयितुं दातुं मुक्तिश्रियं कृतिनः ॥ १ ॥

कामो जिनभावना ? लोकप्रसिद्ध दोधकमिदम्—

1 जीवा ग । जीवो घ ।

जिण पुज्जहि जिणवरु थुणहि जिणहं म खंडहि आण।
जे जिणधम्मिसु रत्तमण ते जाणिज्जइ जाण॥
पक्कहि फुल्लहि माटिदेइ जु सुरनररिद्धडी।
दही करइ कुसाटियपु मोलिम जिणवरतणी॥

अन्यच्च—

सुखयतु सुखभूमिः कामिनं कामिनीव
सुतमिव जननी मां शुद्धशीला भुनक्तु।
कुलमिव गुणभूषा कन्यका संपुनीता-
ज्जिनपतिपदपद्मप्रेक्षिणी दृष्टिलक्ष्मीः॥ १॥

एवमर्थं ज्ञात्वा ये जिनपूजनस्नपनस्तवननयजीर्णचैत्यचैत्यालयोद्धारणयात्राप्रतिष्ठादिकं महापुण्य कर्म कर्मविध्वंसकं तीर्थकरनामकर्मदायकं विशिष्ट निदानरहित प्रभावनाङ्ग गृहस्था सन्तोऽपि निषेधन्ति ते पापात्मानो मिथ्यादृष्टयो नरकादिदु ख चिरकालमनुभवन्ति अनन्तससारिणो भवन्तीति भावार्थ।

सत्तसुनरयावासे दारुणभीसाइं असहणीयाइं।
भुत्ताइं सुइरकालं दुक्खाइं निरंतरं सहियं॥ ९॥

सप्तसुनरकवासे दारुणभीष्माणि असहनीयानि।
भुक्तानि सुचिरकालं दु खानि निरन्तरं स्वहित!॥

सत्तसुनरयावासे सप्ताना सुनरकाणा महानरकाणा वासे निवासे सति हे जीव!। **दारुणभीसाइं** दारुणानि तीव्राणि, भीष्माणि भयानकानि। **असहणीयाइं** असहनीयानि असह्यानि सोढुमशक्यानि। **भुत्ताइं** भुक्तानि अनुभूतानि। **सुइरकालं** सुष्ठु अतीव चिरकाल दीर्घकालं एकसागरमारभ्य त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमपर्यन्तमुत्कृष्टायुष्कं। दु:खान्य-

१ सहिय क. ख. ग. पुस्तके मूलगाथापाठ। टीकायां सहिय इति पाठ। तदनुसारेण प्रवर्तित। भविया इति घ. पुस्तके। नार्थोऽस्य तत्र दत्त।

सातानि कष्टानि भुक्तानि निरन्तरमविच्छिन्नं । **सहिय** हे स्वहित ! हे आत्महित ! किं त्वया आत्मनो हितं कृतमित्याक्षेपः ।

खणणुत्तावणवालणवेयणविच्छेयणाणिरोहं च ।
पत्तोसि भावरहिओ तिरियगईए चिरं कालं ॥ १० ॥

खननोत्तापनज्वालनव्यजनविच्छेदनानिरोधं च ।
प्राप्तोऽसि भावरहित तिर्यग्गतौ चिरं कालम् ॥

खणण पृथिवीकायस्त्वं यदा जातस्तदा खननं कुद्दालादिनाऽवदारणदुःखं त्वया सोढं । **उत्तावण** अप्कायस्त्वं यदाभूतस्तदाऽग्न्युपर्युत्तापनदुःखं त्वया क्षमितं । **वालणं** अग्निकायिको जीवो यदा त्वं जातस्तदा ज्वालनदुःखं त्वयानुभूतं। **वेयण** वायुकायिको जीवो यदा त्वं जातस्तदा व्यजनादिनावीजनदुःखं त्वया तितिक्षितं । **विच्छेयणा** हे जीव ! वनस्पतिकायिको जीवो यदा त्वं उत्पन्नस्तदा विच्छेदना कुठारादिना कर्पणदुःखं त्वया मृषितं। **णिरोहं** च शंखशुक्तिवृश्चिकगोमिभ्रमरमक्षिकाकलीवर्दमहिषादिकस्त्वं समुत्पन्नस्तदा निरोधादि दुःखं त्वया भुक्तं। इति स्थावरत्रसदुःखानि अनुक्रमेण सूचितानि भवन्तीति ज्ञातव्यं । **पत्तोमि भावरहिओ** प्राप्तोऽसि भावरहितो जिनभक्तिभ्रष्टः आत्मभावनादूरीकृतश्च । **तिरियगईए चिरं काल** तिर्यग्गतौ दीर्घं कालं असंख्यातवर्षपर्यन्तं वनस्पतिकायापेक्षयानन्तकालं चेत्यागमानुसारेण ज्ञातव्यम् ।

आगंतुक माणसियं सहजं सारीरियं च चत्तारि ।
दुक्खाइं मणुयजम्मे पत्तोसि अणंतयं कालं ॥ ११ ॥

आगन्तुकं मानसिकं सहजं शारीरिकं च चत्वारि ।
दुःखानि मनुजजन्मनि प्राप्तोऽसि अनन्तकं कालम् ॥

---

१ तिरय इति मूलग्रन्थपाठः ।

आगंतुक आगन्तुकं दुःखं विद्युत्पातादिकं । मानसिकदुःखं स्त्रीकटाक्षादिताडने सति तदप्राप्तौ भवति । तथा चोक्तं—

संसारे नरकादिषु स्मृतिपथेऽप्युद्वेगकारीण्यलं
दुःखानि प्रतिसेवितानि भवता तान्येवमेवासताम् ।
तत्तावत्स्मरसि स्मरस्मितशितापाङ्गैरनङ्गायुधै-
र्वामानां हिमदग्धमुग्धतरुवद्यत्प्राप्तवान्निर्धनः ॥ १ ॥

सहजं व्याधिवेदनोत्पन्नं दुःखं । **सारीरियं** छेदनभेदनादिकं दुःखं । चकार उक्तसमुच्चयार्थस्तेन खलजनोक्तमिथ्यावचनश्रवणे यद्दुःखं भवति तत् केनापि सोढुं न शक्यते । तदुक्तं रुद्रटेन महाकविना—

शल्यमपि स्खलदन्तः सोढुं शक्येत हालाहलदिग्धं ।
धीरैर्न पुनरकारणकुपितखलालीकदुर्वचनं ॥ १ ॥

चत्तारि एतानि चत्वारि । **दुःखाइं** दुःखानि । **मणुयजम्मे** मनुजजन्मनि मनुष्यभवे । **पत्तोसि** प्राप्तोऽसि हे जीव ! त्वं प्राप्तवानसि भवसि । **अणंतयं कालं** अनन्तकं कुत्सितमनन्तं कालं समयमिति ।

सुरनिलएसु सुरच्छरविओयकाले य माणसं तिव्वं ।
संपत्तोसि महाजस दुःखं सुहभावणारहिओ ॥ १२ ॥

सुरनिलयेषु सुराप्सरावियोगकाले च मानसं तीव्रम् ।
सम्प्राप्तोऽसि महायशः ! दुःखं शुभभावनारहितः ॥

सुरनिलएसु स्वर्गेषु । **सुरच्छरविओयकाले** देवीवियोगावसरे **य** चकारात् देवी जाता तदा देववियोगकाले । **माणसं तिव्वं** इन्द्रविभूतिं दृष्ट्वा मानसं मनसि भवं दुःखं त्वं प्राप्तः, तद्दुःखं तीव्रमत्युत्कटं, हा ! मया मनुष्यभवे प्राप्तेऽपि निर्मलं चारित्रं न पालितं अनेन तु निरतिचारं चारित्रं प्रतिपालितं तेनाय मम किल्विषादेशादेश

१ हालहल. ख. ।

श्रवणा जिनधर्मबाह्या न वन्दनीया । तेभ्य कार्यवशात् किमपि देयं जिनधर्मोपकारार्थमिति ।

देवाण गुणविहूई इड्ढी माहप्प बहुविह दट्ठुं ।
होऊण हीणदेवो पत्तो बहुमाणसं दुक्खं ॥ १५ ॥

देवानां गुणविभूतिं ऋद्धिं माहात्म्य बहुविधं दृष्ट्वा ।
भूत्वा हीनदेव प्राप्तो बहुमानस दु खम् ॥

देवाण गुणविहूई देवाना गुणान्—

अणिमा महिमा लघिमा गरिमान्तर्धानकामरूपित्व ।
प्राप्तिकाम्यवशित्वेशित्वाप्रतिहतत्वमिति वैक्रियिकाः ॥ १ ॥

इत्याद्युक्तलक्षणान् गुणान् दृष्ट्वा । इड्ढी ऋद्धिं इंद्राणीप्रमुखपरिवारं । उक्त च—

शची पद्मा शिवा श्यामा कालिन्दी सुलसाऽज्जुका ।
भान्वाख्या दक्षिणेन्द्राणा विश्वेषामपि कीर्तिता. ॥ १ ॥
उदीचां श्रीमती रामा सुसीमा च प्रभावती ।
जयसेना सुषेणा च सुमित्रा च वसुन्धरा ॥ २ ॥
षोडशाद्ये सहस्राणि विक्रियोत्था. पृथक्च ता ।
द्विगुणा द्विगुणास्तस्मात्परत्र सममात्मना ॥ ३ ॥

१६०००-३२०००-६४०००-१२८०००
२५६०००-५१२०००-१०२४००० ।

क्रमाद्द्वात्रिंशदष्ट द्वे सहस्राः पंचशत्यथ ।
अर्धार्धाश्च त्रिषष्टिश्च सप्तस्थानेषु वल्लभाः ॥ ४ ॥

सप्तस्थानानि कानि ? सौधर्मेशाना १ सनत्कुमारमाहेन्द्रौ २ ब्रह्मब्रह्मो-त्तरौ ३ लान्तवकापिष्टौ, ४ शुक्रमहाशुक्रौ ५ शतारसहस्रारौ ६ आन-तप्राणतारणाच्युताश्चत्वार स्वर्गा एक स्थानमिति सप्तस्थानानि, इत्यादि देव्यादृद्धिं दृष्ट्वा । माहप्प बहुविहं दट्ठुं इन्द्रस्य दीर्घायु-

रपि म्रियते अल्पायुषोऽप्यायुर्न त्रुट्यति इत्यादि माहात्म्यं बहुविधं दृष्ट्वा। **होऊण हीणदेवो** हीनदेवो भूत्वा। **पत्तो बहुमाणसं दुःखं** प्राप्तोऽसि बहुतरं प्रचुरं मनसि भवं मानसं दुःखं हे जीव! इमिति कारणात् जिनभक्तिं कुर्विति भावार्थः।

चउविहविकहासत्तो मयमत्तो असुहभावपयडत्थो।
होऊण कुदेवत्तं पत्तोसि अणेयवाराओ॥ १६॥

चतुर्विधविकथासक्तः मदमत्तः अशुभभावप्रकटार्थः।
भूत्वा कुदेवत्वं प्राप्तोऽसि अनेकवारान्॥

चउविहविकहासत्तो चतुर्विधविकथासक्तः आहारकथा-स्त्रीकथा-राजकथा-चौरकथालक्षणासु विकथासु चतुर्विधास्वासक्तः। **मयमत्तो** अष्टमदैर्मत्तो गर्वितः। **असुहभावपयडत्थो** अशुभभावः पापपरिणामः प्रकटः स्फुटीभूतोऽर्थः प्रयोजनं यस्य स अशुभभावप्रकटार्थः। **होऊण कुदेवत्तं** अशुभभावप्रकटार्थो भूत्वा कुदेवत्वं-कुत्सितदेवत्वं। **पत्तोसि** प्राप्तोऽसि। हे जीव! असुरादिकुदेवगतावनेकवारान् प्राप्तोऽसि।

असुहीवीहत्थेहि य कलिमलबहुलाहि गब्भवसहीहि।
वसिओसि चिरं कालं अणेयजणणीण मुणिपवरं॥ १७॥

अशुचिबीभत्सासु कलिमलबहुलासु गर्भवसतिषु।
उषितोऽसि चिरं कालं अनेकजननीनां मुनिप्रवर!॥

असुहीवीहत्थेहि य अशुचिषु अपवित्रासु बीभत्सासु, च विरूपकासु। **कलिमलबहुलाहि** पापबहुलासु। **गब्भवसहीहि** गर्भगृहेषु उदरवसतिषु। **वसिओसि चिरं कालं** उषितोऽसि स्थितोऽसि चिरं

१ ई ख, ग घ पुस्तके। २ पवरा ग, घ। घ पुस्तकेऽस्यार्थं प्रचुरत्वमिति।

दीर्घकालमनन्तकालमनादिकालं । अणेयजणणीण मुणिपवर गर्भवसतिषु अनेका अनन्ता जनन्यो जाता, हे मुनिप्रवर! हे मुनीनामुत्तम ॥

पीओसि थणच्छीरं अणंतजम्मंतराइं जणणीणं ।
अण्णाण्णाण महाजस सायरसलिलादु अहिययरं ॥ १८ ॥

पीतोऽसि स्तनक्षीरं अनन्तजन्मान्तराणि जननीनाम् ।
अन्यासामन्यासां महायशः ! सागरसलिलादधिकतरम् ॥

पीओसि थणच्छीरं पीतोऽसि पीतवान् धयितवानसि स्तनक्षीरं अपवित्र वक्षोरुहक्षीरं स्तनदुग्धं । **अणंतजम्मंतराइं** अनन्तजन्मान्तराणि अनन्तभवान्तरेषु । **जणणीणं** जननीनां अनन्तमातॄणां । **अण्णण्णाण** अन्यासामन्यासां । **महाजस** महत् त्रैलोक्यव्यापकं यशो यस्य भवति महायशास्तस्य सम्बोधनं क्रियते हे महायशः । **सायरसलिलादु अहिययरं** सागरसलिलादप्यधिकतरं अतिशयेनाधिकतरमनन्तसागरजलसमानं ।

भवसायरे अणंते छिण्णुज्झियकेसणहरणालट्ठी।
पुंजेइ जइ को वि जए हवदि य गिरिसमधिया रासी॥२०॥
भवसागरे अनन्ते छिन्नोज्झितकेशनखरनालास्थीनि।
पुञ्जयति यदि कश्चित् देवो भवति च गिरिसमधिका राशि॥

भवसायरे अणंते भवसागरेऽनन्ते ससारसमुद्रेऽन्तरहिते। छिण्णुज्झियकेसणहरणालट्ठी छिन्नानि उज्झितानि मुक्तानि क्षुरेण नखलुना छुरिकया पूर्वं छिन्नानि पश्चादुज्झितानि केशनखरनालास्थीनि। पुंजेइ जइ को वि जए पुञ्जयति राशीकरोति यदि चेत् कोऽपि शक्रसन्तानागत कश्चिद्देव। हवदि य गिरिसमधिया रासी भवति च गिरेर्मेरोरपि समधिका राशि केशादीना प्रत्येकमनन्तमेरुसमा राशयो भवन्तीति भावार्थ।

जलथलसिहिपवणंबरगिरिसरिदरिकुरुवणाइं सव्वत्तो।
वसिओसि चिर कालं तिहुवणमज्झे अणप्पवसो॥२१॥
जलस्थलशिखिपवनाम्बरगिरिसरिद्दरीतरुवनादिषु सर्वत्र।
उषितोसि चिरं काल त्रिभुवनमध्येऽनात्मवश॥

हे जीव! हे चेतनानाथ! त्वं जले उदके उषितोऽसि निवासं चकर्थ। थल स्थले भूम्या। सिहि शिखिनि हुताशने। पवण पवने झञ्झामारुतादौ। अवर अम्बरे विहायसि। गिरि पर्वते। सरि सरिति नद्या। दरि दर्यां गुहाया। कुरुवणाइं देवकुरूत्तरकुरूत्तमभोगभूमिकल्पवृक्षवने। आदिशब्दाद्भरतहैमवतहरिविदेहरम्यकहैरण्यवतैरावतादयो लभ्यन्ते। सव्वत्तो किं बहुना सर्वत सर्वत्र। वसिओसि चिर कालं उषितोऽसि चिर दीर्घमनन्त कालमनन्तोत्सर्पिण्यवसर्पिणीकालसमयपर्यन्त। तिहुवणमज्झे अणप्पवसो त्रिभुवनमध्येऽनात्मवश। नि-

१ ना टी।

जशुद्धबुद्धैकस्वभावचिच्चमत्कारलक्षणटंकोत्कीर्णज्ञायकैकस्वभावात्मभावना जिनस्वामिसम्यक्त्वभावनाभव इत्यर्थ ।

गसियाइं पुग्गलाइं भुवणोदरवत्तियाइं सव्वाइं ।
पत्तोसि तो ण तित्तिं पुणरूवं ताइं भुंजंतो ॥ २२ ॥

ग्रसिता पुद्गला भुवनोदरवर्तिन सर्वं ।
प्राप्तोसि तत्र तृप्तिं पुनारूपं तान् भुजान ॥

गसियाइं पुग्गलाइं ग्रसिता पुद्गला सर्वेऽप्यणव । भुवणोदर-वत्तियाइं सव्वाइं भुवनोदरवर्तिनः सर्वेऽपि । पत्तोसि तो ण तित्तिं प्राप्तोऽसि तदपि न तृप्तिं धृतिं । पुणरूवं ताइं भुंजंतो पुनारूपं पुनर्नवमिति तान् पुद्गलान् भुजान । उक्तं च पूज्यपादेन गणिना—

भुक्तोज्झिता मुहुर्मोहान्मया सर्वेऽपि पुद्गलाः ।
उच्छिष्टेष्विव तेष्वद्य मम विज्ञस्य का स्पृहा ॥ १ ॥

तिहुयणसलिलं सयलं पीयं तिण्हाए पीडिएण तुमे ।
तो वि ण तिण्हाछेओ जाओ चिंतेह भवमहणं ॥ २३ ॥

त्रिभुवनसलिलं सकलं पीतं तृष्णया पीडितेन त्वया ।
तदपि न तृष्णाछेदो जात चिन्तय भवमथनम् ॥

तिहुयणसलिलं सयलं त्रिभुवनसलिलं सकलं । पीयं पीतं त्वया । तिण्हाए तृष्णया । पीडिएण पीडितेनात्यगाढेन । तुमे त्वया भवता । "तुमइ तुमाइ तुमे तुमए तुम त (तु) इ त (तु) ए ते दि दे भे टया " इति व्याकरणसूत्रेण टावचनेन सह युष्मद तुम आदेशः । तो वि

१ पुणरूव ग घ । २ तण्हाइ. ग घ. । अत्र एकादश प्राकृतभाषान् ह्रस्वोच्चार । ३ तण्हाय टी

तदपि । ण नैव । तिण्हाछेओ तृष्णाच्छेद । जाओ जात । चिंतेह भवमहणं हे जीव ! त्वं चिन्तय अन्वेषस्व भवस्य संसारस्य मथनं विनाशनं सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रत्रयमिति भावार्थः ।

गहिउज्झियाइं मुणिवर कलेवराइं तुमे अणेयाइं ।
ताणं णत्थि पमाणं अणन्तभवसायरे धीर ॥ २४ ॥

गृहीतोज्झितानि मुनिवर ! कलेवराणि त्वया अनेकानि ।
तेषां नास्ति प्रमाणं अनन्तभवसागरे धीर ! ॥

गहिउज्झियाइं गृहीतोज्झितानि । हे मुणिवर मुनिश्रेष्ठ ! । कलेवराइं कलेवराणि शरीराणि । तुमे अणेयाइं त्वयाऽनेकान्यनन्तानि । ताणं णत्थि पमाणं तेषां कलेवराणां नास्ति न विद्यते प्रमाणं गणनमनन्तत्वात् । अणंतभवसायरे धीर अनन्तभवसागरेऽन्तातीतसंसारसमुद्रे हे धीर ! ध्येयं प्रति धियमीरयतीति धीरस्तस्य सम्बोधनं क्रियते हे धीर ! हे योगीश्वर ! भावचारित्रं निनेति शेषः ।

विसवेयणरत्तक्खयभयसत्थग्गहणसंकिलेसाणं ।
आहारुस्सासाणं णिरोहणा खिज्जए आऊ ॥ २५ ॥

विषवेदनारक्तक्षयभयशस्त्रग्रहणसंक्लेशानाम् ।
आहारोच्छ्वासानां निरोधनात् क्षीयते आयुः ॥

विसवेयणरत्तक्खयभयसत्थग्गहणसंकिलेसाणं विषवेदनारक्तक्षयभयशस्त्रग्रहणसंक्लेशानां । आहारुस्सासाणं आहारोच्छ्वासानां । णिरोहणा निरोधनात् । खिज्जए आऊ क्षीयते आयुः ।

हिमजलणसलिलगुरुयरपव्वयतरुरुहणपडणभंगेहिं ।
रसविज्जजोयधारणअणयपसंगेहि विविहेहिं ॥ २६ ॥

हिमज्वलनसलिलगुरुतरपर्वततरुरोहणपतनभङ्गैः ।
रसविद्यायोगधारणानयप्रसंगैः विविधैः ॥

हिम केषांचिन्नृणां मानवानां च शीतेनापमृत्युर्भवति । **जलण** केषांचिज्ज्वलनेनाग्निनापमृत्युर्भवति । **सलिल** केषांचित्सलिलेन समुद्रादिजलेनापमृत्युर्भवति । **गुरुयरपव्वयतरुरुहणपडणभंगेहिं** गुरुतरा अत्युन्नतशिखरास्ते च ते पर्वतास्तुंगीगिर्यादय, तथा तरवो वृक्षा गुरुतरपर्वततरवस्तेषां रोहणेन पतनेन च कृत्वा ये भंगा शरीरामर्दनानि ते तथा तैः हिमज्वलनसलिलगुरुतरपर्वततरुरोहणपतनभंगैः । **रसविज्जजोयधारणअणयपसंगेहिं** रसस्य विषस्य या विद्या विज्ञानं तस्या योगोऽनेकौषधमेलनं तस्य धारणं सेवनमास्वादनं अनयप्रसंगश्चान्यायकरणं ते रसविद्यायोगधारणानयप्रसंगास्तैः रसविद्यायोगधारणानयप्रसंगैः । **विविहेहिं** विविधैर्नानाप्रकारैः । तथा चोक्तं लक्ष्मीचन्द्रेण भगवता—

अप्पाए दालिद्दियइ अरे जिय दुदु भायणु ।
रूवयडियए जिणु खोडयइ मग्गु सविक्खलु दुग्गु ॥ १ ॥

इय तिरियमणुयजम्मे सुइरं उववज्जिऊण बहुवारं ।
अवमिच्चुमहादुक्खं तिव्वं पत्तोसि तं मित्त ॥ २७ ॥

इति तिर्यग्मनुष्यजन्मनि सुचिरं उपपद्य बहुवारम् ।
अपमृत्युमहादुःखं तीव्रं प्राप्तोऽसि त्वं मित्र ! ॥

इय तिरियमणुयजम्मे इति पूर्वोक्तप्रकारेण तिर्यग्मनुष्यजन्मनि । **सुइरं** सुचिरं सुष्ठु दीर्घकालं । **उववज्जिऊण बहुवारं** उपपद्य उत्पद्य जन्म गृहीत्वा बहुवारमनेकवारं । **अवमिच्चुमहादुक्खं** अपमृत्युमहादुःखं । **तिव्वं पत्तोसि** तीव्रं दुःसहमहर्निशमसातं प्राप्तोऽसि । **तं मित्त** त्वं भवान् हे मित्र ! हे बन्धो ! हे सुहृत् ! ।

छत्तीसं तिण्णि सया छावट्ठिसहस्सवारमरणाणि ।
अंतोमुहुत्तमज्झे पत्तोसि निगोयवासम्मि ॥ २८ ॥

षट्त्रिंशत त्रीणि शतानि षट्षष्ठिसहस्रवारमरणानि ।
अन्तर्मुहूर्तमध्ये प्राप्तोऽसि निकोतवासे ॥

छत्तीसं तिण्णि सया षट्त्रिंशदधिकत्रिशतानि । छावट्ठिसहस्सवार-मरणाणि षट्षष्ठिसहस्रवारान् मरणानि ६६३३६। अंतोमुहुत्तमज्झे अन्तर्मुहूर्तमध्ये । पत्तोसि निगोयवासम्मि प्राप्तोऽसि निकोतवासे ।

वियलिंदिए असीदी सट्ठी चालीसमेव जाणेह ।
पंचिंदिय चउवीसं खुद्दभवंतोमुहुत्तस्स ॥ २९ ॥

विकलेन्द्रियाणामशीतिं षष्ठिं चत्वारिंशदेव जानीत ।
पञ्चेन्द्रियाणां चतुर्विंशतिं क्षुद्रभवान् अन्तर्मुहूर्तस्य ॥

वियलिंदिए असीदी विकलेन्द्रियाणा द्वीन्द्रियत्रीन्द्रियचतुरिन्द्रियजीवेषु अनुक्रमेण मरणसंख्यामन्तर्मुहूर्तस्य करोति । तथाहि । द्वीन्द्रिया जीवा अन्तर्मुहूर्तेन अशीतिवारान् म्रियन्ते । त्रीन्द्रिया जीवा अन्तर्मु[1]हूर्तेन षष्टिवारान् म्रियन्ते । चतुरिन्द्रिया जीवा अन्तर्मुहूर्तेन चत्वारिंशत् वारान् म्रियन्ते। पंचिंदिय चउवीसं पचेन्द्रिया जीवा अन्तर्मुहूर्तेन चतुर्विंशतिं वारान् म्रियन्ते। खुद्दभवंतोमुहुत्तस्स क्षुद्रभवा अन्तर्मुहूर्तस्य क्रमेण ज्ञातव्याः ।

रयणत्ते सुअलद्धे एवं भमिओसि दीहसंसारे ।
इय जिणवरेहिं भणियं तं रयणत्तं समायरह ॥ ३० ॥

रत्नत्रये स्वलब्धे एवं भ्रमितोऽसि दीर्घसंसारे ।
इति जिनवरैर्भणितं तत् रत्नत्रयं समाचर ॥

रयणत्ते सुअलद्धे रत्नत्रये सुष्ठु अलब्धे सति । एवं भमिओसि दीहसंसारे एवममुनाप्रकारेण भ्रमितोऽसि पर्यटितवान् दीर्घसंसारेऽनादौ

१ द. टी ।
षद. १०

संसारे भवे। इय जिणवरेहिं भणियं इयेतद्वचनं जिनवरैस्तीर्थकरपरमदेवैर्भणितं प्रतिपादितं। तं रयणत्तं समायरह तत्तस्मात्कारणात् तज्जगत्प्रसिद्धं वा तत् त्वं वो रत्नत्रयं वो समाचर सम्यगाद्रियस्व वा।

तं रयणत्तयं केरिसं हवदि। तं जहा। तद्रत्नत्रयं कीदृशं भवति? तद्यथा—तदेवनिरूपयति—

अप्पा अप्पम्मि रओ सम्माइट्ठी हवेइ फुडु जीवो।
जाणइ तं सण्णाणं चरदिह चारित्तमग्गुत्ति॥ ३१॥

आत्मा आत्मनि रतः सम्यग्दृष्टिः भवति स्फुटं जीवः।
जानाति तत् सज्ञानं चरतीह चारित्रमार्ग इति॥

अप्पा अप्पम्मि रओ आत्मा आत्मनि रतः आत्मनि श्रद्धानपरः। सम्माइट्ठी हवेइ फुडु जीवो सम्यग्दृष्टिर्भवति स्फुटं निश्चयनयेन, व्यवहारनयेन तु तत्वार्थश्रद्धानं सम्यग्दर्शनं भवति, जीव आत्मा सम्यग्दृष्टिरिति ज्ञातव्यं। जाणइ तं सण्णाणं जानाति तं आत्मानं तत्सद्ज्ञानं सम्यग्ज्ञानं भवति, व्यवहारेण तु सप्ततत्त्वानि जानाति तत्सम्यग्ज्ञानं भवति। चरदिह चारित्तमग्गुत्ति तमात्मानं जीवो यच्चरति तन्मयो भवति आत्मनैकलोलीभावो भवति, इहास्मिन् संसारे, चारित्रमार्ग इति, व्यवहारेण तु पापक्रियानिरमणं चरणं भवति।

अण्णे कुमरणमरणं अणेयजम्मंतराइं मरिओसि।
भावहि सुमरणमरणं जरमरणविणासणं जीव॥ ३२॥

अन्यस्मिन् कुमरणमरणं अनेकजन्मान्तरेषु मृतोऽसि।
भावय सुमरणमरणं जन्ममरणविनाशनं जीव!॥

अण्णे कुमरणमरणं अन्यस्मिन् भवसमूहे कुमरणमरणं-कुत्सितमरणमरणं यथा भवत्येवं। तथा अनेकजन्मान्तराण्यन्तजन्मान्तरेषु। "अन्यार्थे

१-२ वाक्यं नास्ति ख पुस्तके। ३ मग्गोत्ति मूलगाथापाठः।

अन्या" इति प्राकृतव्याकरणसूत्रेण सप्तम्यर्थे द्वितीया। **मरिओसि** मृतोऽसि मरणं प्राप्तोऽसि। **भावहि सुमरणमरणं** भावय सुमरणमरणं पंडितपंडितमरणं। कथंभूतं सुमरणमरणं, **जरमरणविणासणं** जरामरणविनाशनं परममोक्षदायकं। हे **जीव** हे चेतनस्वभाव! आत्मन्निति।

समुद्रादिकल्लोलवत्प्रतिसमयमायुस्त्रुट्यति तदावीचिकामरणं स्थितिप्रदेशवीचिकाभेदात्तद्द्विविधमप्येकविधं। भवान्तरप्राप्तिरनन्तरोपसृष्टपूर्वभवविगमनं तद्भवमरणमुच्यते। तत् त्वनन्तशः प्राप्तं जीवेनेति ज्ञातव्यं, तेन तद्भवमरणं न दुर्लभं। अवधिमरणं नाम कथ्यते-यो यादृशं मरणं साम्प्रतमुपैति तादृशमेव यदि मरणं भविष्यति तदवधिमरणं, तद् द्विविधं देशावधिमरणं सर्वावधिमरणं चेति। तत्र सर्वावधिमरणं नाम यदायुर्यथाभूतमुदेति साम्प्रतं प्रकृतिस्थित्यनुभागप्रदेशैस्तथाभूतमेवायुः प्रकृत्यादिविशिष्टं पुनर्बध्नात्युदेष्यति च यदि सर्वावधिमरणं। यत्साम्प्रतमुदेत्यायुर्यथाभूतं भूतमेव बध्नाति देशतो यदि तद्देशावधिमरणं। एतदुक्तं भवति–देशतः सर्वतो वा सादृश्येनावधीकृतेन विशेषितं मरणमवधिमरणमिति। साम्प्रतेन मरणेनासादृश्यभावि यदि मरणमाद्यन्तमरणमुच्यते। आदिशब्देन साम्प्रतं प्राथमिकं मरणमुच्यते, तस्यान्तो विनाशभावो यस्मिन्नुत्तरमरणे तदेतदाद्यन्तमरणमुच्यते। प्रकृतिस्थित्यनुभवप्रदेशैर्यथाभूतैः साम्प्रतमुपैति मृतिं तथाभूता यदि सर्वतो देशतो वा नोपैति तदाद्यन्तमरणं। बालमरणमुच्यते–स च बालः पंचप्रकारोऽव्यक्तबालो व्यवहारबालो ज्ञानबालो दर्शनबालश्चारित्रबालः। धर्मार्थकामकार्याणि न वेत्ति न तदाचरणसमर्थशरीरोऽव्यक्तबालः। लोकवेदसमयव्यवहारान् न वेत्ति शिशुर्वा व्यवहारबालः। मिथ्यादृष्टयो दर्शनबालाः। वस्तुयाथात्म्यग्राहिज्ञानहीना ज्ञानबालाः। अचारित्राश्चारित्रबालाः। दर्श-

१ भाव. क.।

नबालमरण द्विविध इच्छाप्रवृत्तमनिच्छाप्रवृत्त चेति। तत्रेच्छाप्रवृत्तमग्निना धूमेन शस्त्रेण विषेणोदकेन मरुत्प्रपातेनोच्छ्वासरोधेन शीतपातेनोष्णपातेन रज्ज्वा क्षुधा तृषा जिह्वोत्पाटनेन विरुद्धाहारसेवनेन च मरणमिच्छामरणं। कालेऽकाले वाऽध्यवसानादिना विना जिजीविषोर्मरणमनिच्छाप्रवृत्त। पंडितमरणमुच्यते पंडितश्चतुर्धा व्यवहारपंडित सम्यक्त्वपंडितो ज्ञान पंडितश्चारित्रपंडितश्चेति। लोकवेदसमयगतव्यवहारनिपुणो व्यवहार पंडित, अथवानेकशास्त्रज्ञ शुश्रूषादिबुद्धिगुणसमन्वितो व्यवहार पंडित। त्रिविधान्यतमसम्यक्त्व दर्शनपण्डित। पचविधज्ञान परिणतो ज्ञानपंडित। पचविधचारित्रान्यतमचारित्रपरिणतश्चा रित्रपंडित। नरके भवनेषु विमानेषु ज्योतिष्केषु वानव्यन्तरेषु द्वीपसमुद्रेषु च ज्ञानपंडितमरण। मन पर्ययमरणं मनुष्यलोक एव मरण। आसन्नमरणमुच्यते–निर्वाणमार्गप्रस्थितसयतसार्थात् प्रच्युत आसन्न उच्यते, तदुपलक्षण पार्श्वस्थस्वच्छन्दकुशीलससक्ताना। ऋद्धि प्रिया रसेष्वासक्ता दु खभीरव सदा दु खकातरा कषायपरिणता संज्ञावशगा पापश्रुताभ्यासकारिण त्रयोदशक्रियास्वलसा सदा संक्लिष्ट चेतस भक्ते उपकरणे च प्रतिबद्धा निमित्तमन्त्रौषधयोगोपजीविन गृहस्थवैयावृत्यकरा गुणहीना गुप्तिसमितिष्वनुद्यता मन्दसवेगा दशधर्मो अकृतबुद्धय शबलचारित्रा आसन्ना उच्यन्ते। त यदा ते आत्मशुद्धिं कृत्वा-म्रियन्ते तदा प्रशस्तमेव मरण। बालपंडितमरण श्रावकस्य। सशल्य मरण सुगम। पलायमरणमुच्यते–विनयवैयावृत्यादावकृतादर प्रशस्त क्रियोद्वहनालस त्रयोदशचारित्रेषु वीर्यनिगूहनपरो धर्मचिन्तायां निद्रा घूर्णित इव ध्याननमस्कारादे पलायते पलायमरणं। इन्द्रियवेदनाकषा यनोकषायार्तमरण वशार्तमरणं। अप्रसिद्धऽनज्ञाते च मरणे विपाण

१ मरु क पर्वत।

समरण, विप्राणसमरणमुच्यते—गृध्रपृष्टमिति संज्ञिते कृते प्रवर्तेते। दुर्भिक्षे कान्तारे दुरुत्तरे पूर्वशत्रुभये दुष्टनृपभये स्तेनभये तिर्यगुपसर्गे एकाकिनः सोढुमशक्ये ब्रह्मव्रतनाशादिचारित्रदूषणे च जाते सनिम्न पाप भीरु कर्मणामुदयमुपस्थित ज्ञात्वा सोढुमशक्त तन्निस्तरणस्यासत्युपाये सावद्यकरणभीरु विराधनमरणभीरुश्च एतस्मिन् करणे जाते कालेऽमुष्मिन् किं भवेत्कुशलमिति गणयता यद्युपसर्गत्रासितोऽहं संयमाद्भ्र स्यामि तत संयमभ्रष्टो दर्शनादपि न वेदनामसंक्लिष्ट सोढु प्रव्रज्यामुत्सहे ततो रत्नत्रयाराधनाच्युतिर्ममेति निश्चितमतिर्निर्माय चरणदर्शनविशुद्ध धृतिमान् ज्ञानसहायोऽनिदानोऽर्हदन्तिके आलोचनामासाद्य कृतशुद्धिलेश्यप्राणापाननिरोध करोति यत्तद्विप्राणसमरणमुच्यते। शस्त्रग्रहणेन यन्नश्यति तद्गृध्रपृष्ठमित्युच्यते मरणविकल्पसंभवप्रदर्शनमिदं सर्वत्र कर्तव्यतयोपदिश्यते। भक्तप्रत्याख्यान, प्रायोपगमनमरण, इंगिनीमरण, केवलमरण चेति। इत्येतान्यवोत्तमानि पूर्वपुरुषै प्रवर्तितानि सप्तदशासु मध्ये त्रीण्युत्तमानि सुमरणानि। प्रायोपगमन दर्भासने स्थित स्वयमुपसर्गं न निवारयति, चेत्कोपि निवारयति तदा निवारयितुं ददाति। इंगिनीमरणे निवारयितुमपि न ददाति। केवलिमरण तीर्थंकरगणधरानगारकेवलिमरण ज्ञातव्यं। एतन्मरणत्रयं सुमरण हे जीव! त्वं भावय।

सो णत्थि दव्वसवणो परमाणुपमाणमेत्तओ णिलओ।
जत्थ ण जाओ ण मओ तियलोयपमाणिओ सव्वो॥ ३३॥

स नास्ति द्रव्यश्रमण परमाणुप्रमाणमात्रो निलय।
यत्र न जात न मृत त्रिलोकप्रमाणक सव॥

सो णत्थि स नास्ति न विद्यते। **णिलओ** गृह स्थान। कथंभूतो निलय, **परमाणुपमाणमेत्तओ** परमाणुप्रमाणमात्र अविभागी

१ नि टी। २ यो टी।

परमाणुर्यावन्त प्रदेश रुणद्धि तन्मात्रोऽपि निलयो नास्ति । स क प्रदेश, **जत्थ** यत्र प्रदेशे । **दव्वसवणो** द्रव्यदिगम्बर मिथ्यादृष्टि स्तपस्वी । **ण जाओ** न जातो नोपन्न । **ण मओ** न मृतो न मरणं प्राप्त । स निलय कियान्, **तियलोयपमाणिओ** त्रिभुवनेनमपित । **सव्वो** समस्तोऽपि ।

कालमणत जीवो जम्मजरामरणपीडिओ दुक्ख ।
जिणलिंगेण वि पत्तो परपराभावरहिएण ॥ ३४ ॥

कालमनन्त जीव जन्मजरामरणपीडित दु खम् ।
जिनलिङ्गेन अपि प्राप्त परम्पराभावरहितेन ॥

कालमणत जीवो काल समयमनहसमिति यावत्, अनन्समन्त रहित कर्मतापन्न जीव आत्मा दु ख प्राप्त इति क्रियाकारकसम्बन्ध । कालाध्वदशाभावाना कर्मसज्ञा सिद्धैन वर्तते । कथभूतो जीव, **जम्म जरामरणपीडिओ** जन्मजरामरणपीडित चम्पित । **जिणलिंगेण वि** अर्हद्रूपविशिष्टोऽपि, अपिशब्दादविशिष्टोऽपि । कथभूतेन् जिनलिङ्गेन, **परपराभावरहिएण** परम्परा आचार्यप्रवाहस्तदुपदिष्ट शास्त्र च परपरा शब्देन लभ्यते तत्र भावरहितेन प्रतीतिवर्जि तेन मिथ्यादृष्टिना जीवनत्यर्थ । कासौ परपरा ? अस्यामवसर्पिण्यां तृतीयकालप्रान्त श्रीवृषभनाथेनार्थशास्त्रमुक्त, वृषभसनगणधरेण ग्रन्थ कृत, तत्परम्परया वीरेण भगवतार्थ प्रकाशित, गौतमेन गणिना ग्रथित, तदनुक्रमण पचमकाले प्रमाणमूर्तैर्निरम्बराचार्यैरारातीयैरुप- दिष्ट तच्छास्त्र प्रमाणीकर्तव्य विसवादिभिर्मिथ्यादृष्टिभि कृत शास्त्रं न प्रमाणनीय । अथ के त आचार्या य कृतं शास्त्र प्रमाणीक्रियते इत्याह–

श्रीभद्रबाहु श्रीचन्द्रो जिनचन्द्रो महामति ।
गृध्रपिच्छगुरु श्रीमाँल्लोहाचार्यो जितेन्द्रियः ॥ १ ॥

पलाचार्यः पूज्यपादः सिंहनन्दी महाकविः ।
वीरसेनो जिनसेनो गुणनन्दी महातपाः ॥ २ ॥
समन्तभद्रः श्रीकुम्भः शिवकोटिः शिवङ्करः ।
शिवायनो विष्णुसेनो गुणभद्रो गुणाधिकः ॥ ३ ॥
अकलङ्को महाप्राज्ञः सोमदेवो विदांवरः ।
प्रभाचन्द्रो नेमिचन्द्र इत्यादिमुनिसत्तमैः ॥ ४ ॥
यच्छास्त्रं रचितं नूनं तदेवाऽऽदेयमन्यकैः ।
विसंघैरचितं नैव प्रमाणं साध्वपि स्फुटं ॥ ५ ॥

पडिदेससमयपुग्गलआउगपरिणामणामकालट्ठं ।
गहिउज्झियाइं बहुसो अणंतभवसायरे जीवं ॥ ३५ ॥

प्रतिदेशसमयपुद्गलायुःपरिणामनामकालस्थम् ।
गृहीतोज्झितानि बहुशः अनन्तभवसागरे जीव [1] ॥

पडिदेस यावन्तः प्रदेशा लोकाकाशस्य वर्तन्ते एकैकं प्रदेशं प्रति शरीराणीति पूर्वोक्तमेव ग्राह्यं गृहीतोज्झितानि । तथा प्रतिसमय-समयं समयं प्रति प्रतिसमयं शरीराणि गृहीतोज्झितानि । प्रतिपुद्गलं प्रतिपरमाणु—परमाणुं परमाणुं प्रति प्रतिपरमाणु अनन्तानि शरीराणि गृहीतोज्झितानि । **आउगं** प्रत्यायु आयुः आयुः प्रति प्रत्यायु अनन्तानि शरीराणि गृहीतोज्झितानि । **परिणाम** परिणामं परिणामं प्रति प्रतिपरिणामं क्रोधमानमायालोभमोहरागद्वेषादिपरिणामान् प्रति प्रतिपरिणामं अनन्तानि शरीराणि गृहीतोज्झितानि । **णाम** नाम नाम प्रति प्रतिनाम प्रतिनाम नपुंसकं चेति वचनाद्दाऽदन्तो निपातः, यावन्ति नामानि गतिजात्यादीनि वर्तन्ते तावन्ति प्रति अनन्तानि शरीराणि गृहीतोज्झितानि । **कालट्ठं** प्रतिकालस्थं उत्सर्पिण्यवसर्पिणीकालस्थं यथा भवत्येवं तत्समयांश्च प्रति प्रतिकालस्थं अनन्तानि

१ जीवो. घ । जीवा ग. ।

शरीराणि गृहीतोज्झितानि। गहिउज्झियाइं बहुसो गृहीतोज्झितानि बहुशोऽनन्तवारान्। अणंतभवसायरे जीव अनन्तभवसागरेऽनन्तानन्तसंसारसमुद्रे हे जीव! हे आत्मन्निति। जिनसम्यक्त्वं विनेति भावार्थः जिनसम्यक्त्वभावेन त्वनन्तसंसारं उच्छिद्यते स्तोककालेन मुक्तो भवति।

तेयाला तिण्णि सया रज्जुणं लोयखेत्तपरिमाणं।
मुत्तूणट्ठपएसा जत्थ ण ढुरुढुल्लिओ जीवो॥ ३६॥
त्रिचत्वारिंशत्त्रीणि शतानि रज्जूनां लोकक्षेत्रपरिमाणं।
मुक्त्वाऽष्टौ प्रदेशान् यत्र न भ्रमितः जीवः॥

तेयाला तिण्णि सया त्रिचत्वारिंशदधिकत्रिशतरज्जुघनाकाररज्जूनां च लोकक्षेत्रपरिमाणं भवति। मुत्तूणट्ठपएसा मुक्त्वाऽष्टौ प्रदेशान् मेरुकंदे गोस्तनाकारेण येऽष्टप्रदेशा वर्तन्ते तन्मध्ये जीवो नोत्पन्नो न मृतः अन्यत्र सर्वत्र जातो मृतश्चायं जीवः। तेऽष्टौ प्रदेशा निजात्मशरीरमध्ये गृहीतास्तन्मध्ये नोत्पन्न इति वृद्धाः। जत्थ ण ढुरुढुल्लिओ जीवो यत्रात्मा न पर्यटितः स कोऽपि प्रदेशो नास्ति। "ढर ढरी ढुस ढुम ढुम् गुम् मुम झंप रुंट तत्थंट भमाड भमड भम्मड चक्कम्म ढंढल्ल ढुढुल्ल टिरिटिल्ल ढुरुढुल्ल भ्रमेः" इति प्राकृतव्याकरणसूत्रेण भ्रमधातोः ढुरुढुल्ल इत्यादेशः। धनपालकृतदेशीलक्ष्म्यां तु "घोलिय ढुंढुल्लिपाइ भमियत्थे" सूत्रं।

एक्केक्कंगुलिवाही छण्णवदी होंति जाण मणुयाणं।
अवसेसे य सरीरे रोया भण कित्तिया भणिया॥ ३७॥
एकैकाङ्गुलौ व्याधयः षण्णवतिः भवन्ति जानीहि मनुष्याणाम्।
अवशेषे च शरीरे रोगा भण कियन्तो भणिताः॥

---

१ पचेव य कोडीओ तह चेव अडसट्ठिलक्खाणि।
णवणउदिं च सहस्सा पंचसया हाणि चुलसीदी॥ १॥

एकेक्कंगुलिवाही एकैकांगुलौ व्याधयो रोगाः । **छण्णवदी होंति जाण मणुयाणं** षण्णवतिर्भवन्ति हे जीव ! त्वं जानीहि मनुजानां मनुष्याणां शरीरे । **अवसेसे य शरीरे** अवशेषे च शरीरे एकाङ्गुलेरुद्धरितादवशिष्टे शरीरे । **रोया भण किचिया भणिया** रोगा व्याधयस्त्वं भण कथय कियन्तो भणिता इति ।

ते रोया वि य सयला सहिया ते परवसेण पुव्वभवे ।
एवं सहसि महाजस किं या बहुएहिं लविएहिं ॥३८॥

ते रोगा अपि च सकलाः सोढा त्वया परवशेन पूर्वभवे ।
एवं सहसे महायशः ! किं वा बहुभिः लपितैः ॥

ते रोया वि य सयला ते रोगा, सकला अपि सर्वेऽपि । **सहिया ते परवसेण पुव्वभवे** सोढास्त्वया परवशेन कर्माधीनतया पूर्वभवे पूर्वजन्मान्तरसमूहे । **एवं सहसि महाजस** एवमुनाप्रकारेण त्वं सहसेऽनुभवसि हे महायशः ! । **किं वा बहुएहिं लविएहिं** किं वा बहुभिर्लपितैर्जल्पितैः[1] ।

पित्तंतमुत्तफेफसकालिज्जयरुहिरखरिसकिमिजाले ॥
उयरे वसिओसि चिरं नवदसमासेहिं पत्तेहिं ॥ ३९ ॥

पित्तान्त्रमूत्रफेफसयकृद्रुधिरखरिसकृमिजाले ।
उदरे वसितोऽसि चिरं नवदशमासैः प्राप्तैः ॥

पित्तं च मायुः । अन्त्राणि च पुरीतति । मूत्रं च प्रस्रावः । फेफसश्च प्लीहा । **कालिज्जय** यकृत् "उदर्यो जलाधारो हृदयस्य दक्षिणे यकृत् कालखण्डं क्लोम वामे प्लीहा पुप्पसश्चेति" वैद्याः । बरहल इति देश्यां । **रुहिर** रुधिरं च । **खरिस** खरिसश्च, अपक्वविट्मिश्ररुधिरश्लेष्मा खरिसः कथ्यते । खउरिय इति देश्यात् । **किमि** कृमयश्च द्वीन्द्रिया जीवास्तेषां जालं समूहो यत्रोदरे तत् पित्तान्त्रमूत्रपुप्पसकाल्यिकरुधिरखरिसयकृमिजाल

1 पुप्पस. क. । पुप्फ. ख. ।

तस्मिन्। उयरे वसिओसि चिरं उदरे कुक्षिमध्ये उषितोऽसि निवासं कृतवानसि त्वं चिरं दीर्घकालं, अनन्तगर्भग्रहणापेक्षया चिरमिति विशेषणं। नवदसमासेहिं पत्तेहिं नवभिर्दशभिर्वा मासैः प्राप्तैः परिपूर्णीभूतैः तन्मध्ये तदुपरि च कियान् कालो लभ्यते प्राप्तशब्देनेति।

दियसंगट्ठियमसणं आहारिय मायभुत्तमण्णंते।
छद्दिखरिसाण मज्झे जठरे वसिओसि जणणीए ॥४०॥

द्विजसङ्गस्थितमशनमाहृत्य मातृभुक्तमन्नान्ते।
छर्दिखरिसयोर्मध्ये जठरे उषितोसि जनन्याः ॥

हे जीव! त्वं जनन्या मातुः। जठरे उदरे उषितोऽसि निवासं चकर्थ। कथंभूते जठरे, छद्दिखरिसाण मज्झे छर्दिश्च वान्तमन्नं, खरिसश्च अपक्व दर्दर मलं रुधिरमिश्रं तेषां छर्दिखरिसाणं तयोः छर्दिखरिसयोर्मध्ये मध्यनिकृष्टे। अथवा जठरे उषितोऽपि कुत्रोषितोऽसि छर्दिखरिसयोर्मध्ये समुषितोऽसि। किं कृत्वा पूर्वं, असणं आहारिय अशनं भोजनं आहृत्य आहारं कृत्वा। कथंभूतमशनं, दियसंगट्ठियं द्विजानां दन्तानां अस्थ्यङ्कुराणां सङ्गे स्थितं, चर्वणवेलायां मातृमुखे दन्तानां समीपे स्थितं अस्थिभिः स्पृष्टं उच्छिष्टीकृतं। क उषितोऽसि, मायभुत्तमण्णंते यन्मात्रा भुक्तं तस्यान्नस्यान्ते मध्ये उषितोऽसि। अथवा मात्रन्नं भुक्तं भुक्तं तेन त्वया। तथा चोक्तं—

अन्तर्वान्तं वदनविवरे क्षुत्तृषार्त्तः प्रतीच्छन्
कर्मायत्तः सुचिरमुदरावस्करे वृद्धगृद्ध्या।
निष्पन्दात्मा कृमिसहचरो जन्मनि क्लेशभीतो
मन्ये जन्मिन्नपि च मरणात्तन्निमित्ताद्बिभेषि ॥ १ ॥

सिसुकाले य अयाणे असुईमज्झम्मि लोलिओसि तुमं।
असुई असिया वहुसो मुणिवर बालत्तपत्तेण ॥ ४१ ॥

शिशुकाले च अज्ञाने अशुचिमध्ये लुठितोसि त्वम् ।
अशुचि अशिता बहुशः मुनिवर ! बाल्यत्वप्राप्तेन ॥

सिसुकाले य अयाणे गर्भरूपकाले स्तनंधयावसरेऽज्ञान निर्विवेक। **असुईमज्झम्मि लोलिओसि** त्वम् अशुचिमध्ये विष्टामध्ये मूत्रमध्ये रोलिता लुठितस्त्वं भवान्। **असुई असिया बहुसो** अशुचिर्विष्टा अमध्यमशिता भक्षिता बहुशोऽनेकवारान्। **मुणिवर बालत्तपत्तेण** हे मुनिवर! यतिवराणां ज्ञानिनां मध्ये श्रेष्ठ! परमप्रशस्य! बाल्यत्वप्राप्तेन अव्यक्तबाल्यत्वं गतेन। तथा चोक्तं—

बाल्ये वात्सि न किंचिदप्यपरिपूर्णाङ्गो हितं वाहितं।
कामान्धः खलु कामिनीद्रुमघने भ्राम्यन् वने यौवने।
मध्ये वृद्धतृषार्जितुं वसु पशुः क्लिश्नासि कृष्णादिभि-
र्वार्धक्येऽर्धमृतः क्व जन्मफलितं धर्मो भवन्निर्मलः ॥१॥

मंसट्ठिसुक्कसोणियपित्तंतसवत्तकुणिमदुग्गंधं ।
खरिसवसपूयखिब्भिसभरियं चिंतेहि देहउडं ॥ ४२ ॥

मांसास्थिशुक्रश्रोणितपित्तान्त्रस्रवत्कुणिमदुर्गन्धम् ।
खरिसवसापूयकिल्बिषभरितं चिन्तय देहकुटम् ।

हे जीव! शुद्धबुद्धैकस्वभाव आत्मन्! त्वं **देहउडं** कायकुटं शरीर घटं। **चिंतेहि** चिन्तय विचारय पर्यालोचयस्व। कथंभूतं देहकुटं, **मंसेत्यादि** मांसं च पिशितं, अस्थीनि च हड्डानि, शुक्रं च सप्तमो धातु-बीजं वीर्यं चेति यावत्, शोणितं रुधिर-रक्तं लोहितमिति यावत्, पित्तं च उष्णविकारो मायुरिति, अंत्राणि च पुरीतति, एतैः स्रवद्गलत् कुणिमं शटितमृतकं तद्वद्दुर्गन्धमसुरभि। पुनः कथंभूतं देहकुटं त्वं चिन्तय, खरिसं अपक्वमलरुधिरमिश्रितं द्रव्यं। वसा च वपा मेदः इति यावत् शुद्धमांसस्वेद इत्यर्थः। पूयं च विनष्टरुधिरं। पूइ इति पाठेऽपवित्रं। किल्बिषं च कश्मलं एतैर्भरितं पूरितं।

भावविमुत्तो मुत्तो ण य मुत्तो बंधवाइमित्तेण ।
इय भाविऊण उज्झसु गंथं अब्भंतर धीर ॥ ४३ ॥

भावविमुक्तो मुक्त न च मुक्त बान्धवादिमात्रेण ।
इति भावयित्वा उज्झय ग्रन्थमभ्यन्तरं धीर ! ॥

भावविमुत्तो मुत्तो बान्धवादीनां प्रेमलक्षणेन भावेन विमुक्तो रहितो मुनिर्निर्मुक्त कथ्यते । **ण य मुत्तो बंधवाइमित्तेण** न च नैव मुक्तो प्रतिलभ्यते, कीदृश ? बान्धवादिदुर्दुम्बेन मुक्तस्त्यक्तो मुक्त उच्यते बान्धवादिमात्रेण मुक्तो मुनिर्नोच्यते, किं तर्हि उच्यते—गृहस्थ एवोच्यते इति भावार्थः । **इय भाविऊण उज्झसु** इतीदृशमर्थं भावयित्वा सम्यग्विचार्य *उज्झसु—परित्यज परिहर* । कं, गंधं परिमलं वासना भावना । कथंभूतं गंधं, अभ्यन्तरं मनसि स्थितं बान्धवादिस्नेहं । हे धीर ! हे योगीश्वर ! ध्येयं प्रति धियं बुद्धिमीरयति प्रेरयतीति धीर इति व्युत्पत्तेः ।

देहादिचत्तसङ्गो माणकसाएण कलुसिओ धीर ।
अत्तावणेण जादो बाहुबली कित्तियं कालं ॥ ४४ ॥

देहादित्यक्तसङ्गः मानकषायेन कलुषितो धीर ! ।
आतापनेन जातो बाहुबलि कियन्तं कालम् ॥

देहादिचत्तसंगो देह शरीरं, आदिशब्दाद्वस्त्रप्रावरणपादातिसमूह पुत्रकलत्रादिवर्गश्च लभ्यते तस्मात्यक्तसंगो निष्परिग्रहः । **माणकसाएण कलुसिओ धीर** सज्वलमानेनेषत्कषायेण कलुषितो मलिनित हे धीर ! **अत्तावणेण जादो** आतापनेन योगेन उद्धकायोत्सर्गेण । **बाहूबली कित्तियं कालं** श्रीबाहुबलिस्वामी कियतं कालं वर्षपर्यन्तं कालं कलुषित इति सम्बन्धः । तथा चोक्तं—

चक्रं विहाय निजदक्षिणबाहुसंस्थं
यत्प्राव्रजन्ननु तदेव स तेन मुंचेत् ।
क्लेशं किलाप स हि बाहुबली चिराय
मानो मनागपि हतिं महतीं करोति ॥ १ ॥

महुपिंगो णाम मुणी देहाहारादिचत्तवावारो ।
सवणत्तणं ण पत्तो णियाणमित्तेण भवियणुय ॥ ४५ ॥

मधुपिङ्गो नाम मुनिः देहाहारादित्यक्तव्यापार ।
श्रमणत्वं न प्राप्त निदानमात्रेण भव्यनुत । ॥

महुपिंगो णाम मुणी मधुपिंगो नाम मुनि । **देहाहारादिचत्तवावारो** शरीराहारादित्यक्तव्यापार. । **सवणत्तणं ण पत्तो** श्रमणत्वं दिगम्बरत्वं न प्राप्तः द्रव्यलिंगी बभूवेत्यर्थ. । **णियाणमित्तेण भवियणुय** निदानमात्रेण सगर सकुटुम्बं क्षयं नेष्यामीति निदानमात्रेणेति हे भविकनुत । भव्यजीवस्तुतमुने । इयं कथा महापुराणादिषु निश्रुता वर्तते । तथा हि । अथेह भरतक्षेत्रे चारणयुगलनगरे राजा सुयाधन , राज्ञी अतिथि , सुता सुलसा । तस्या. स्वयंवरे सर्वत्र दूता गता । सर्वे नृपा चारणयुगले पुरे मिलिताः । अयोध्यापतिस्तत्र सगर आगन्तुमुद्यम चकार । पश्चात्स्नाने सति तैलोपलेपिना सगरेण राज्ञा पलित केश दृष्ट्वा तत्र गमने[1] विरक्तेन बभूवे । तत्रावसरे मन्दोदरी धात्री राजानमुवाच । देव । नवं पलितमिदं तवापूर्वद्रव्यलाभ वदति । तत्रैव विश्वभूमंत्री कथयति । हे राजन् । सुलसा परनृपान् मुक्त्वा त्वामेव वरयिष्यति तथाहं कुशलत्वया करिष्यामि । तच्छ्रुत्वा हृष्टो[2] राजा तत्र चतुरङ्गसैन्येन चचाल । तत्र केषुचिद्दिवसेषु गतेषु मन्दोदरी सुलसान्तिकं गत्वा हे पुत्रि । कुलरूप[3]सौन्दर्यविक्रमनयविनयविभववन्धुसम्पदादयो ये गुणा वरे

१ मनसि विरक्तेन इति ख पुस्तके । २ हृष्टो, इति ख. पुस्तके. । ३ कुलं रूपं इति क. पुस्तके ।

स्यास्य किं नामकस्य किं कुल को भाव प्राप्ते कस्य का गतिर्भविष्यती-त्युक्ते एक प्राह—अस्मत्समीपगो वसु, राज्ञ सुत, तीव्ररागाद्दिदूरपेत, हिंसाधर्मं विनिश्चित्य नारको भावी। द्वितीयो मुनि प्राह—मध्यस्थितो पर्वत, द्विजपुत्र, दुर्बुद्धि क्रूर, महाकालोपदेशादथर्वणं पापशास्त्रं पठित्वा दुर्मार्गदेशको हिंसैव धर्म इति रौद्रध्यानपरायणो बहून् नरके प्रवेश्य स्वयमपि नरकं यास्यति। तृतीयो मुनिरुवाच—एष पश्चात्स्थितो नारद, द्विज, धीमान्, धर्मध्यानपरायणोऽहिंसा लक्षण धर्म श्रितानां व्याख्या-याणो भावी गिरितटाख्यपुरस्य स्वामी भूत्वा दीक्षि वा सर्वार्थसिद्धिं यास्यति। त मुनित्रयोक्त श्रुतधर श्रुत्वा साधु पठित निमित्त भवद्भिरिति तुष्टाव। क्षीरकदम्ब उपाध्याय समीपतरतत्समाश्रयस्तदाकर्ण्य तदेतद्विचेष्टि-तमशुभ धिगिति भणित्वा किमत्र मया क्रियते इति निश्चित्य तत्र-स्थित एव मुनानभिवन्द्य वैमनस्येन शिष्यै सह नगर प्रविवेश। तदन-न्तरमेकवर्षेण शास्त्रेण बालत्वे पूर्णे जाते विश्वावसुर्नसने राज्यं दत्वा दीक्षा जग्राह। वसुर्निष्कण्टकराज्य कुर्वन्नेकदा वन क्रीडितुं गत। तत्रा काशे उड्डीयमाना पक्षिण स्खलित्वा पतितान् दृष्ट्वा चिन्तयामास। आकाशे उड्डीयमाना यत्पक्षिण पतन्ति तत्र किमपि कारणं भविष्य-तीति तस्मिन् प्रदेशे बाणं मुमोच। सोऽपि तत्र स्खलित, तत्र स्वय जगाम सारथिना सह तत्र पस्पर्श। आकाशस्फटि-कस्तम्भ विज्ञाय परैरविदिते तमानयामास। तस्य पादचतुष्टय पृथु निर्माप्य तत्सिंहासनमारुह्य नृपादिभि सेव्यमान सत्यमाहात्म्यात् खे सिंहासने स्थितो वसुरिति विस्मयमानेन लोकेन घोषितोऽत्रेति तस्थौ। एवमस्य काले गच्छति पर्वतनारदावेकदा समित्पुष्पार्थं वनं गतौ। तत्र नदीतटे मयूरा जलं पीत्वा गतास्तन्मार्गदर्शनान्नारद प्राह—ये मयूरा पानाय पीत्वा गतास्तेष्वेको मयूर सप्तमयूर्यो वर्तन्ते। तच्छ्रुत्वा पर्वत

१ व इति ख पुस्तके। २ दु खेन।

प्राह—मृषा वार्तासौ । मनस्यसहमानः पणितबन्धनं बबन्ध । तत्र किंचिदन्तरे गत्वा नारदोक्तं सद्भूतं ज्ञात्वा विस्मित्याग्रे गत्वा करेणुमार्गं ददर्श । तं दृष्ट्वा नारद उवाच—एषा हस्तिनी गता, सा वामलोचनेनान्धा, तामारूढा गर्भिणी स्त्री, पट्टाम्बरसहिता, अद्य पुत्रमजीजनत् । अन्धसर्पबिलप्रवेशवत् पूर्वोक्तं तव वचनं यादृच्छिकं सत्यमभूत्, इदं तु मिथ्या मयाऽविदितं किमस्तीति स्मित्वा स सासूयं विस्मयं चित्ते प्राप्य तदसत्यं कर्तुं हस्तिनीमनुगतः पुरं प्रविवेश । नारदोक्तं तथैव ददर्श । गृहमेत्य पर्वतो मातुरग्रे जगाद । किं जगाद ? मातः ! मे पिता यथा नारदं शिक्षितवाँस्तथा मां नापीपठत्, अस्य चेतसि नारदो वर्तते नाहमिति । तेन वचनेन विप्राया हृदयं विदारितं । पापोदयाद्विपरीतं तथा विचारितं । शोकं च ब्राह्मणी चकार । क्षीरकदम्बस्तु स्नात्वा अग्निहोत्रादिकं कृत्वा भुक्त्वा च स्थितः । तं प्रति ब्राह्मण्युवाच—त्वया पुत्रो न शिक्षितः, लोको व्युत्पादितः । क्षीरकदम्ब उवाच—प्रिये ! अहं निर्विशेषोपदेशः पुरुषं पुरुषं प्रति ददामि मतयस्तु भिन्नाः सन्ति । तेन नारदो कुशलो बभूव । प्रिये ! त्वत्पुत्रः स्वभावेन मन्दो नारदेऽसूयते किं क्रियते । इत्युक्त्वा प्रिया विश्वासमुत्पादयितुं पर्वतसमीपे नारदं पप्रच्छ । हे नारद ! त्वं वने भ्राम्यन् केन कारणेन पर्वतस्य बहुविस्मयं कारितवान् । नारद उवाच—स्वामिन् ! पर्वतेन सह वनं गच्छन् नर्मकथापरः पीतनारां मयूराणां संघो मया निर्वर्तते स्वचन्द्रककलापाम्बुमध्यमजनगौरवात् भीत्या व्यावृत्य विमुखं कृतपश्चात्पदस्थितिः शिखी च गतानेकः । शेषास्त्वीषज्जलार्द्रिताः पक्षभारं निधूय ययुः । तं दृष्ट्वाहमुक्तवान्—पुमानेकः शेषाः

१ तद् क. २ अभूत् ख. । ३ वने. ख. । ४ मयूरीणा ख. । ५ सद्यो. ख. । ६ मयातिवर्तते ख. ।

स्त्रिय इत्यनुमानात् । ततो वनान्तरात्कश्चिदागत्य पुरसमीपे करिण्यारूढ स्त्रिय नयन् पुर प्रति पश्चिमपादाभ्या प्रयाणके स्वमूत्रघट्टनात् करिणी मकथय । दक्षिणे भागे तरुवीरुद्भगेन वामलोचनेऽन्धां जगाद । मार्गात्प्रच्युत्य श्रमादारूढयोषित शीतच्छायाभिलाषेण पुलिनस्थले सुप्ताया उदरस्पर्शमार्गेण गुल्मप्रदेशाया स्त्रिय विवेद । करेणुश्रितमार्गे गृहोच्छ्रितकेतुदर्शनेन पुत्रजन्मोक्तवान् । तच्छ्रुत्वा विप्रो निजापराधाभाव भार्याया अकथयत् । तदा पर्वतमाता प्रसन्ना जाता । प्रिये ! मुनिना भाषितं यत्पर्वतो नरकं यास्यति । तत्प्रतीत्यर्थं भार्या स्वय च एकान्ते गत्वा पिष्टेन द्वौ[१] बस्तौ निर्माय पुत्रच्छात्रभावपरीक्षणार्थं द्विजोत्तम एक पुत्राय द्वितीय छात्राय ददौ । पराद्दश्यप्रदेशे गत्वा गन्धपुष्पमंगलैरर्चित्वा कर्णच्छेदं कृत्वा एतावद्यैवानयत युवा । तत्र पर्वतः पापी अस्मिन् वने न कोऽपि वर्तते इति कर्णौ छेदयित्वा पितरमागत्य पूज्य ! यथा त्वयोक्तं मया तथैव कृतमित्यवदत् । नारदस्तु वन गत्वा विचारयति गुरुणोक्तमदृश्यप्रदेशेऽस्य कर्णौ छेदनीयाविति । चन्द्र पश्यति । रविर्निरीक्षते । नक्षत्राणि विलोकन्ते । ग्रहास्तारकाश्च पश्यन्ति । देवता निरीक्षन्ते । सन्निहिता पक्षिणो मृगजातयश्च निषेद्धु न शक्यन्ते इति विचार्य कर्णयोश्छेदमकृत्वा गुरुसमीपमागतो नारदः । यतोऽस्य भव्यात्मा वनेऽदृष्टदेशास्यासंभवात्, नामस्थापनाद्रव्यभावाना विचारचतुर पापापश्याति-कारणक्रियाणामकर्तव्यत्वादहमिमं छाग विच्छिन्नावयव नाकार्षमित्युवाच । तच्छ्रुत्वा क्षीरकदम्ब. स्वपुत्रस्य जडत्वभाव ज्ञात्वा विचारयामास । यन्मिथ्यादृष्टय एकान्तेन नुवन्ति कारणात्कार्यसिद्धिरिति तदसत्य अत्र कारण गुरु कार्य शिष्यबुद्धयुत्कर्ष तत्रैकान्तेन

१ पुस्तकद्वयेऽपि बर्वेद इति पाठ । २ द्वे. स । छाग.।

न भवति यतो मयि पाठ्यत्यपि मत्पुत्रो जड इति तेन धिगेकान्त मत तत्तुमतमेव । कारणानुगत कार्य कचिद्भवत्येव कचिन्न भवत्येवेत्यनेकान्तमत सत्यमित्यनेकशास्त्रुश्राव । नारदस्य योग्यत्व ज्ञात्वा नारद ! त्वमेव सूक्ष्मबुद्धिर्यथार्थज्ञाता । अद्यप्रभृत्युपाध्यायपदे त्वं मया स्थापित । सर्वशास्त्राणि त्वया व्याकर्तव्यानि इति त प्रपूज्य प्रार्थयत् । धीमता सर्वत्र गुणैरेव प्रीति । निजसु-सुतं स्थित पुत्र जगाद—त्वं विवेकमन्तरणैव एतद्विरूपक चवर्थ, शास्त्रादपि तव कार्याकार्यविवेको नास्ति, मचक्षु परोक्षे त्व अरे कथ जीविष्यसि मूर्ख ! । एव शौकेन दत्तशिक्षो नारदे बद्धवैरो बभूव । कुधियामीदृशी गतिर्भवति । उपाध्यायस्त्वेकदा गृहादिक त्यजन् वसु गत्वोवाच—पर्वतस्तन्माता च द्वावपि म दयियौ तथापि मत्परोक्षे त्वया सर्वथा भद्र ! पालनीयाविति । वसुरुवाच—हे पूज्यपाद ! भवदनुग्रहादह प्रीतोऽस्मि । एतदनुक्तमेव सिद्ध । अस्मिन् कार्ये ममेदं किं वक्तव्य । अत्र सन्देहो न कर्तव्य । यथोचित परलोकं कर्तुमर्हति भवान् । इति मनोहरकथाम्लानमालया द्विजोत्तमं नृप आनर्च । क्षीरकदम्ब उपाध्यायस्तु सम्यक्सयम प्राप्य स यास कृत्वो स्तर्म स्वर्गलोकमगाप । पर्वतस्तु पितुस्थानमध्यास्य विदनादिक्शिक्षाणा व्याकर्तुं रतिं चकार । तस्मिन्नेव नगरे नारदो विद्वज्जनान्वित सूक्ष्म बुद्धिविहितस्थानो व्याख्यया यशो बभार । एव तयो काले गच्छति सत्येकदा विद्वत्सभाया "अजैर्यष्टव्यमिति" वाक्यस्यार्थप्ररूपणे महान् विवादो बभूव । नारद प्राह—अङ्कुरशक्तिरहितं यवबीज त्रिवर्षस्थ अज मिति कथ्यते तद्विकारेण वह्निमुखे देवार्चन विद्वासो यज्ञ वदन्ति । पर्वत उप यसति स्म—अजशब्देन पशुभेदस्तद्विकारेण हिरण्यरेतसि होत्र यज्ञो विधीयते । इति तयो सुधाप्रष्योरुप-यास श्रुत्वा ब्राह्मण मुख्या साधव प्राहु प्राणिवधाद्धर्मो न भवति । नारदे मत्सरि-

१ द्विरुक्तोऽय इति शब्द क पुस्तके ।

त्वात् पर्वतोऽवन्यामधर्मं प्रवर्तयितुं दुरात्मोपन्यास्यत् । पतितोऽयमयोग्य सहसंभाषणादिषु, इत्युक्त्वा चपेटाभिस्ताडितः निर्भर्त्सितोऽयं पापात्मा लोके घोषितः । दुर्बुद्धेः फलमेवंविधं भवति । एवं सर्वैरपि बहिष्कृतो मानभङ्गाद्वनं जगाम । तत्र ब्राह्मणवेषेण कृतान्तारोहणासन्नसोपानपदवीमिव वलीदद्धहस्ता अन्धचक्षुरेव मुहुः स्खलता विरलेन सितेन मूर्धजेन ततं राजतं शिरस्त्राणं समीपयमजाड्यादिव दधता जराङ्गनासमासक्तमुखनेव मीलच्चक्षुषा चलच्छिन्नकोणकरिणेव कुपितसर्पेणेव ऊर्ध्वश्वासिना राजवल्लभेनेवाऽग्रतो लुर्न पश्यता भग्नपृष्ठेन अपटुजल्पितेन असमेन योग्यदण्डेन दानव निर्गुणीकृतमुपवीतं धारयता निरन्तरमूत्रपमुल्लसासु निजं वक्रकोधं वक्तुमिव स्वाभिमतारम्भसिद्धिगवेषिणा पर्वतः पर्यटन् पर्वतो महाकालासुरेण दृष्टः सन् तमभिगम्याभ्यवाभिवादनमभ्यधात् । महाकालस्तं समाश्वास्य सादरं तत्र स्वस्त्यस्तिरित्युवाच । तमविज्ञातपूर्वत्वात्प्राह त्वं कुतस्त्या वने पर्यटनं कस्मादिति । पर्वतस्तु निजवृत्तान्तमादितः प्राह । तच्छ्रुत्वा महाकालश्चिन्तयामास । मम शत्रुं[1] सगरं निर्वंशीकर्तुं समर्थ एष स्यात् । भो पर्वत ! तव पिता स्थण्डिल अहं निष्पुरूपमन्यु । एतौ द्वावपि भौमोपाध्यायाशीभ्यां शास्त्राभ्यासमकारिताः । त्वत्पिता मम धर्मभ्राता तमहं द्रष्टुमागतः ममागमनं त्वत्तर्गङ्गु जातं । पुत्र पर्वत ! मा त्वं भैषीः तव शत्रुविध्वंसेऽहं सहायो भविष्यामि । इति क्षीरकदम्बपुत्राधिसानुगता अथर्वणगता षष्टिसहस्रप्रमिता पृथक् ऋचो वेदरहस्यानीति स्वयमुपाय पर्वतमध्याप्य शान्तिपुष्यभिचारात्मक्रिया पूर्वोक्तमन्त्रैर्निर्मितो पवनापेताग्निरागासमा इष्टे फलमुत्पादयिष्यन्ति, पशुहिंसाप्रयुक्ता मन्त्र इति । तत्र

१ भिडता घ । २ ट घ ।

साकेतपुरमध्यास्य शान्तिकादिफलप्रदं हिंसायागं समारम्य प्रभावं वयं कुर्महे। इति पर्वतमुक्त्वा वैरिविनाशार्थं निजतीव्रदैत्यान् सगरराष्ट्रस्य बाधां ज्वरादिभिर्यूयं कुरुध्वमिति संप्रेष्य पर्वतेन युतः साकेत महाकालासुरो गतः। पर्वतो मंत्रगर्भिताशीर्वादेनालोक्य सगरस्य स्वप्रभावं प्रकाशितवान्। हे राजन्! त्वद्देशप्राप्तं विषममशिवं अहं सुमित्रेण यज्ञेन लघु शोषयिष्यामि।

"यज्ञार्थं पशवः सृष्टाः स्वयमेव स्वयंभुवा।
यज्ञो हि भूत्यै सर्वेषां तस्माद्यज्ञे वधोऽवधः॥"

इति कारणात् स्वर्गमहासुखसाधनं पुण्यमेव भविष्यतीति पापी प्रत्याय्य तं जगाद। हे राजन्! यागसिद्ध्यर्थं पशूनां षष्टिसहस्राणि तद्योग्यमन्यद्द्रव्यं च संगृहाण। सगरोऽपि सर्वं मेलयित्वा तस्मै समर्पितवान्। पर्वतो यागं प्रारम्य पशूनभिमंत्रयामास। महाकालासुरस्तान् वषट्कृतान् शरीरेण सह स्वर्गे गतोऽयं स्वर्गे गतोऽयमिति विमानारूढा-न्नाकाशे नीयमानान् दर्शयामास। देशस्याशिवोपसर्गं तदैव निराचकार। तद् दृष्ट्वा मुग्धाः प्राणिनस्तद्वंचनया मोहिताः सन्तः स्वर्गगतये स्पृहयन्तो यागमृतिं भृशमाचकांक्षुः। सुमित्रयज्ञावसाने जात्यश्वमेकं विधिपूर्वकं हुतवान्, राजाज्ञया सुलसा च खलो वषट्चकार। प्रियकान्तावियोग-दुःखदावानलज्वालाभिः प्लुष्टकायो राजा नगरं प्रविष्टः, शय्योपरि शरीरं निचिक्षेप। प्राणिहिंसनं महदिदं वृत्तं किमयं धर्मः किमधर्मः इति संशयानः स्थितः। अन्यस्मिन्नहनि यतिवरनामानं मुनिमभिवन्द्य विज्ञप्तवान्। भट्टारक! मयारब्धं कर्म पुण्यं पापं वा सम्यक्कथय। यतिवरः प्राह— धर्मशास्त्रबाह्यमिदं कर्म कर्तारं सप्तमं नरकं प्रापयेत्। स्वामिन्नस्ति

१ यस्मिन् यज्ञे चतुःषष्टिसहस्राणां पशूनां वधः क्रियते स सुमित्रो यज्ञः कथ्यते।

तत्राभिज्ञानं । मुनिराह–राजन् सप्तमे दिने तव मस्तकेऽशनिः पतिष्यति इत्यभिज्ञानेन त्वं सप्तमे नरके यास्यसि । तदाकर्ण्य राजा भीत्वा पर्वताय निवेदयामास । पर्वत आह–राजन्नसौ नग्न क्षपणकः किं वेत्ति तथापि यदि तव शङ्का वर्तते तदत्र शान्तिर्विधीयते इति वचनैस्तस्य मनः सन्धार्य शिथिलीचकार । पुनः मुनिरमेव यज्ञं प्रारब्धवान् । ततः सप्तमे दिने पापासुरस्य मायया सुलसा आकाशे स्थिता ददृशे प्राप्ता पूर्वपश्चकेसरी यागमृत्युफलेनैवा मया देवगतिर्लब्धा । तं प्रमोदं तव निरूपयितुमहं विमानेनागता । तव यज्ञेन देवाः पितरश्च प्रीणिता इत्यभाषत । तद्वचनात्प्रत्यक्षं यागमृत्युफलं दृष्टं, जैनमुनेर्वाक्यमसत्यं जातं । तदनु राजा तीव्रेण हिंसानुरागेण सद्धर्मद्वेषेण संजातदुष्परिणामेन मूलोत्तरप्रकृतिकल्पितान् तत्प्रायोग्यसमुत्कृष्टदुष्टसंक्लेशसाधनात् नरकायुराद्यष्टकर्मस्थोचितस्थिते अनुभागबन्धनिकाचितत्वे सति भीषणाशनिरूपेण कालासुरे तन्मस्तके पतिते सति यागकर्मासक्तनिखिलप्राणिभिः सह सगरः सप्तमे नरके पपात । स कालासुरस्तत्क्षणेन महाक्रोधसंदष्टः पितुः तृतीयनरकपर्यन्तं पृष्ठतो जगाम । तमदृष्ट्वा साकेतमागतः । विश्वभूप्रभृतीनैरविवर्गमारणार्थं निःशङ्कं सुलसासंयुक्तं सगरं विमानमारूढं व्योम्नि दर्शयामास । पर्वतप्रसादेन यज्ञपुण्येनाहं स्वर्गं गतः सुखं प्राप्तवानिति प्रददाश । सगरपरोक्षे विश्वभूसचिवो राजा जातः । महामेधं उद्यमं चकार । महाकालासुरेण विमानगता दृष्टा पितरश्चाकाशे सर्वेऽपि व्यक्तं दर्शिताः । ते ऊचुः–भो विश्वभूस्त्वया महामेधः कृतः पुण्यवता त्वत्प्रसादेन वयं सर्वेऽपि पापाहृताः स्वर्गसुखं प्राप्ता इति स्तुतिं चक्रुः । नारदस्तापसाश्च तत्पूजानेन दुरात्मना एव दुर्मार्गोऽभिहितो लोकस्य

१ पूर्वं ये पशवो हतास्तैर्वा कपेटऽहमनेश्वरी मुक्त्वा देवत्वं प्राप्ता ।

वधाद्धर्मो वर्तते नान्यत्रेति चेन्न वधस्य तु स्वप्रत्ययत्वे उभयत्र सादृश्यात् फलेनापि सदृशेन भाव्यं । अथ त्वं एवं वक्षि, पशूनां सृष्टिः स्वयंभुवा यज्ञार्थं कृता तन्न, अन्यथा विनियोगस्यागच्छमानत्वात् । अयमागमोऽतिमुग्धाभिलापः विदुषा गर्हितः । यदर्थं सृष्टं ततोऽन्यत्र विनियोगेऽर्थकृत् कथं स्यात् । श्लेष्मादिशमनौषधं ततोऽन्यत्र वधमुपयोगि स्यात् । क्रयविक्रयादौ हलानोभारवाहनादौ महादोषः स्यात् । दुर्बलं त्वां वादिनं दृष्ट्वा सन्मुखमागत्य ब्रूमः । यथा शस्त्रादिभिः प्राणिघाती पापेन बध्यते तथा मन्त्रादिनापि घातकः पापेन बध्यते एवाविशेषत्वात् । हहो पर्वत ! यज्ञादिलक्षणा सृष्टिर्व्यज्यतेऽथवा क्रियते[1] चेत्क्रियते तर्हि खपुष्पादिकमप्यविद्यमानं कथं न क्रियते । अथ विद्यमानैव सृष्टिर्यज्ञार्थं व्यज्यते तर्हि पूर्ववचनं करणप्रतिपादकमनर्थकं स्यात् प्रदीपज्वलनमेव घटादेः पूर्वमप्यप्रत्यक्षं यतः । अनावृतस्यैव व्यक्तिः क्रियते इति चेत्तर्हि सृष्टिघातो भवद्भिः पूर्वं क्रियताम् । इति नारदेन कृतमुपन्यासमाकर्ण्य सर्वेऽपि सभास्तारास्तं तुष्टुवुः । अथ सभ्या ऊचुः —. द्वयोर्विवादो वसुना चेच्छेद्यते तर्हि स एव अभिगम्यताम् । इति श्रुत्वा ताभ्यां नारदपर्वताभ्यां सर्वापि संसत् स्वस्तिकावतीमुपचचाल । तत्र पर्वतः सर्वं वृत्तान्तं स्वमात्रे निवेदयामास । सा रात्रौ गुप्ता वसुं ददर्श । पुत्र वसो ! पर्वतोऽपरिणीतः । तपोयता गुरुणापि तवायमर्पितः । नारदेन सह तव प्रत्यक्षे वादो भविष्यति, तत्र वचनस्य भंगो भविष्यति तदास्य यमगृहप्रवेशो भविष्यतीति निश्चिनु । अस्य शरणमन्यो न वर्तते । वसुरुवाच । मातः ! गुरुशुश्रूषकोऽहं वर्ते । "गुरुवद्गुरुपुत्रे गुरुपत्न्यां च वर्तेत" इत्यहं नीतिज्ञोऽस्य जयं करिष्यामि । त्वं मैर्दीर्मा । अथान्येद्युस्ते तथाविधं सिंहासनमारूढं वसुं ददृशुः । तत्र विश्वभूप्रभृतयः

१ दुर्बलत्वं वा ।

संपप्रच्छुः । हे राजन् ! त्वत्तः पूर्वमपि अहिंसाधर्मरक्षणे तत्परा अत्र चत्वारो राजानो हिमगिरिमहागिरिसमगिरिवसुगिरिनामानो हरिवंशजाः पुरा च सजाताः। तत्रैव वंशे विश्वावसुमहाराजः सजातः। ततश्च भवान् संबभूव। तत्राहिंसाधर्मरक्षित्वे किमुच्यते। त्वमेव सत्यवादीति प्रघोषस्त्रिभुवने वर्तते। वस्तुसंदेहे त्वं विषवत् वन्हिवत् तुलावत् वर्तसे। प्रत्ययोत्पादी त्वमेव तेनास्माकं प्रभो! संशयं छिन्धि। नारदः खल्वहिंसालक्षणं धर्मं पक्षं कक्षीचकार। पर्वतस्तु तद्विपरीतमाचिक्षेप। तत्कथयत् भवानुपध्यायस्योपदेशमित्यभ्यर्थितः। गुरुपत्न्या पुरा प्रार्थित उपाध्यायोपदेशं जानन्नपि राजा महाकालोत्पादितमहामोहो दुःषमकालनिकटवर्तित्वात् विषयसरक्षणानन्दनामरौद्रध्यानतत्परः पर्वतोक्तं सत्यं वर्तते। प्रत्यक्षे वस्तुन्यनुपपन्नता का। पर्वतोक्तयागेन सश्रीकः सगरः स्वर्गमवाप। ज्वलन्तं प्रदीपं कोऽन्यो दीपो यस्ते प्रकाशयेत्। तेन पर्वतोक्तं यज्ञं स्वर्गसाधनं भयं त्यक्त्वा यूयं कुरुध्व। इति हिंसानृतानन्दबद्धनारकायुर्मिथ्यापापादपवादाबाभीरुर्जगाद। तदा ब्रह्माण्डं स्फुटितमिवाकाशे ध्वनिः संजातः, आकाशं खल्वित्याक्रोशं चकार[२] च। किमाक्रोशयदाकाश अहो नारद! अहो तापसाः! पृथिवीपतेर्मुखादीदृशमपूर्वं घोरं वचनं सजातमिति। नद्यः प्रतिकूलजलस्रवः संजाताः। सरांसि सद्यः शुष्काणि। रुधिरवर्षणमनारतं बभूव। सूर्यांशवो मन्दाः संजाताः। सर्वा दिशो मलीमसाः सम्पद्यन्ते स्म। भयविह्वलाः प्राणिनः कम्पं दधुः। तदा भूमिर्द्विधा भक्तिं गता। तस्मिन् महारन्ध्रे वसोः सिंहासनं ममज्ज। आकाशे स्थिता देवविद्याधरेशा इत्यूचुः–अहो वसुनरेन्द्र महाबुद्धे! धर्मविध्वंसनं मार्गं मा त्वमीदृशं वादीरित्यघोषयन्। सिंहासने निमग्ने सति पर्वतो वसुश्च परिम्लानमुखौ बभूवतुः। तौ

१ महमोहो. क २ चकारेव. क.

तादृशौ निरीक्ष्य महाकालस्य किंकरास्तापसाकारं गृहीत्वा समूचु—हे पर्वत ! हे वसो ! युवा भीतिं मा कार्ष्टामित्युक्त्वा स्वयमुत्थापितं सिंहासनं दर्शयामासु । तत्र स्थितो वसुरुवाच । अहं तत्त्ववित् कथं बिभेमि पर्वतस्य सत्यवचनं जानन्निति ब्रुवाण कण्ठपर्यन्तं निमग्नवान् । तद् दृष्ट्वा साधवो जगदु । अनेन मिथ्यावादेन भूपतेरियमवस्था सजाता । हे राजन् ! अद्यापि मिथ्यामार्गं त्यजेति साधुभि प्रार्थितोऽपि तथापि मूर्खो यज्ञमेव सन्मार्गं कथितवान् । भूम्या कुपितया सर्वाङ्गोऽपि निगीर्णं सप्तमं नरकं जगाम । तदा कालासुरो लोकप्रत्ययनिमित्तं गगने स्थितं सगरवसुरूपद्वयं दिव्यं दर्शयामास । आवां यागश्रद्धया दिवमनापाव यूयं नारदस्य वचनं मा मानयतेति प्रोच्य अन्तर्दधौ कालासुर । अथ शोकाश्चर्ययुक्तेन जनेन वसु स्वर्गं गतो न हि न हि नरकं गत इति विसंवदमानेन सह विश्वभू प्रयागं गत्वा राजसूयविधिं निदधे । महापुराधिपप्रमुखा लोकस्य मूढत्वं निन्दन्त परमेब्रह्मनिर्दिष्टमार्गे मनाक् स्थिता स्तस्थु । नारदेन धर्ममर्यादा रक्षितेति तं प्रशस्य गिरितटनाम्नीं पुरं तस्य ददु । तापसास्तु दयाधर्मनाशस्य कारणं कलिकालं कलयन्तो यथास्थिति विधुराशया जग्मु । अथान्यद्युर्नारदो दिनकरदेवं विद्याधरं निजमभीष्टं प्रत्युवाच-पर्वतस्य विरुद्धाचरणं त्वया निवार्यतामिति । सोऽपि तथा करिष्यामीति नागान्तं गत्वा निजविद्यया धारपन्नगानाहूय तत्प्रपञ्चं निवेदयामास । धारपन्नगास्तु सग्रामे कालासुरं भक्त्वा यागविघ्नं चक्रु । विश्वभूपर्वतौ तद् दृष्ट्वा शरणान्वेषणौ यात्रदासाता तावन्महाकालमग्रत स्थितं ददृशतु । तदग्रे तं वृत्तान्तं निवेदयाञ्चक्रतु । कालासुर उवाच—अस्मद्द्वेषिणो नागास्तैरयमुपद्रवो विहित । विद्यानुप्रवादोक्ता नागविद्यास्तासां विजृम्भणं जिनबिम्बानामुपरि न भवति तत सुरूपान् जिनाकारान् चतुर्षु दिक्षु निवेश्य

१ अद्यापित्र । २ आदिब्रह्म ।

पूजयित्वा च यज्ञविधिं युवां कुरुतमिति । तमुपायं श्रुत्वा तौ तथा चक्रतुः । पुनर्विद्याधराधिपो यागविघ्नं कर्तुमागतः । जिनबिम्बानि दृष्ट्वा नारदाय कथयति स्म । यस्मै विद्या अत्र न क्रामन्तीति स्वस्थानं जगाम । तदनन्तरं यज्ञो निर्विघ्नो बभूव । तदनु विश्वभूः पर्वतश्च सप्तमं नरकं गतौ । दीर्घकालं महादुःखमनुबभूवतुः । अथ महाकालोऽभिप्रेतं साधयित्वा निजरूपं धृत्वा लोकान् प्रत्याह—पोदनापुरे पूर्वभवेऽहं मधुपिंगलो नाम राजा आसं । सुलसानिमित्तं मया महत्पापमुपार्जितं । अहिंसालक्षणो धर्मो जिनेन्द्रैः कथितः स भवद्भिः कर्तव्यो धर्मिष्ठैरिति संप्रोच्य अन्तर्दधौ । पुनर्दयार्द्रधीः सन् सुदुश्चेष्टा पापस्य प्रायश्चित्तं स्वयं चकार । किं प्रायश्चित्तं ? सम्मोहात्कृतस्य पापस्य निवृत्तिरेव प्रायश्चित्तं तामसौ चकार । अथ दिव्यबोधैर्मुनिभिरित्युक्त-विश्वभूपमुखा हिंसाप्रवर्तका नारका बभूवुः । तच्छ्रुत्वा पर्वतोदिष्टं दुर्मार्गं केचित् पापभीरवो नाशिश्रियुः । केचित्तु दीर्घसंसारिणस्तस्मिन्नेव दुर्मार्गे स्थिता इति ।

इति श्रीभावप्राभृते मधुपिंगलद्रव्यलिंगिन कथा समाप्ता ।

अण्णं च वसिट्ठमुणी पत्तो दुक्खं णियाणदोसेण ।
सो णत्थि वासठाणो जत्थ ण ढुरुढुल्लिओ जीवे ॥ ४६ ॥

अन्यश्च वसिष्ठमुनिः प्राप्तः दुःखं निदानदोषेण ।
तन्नास्ति वासस्थानं यत्र न भ्रान्तो जीव ! ॥

अण्णं च वसिट्ठमुणी अन्यत्र भावरहितद्रव्यमुनिदृष्टान्तकथानकं वर्तते । तत्किं वसिष्ठमुनिः । पत्तो दुक्खं णियाणदोसेण प्राप्तो दुःखं निदानदोषेण शत्रुवधप्रार्थननिदानदोषेण नवमेन विष्णुना यः कंसनामा नृपो मारितः स वसिष्ठमुनिचरो मल्लयुद्धे मरणदुःखं प्राप्तः । सो णत्थि

१ तं ख । २ जीवो ग. घ. ।

वासठाणो तत्रास्ति वासस्थान जन्ममरणस्थान। **जत्थ ण दुरुदुल्लिओ जीव** हे जीव ! हे आत्मन् ! यत्र त्वं न जातो नोत्पन्नश्च दुरुदुल्लिओ भ्रान्त इति । वसिष्ठस्य कथा यथा—गगागन्धवत्योर्नद्यो सगमे जठर कौशिक नाम तापसाना पल्ली बभूव । तत्र वसिष्ठो नायक पञ्चाग्नि व्रत चरन्नास्ते स्म । तत्र गुणभद्रवीरभद्रनामचारणमुनिवरौ जगदतु — अज्ञानकृतमिद तप इति । तच्छ्रुत्वा वसिष्ठ क्रुधा सक्रोधं तयो पुरत स्थित्वा पप्रच्छ—कस्मा मेऽज्ञानतेति । तत्र गुणभद्रो भगवानाह—यत सत्पुरुषा हि हितभाषिणो भवन्ति । जटाकलापसजातयूकालिक्षाभिघ इन सतत स्नानेन जटामध्यप्रमृतमीनकान् दह्यमानकाष्ठमध्यस्थित-कीटकान् प्रदर्श्य इद तवाज्ञानमिति प्राबोधयत् । काललब्धिमाश्रित्य स वसिष्ठ सुधीर्भूत्वा गुणभद्रचरणान्ते तपो निर्ग्रन्थ गृहीत्वा सोपवास मातापनयोगं जग्राह । तत्तपोमाहात्म्यात् सप्तव्यन्तरदेवता अग्रत स्थित्वा ब्रुवन्ति स्म—मुने ! आदेश देहीति । मुनिराह—इदानीं मम प्रयोजन नास्ति गच्छत यूय । जन्मान्तरे मच्छिष्टं करिष्यथ । एवं तप कुर्वन् वसिष्ठ क्रमेण मथुरापुरीमाजगाम । तत्र मासोपवासी सन्नातापनयोगे स्थितवान् । स उग्रसेनेन राज्ञा दृष्ट । भक्तिवशेन पुर्यां घोषणा कारयामास—अय मुनिर्मद्गृहे एव भिक्षा गृह्णातु नान्यत्रेति । सोऽपि पारणादिने मथुरा जगाम । तत्राग्निमुत्थित दृष्ट्वा व्याघुट्य वनमाजगाम। पुनर्मासोपवास जग्राह । पुन पारणार्थं मासोपवासावसाने पुर गत । तत्र यागहस्तिन क्षोभ दृष्ट्वा वनमागत । पुनर्मासोपवासपारणाया नगर गत । तदा जरासन्धपत्रक दृष्ट्वा राजनि व्यग्रचित्ते सति पुनर्वलित । तदा क्षीणशरीर वसिष्ठमुनिं दृष्ट्वा लोको जगाद—अनेन राज्ञा मुनिर्मारित स्वय भिक्षा न ददाति परान् वारयतीति न ज्ञायते कोऽभिप्रायो नृपस्येति । तच्छ्रुत्वा वसिष्ठो मुनि पापोदयान्निदान चकार । मम दुष्क-

रस्तपःफलादस्य राज्ञः पुत्रो भूत्वा अमुं निगृह्य अस्य राज्यं गृह्णामहमित्यनेन दुष्परिणामेन मृत्वा पद्मावतीगर्भे पुत्रतया स्थितः। सा गर्भार्भककौर्येण दोहदं चकार–राज्ञो हृदयमासमश्नामीति। तदप्राप्नुवन्ती दुर्बला बभूव। तज्ज्ञात्वा मंत्रिणः प्रयोगेण विहितं दोहदं पूरयन्ति स्म। विद्वांसः किल कुर्युः। तदा सा पूर्णमनोरथा सुतमातकमसूत। मातापितरौ दष्टोष्ठं सभ्रूभंगं बद्धमुष्टिं तं दृष्ट्वा न पोषणे योग्योऽयमिति विचिन्त्य तद्विसर्जनोपायं चक्रतुः। कंसमयीं मंजूषामानीय सवृत्तकं कंसं तस्यां निधाय यमुनाप्रवाहे मुमुचतुः। कौशाम्बीपुरे मन्दोदरी नाम कल्पपाली, तया प्रवाहे मंजूषामध्ये स दृष्टः पुत्रतया पालितश्च। तपस्विना हीनान्यपि पुण्यानि किं न कुर्युः। कैश्चिद्दिनैर्डिंभनादिसहं वयः प्राप। आक्रीडमानो निष्कारणं सकलबालकान् चपेटया मुष्टिना दण्डादिना च प्रहारं ददाति बधपापं बध्नाति। तदुराचारोपलंभान् असहमाना मन्दोदरी तं तत्याज पुत्रं। सोऽपि शौर्यपुरं गत्वा वसुदेवपदातिर्भूत्वा तत्सेवां करोति यावत्। अत्रान्तरे जरासन्धो राजा त्रिखण्डमेदिनीपतिरपि कार्यशेषवान् वर्तते। सुरम्यदेशे पोदनापुराधीशं सिंहरथं युद्धे बद्ध्वा य आनयति तस्मै देशार्धं मत्सुतां कालिंदसेनासंजातां जीवंयशोनामानं ददामीति पत्रमाला राज्ञां समूहान् प्रति प्रेषयामास। तत्पत्रं वसुदेवो गृहीत्वा प्रर्थोचितवान्[२]। निजाह्वान् सिंहसूत्रेण भावयित्वा तैर्बोधं रथमारुह्य संग्रामे तं जित्वा कंसेन निजभृत्येन बन्धयित्वा सिंहरथं राज्ञे अर्पयामास। जरासन्धस्तु तुष्टा निजसुतां देशार्धं च ददौ। वसुदेवस्तु तां कन्यां दुष्टलक्षणां दृष्ट्वोवाच–देव! नाहं सिंहरथं बद्धवान्, कर्मेदं कंसः कृतवान्, भवत्प्रेषणकारिणेऽस्मै कन्या प्रदीयतां। तच्छ्रुत्वा जरासन्धः कंसस्य कुलं जिज्ञासुः मन्दोदरीं प्रति दूतं प्रजिघाय। तं दृष्ट्वा

१ जीवयश० ख.। २ प्रतापवान् क.।

वासठाणो तत्रास्ति वासस्थानं जन्ममरणस्थानं। **जत्थ न ढुरुढुल्लिओ जीव** हे जीव ! हे आत्मन् ! यत्र त्वं न जातो नोत्पन्नश्च ढुरुढुल्लिओ-भ्रान्त इति । वसिष्टस्य कथा यथा–गंगागन्धवत्योर्नद्योः संगमे जटरकौशिकं नाम तापसानां पल्ली बभूव । तत्र वसिष्ठो नायकः पंचाग्निव्रतं चरन्नास्ते स्म । तत्र गुणभद्रवीरभद्रनामचारणमुनिवरौ जगदतुः–अज्ञानकृतमिदं तप इति । तच्छ्रुत्वा वसिष्टः कुधीः सक्रोधं तयोः पुरतः स्थित्वा पप्रच्छ–कस्मान्मेऽज्ञानतेति । तत्र गुणभद्रो भगवानाह–यतः सत्पुरुषा हि हितभाषिणो भवन्ति । जटाकलापसंजातयूकालिक्षामिषहृतं सततं स्नानेन जटामध्यत्रमृतमीनकान् दह्यमानकाष्ठमध्यस्थितकीटकान् प्रदर्श्य इदं तवाज्ञानमिति प्राबोधयत् । काललब्धिमाश्रित्य स वसिष्टः सुधीर्भूत्वा गुणभद्रचरणान्ते तपो निर्ग्रन्थं गृहीत्वा सोपवासमातापनयोगं जग्राह । तत्तपोमाहात्म्यात् सप्तव्यन्तरदेवता अग्रतः स्थित्वा ब्रुवन्ति स्म–मुने ! आदेशं देहीति । मुनिराह–इदानीं मम प्रयोजनं नास्ति गच्छत यूयं । जन्मान्तरे मच्छिष्टिं करिष्यथ । एवं तपः कुर्वन् वसिष्टः क्रमेण मधुरापुरीमाजगाम । तत्र मासोपवासी सन्नातापनयोगे स्थितवान् । स उग्रसेनेन राज्ञा दृष्टः । भक्तिवशेन पुर्यां घोषणां कारयामास–अयं मुनिर्मद्गृहे एव भिक्षां गृह्णातु नान्यत्रेति । सोऽपि पारणादिने मधुरां जगाम । तत्राग्निमुत्थितं दृष्ट्वा व्याघुट्य वनमाजगाम। पुनर्मासोपवासं जग्राह । पुनः पारणार्थं मासोपवासावसाने पुरं गतः। तत्र पट्टहस्तिनः क्षोभं दृष्ट्वा वनमागतः । पुनर्मासोपवासपारणायां नगरं गतः । तदा जरासन्धपत्रकं दृष्ट्वा राजनि व्यग्रचित्ते सति पुनर्वलितः। तदा क्षीणशरीरं वसिष्टमुनिं दृष्ट्वा लोको जगाद–अनेन राज्ञा मुनिर्मारितः स्वयं भिक्षां न ददाति परान् वारयतीति न ज्ञायते कोभिप्रायो नृपस्येति । तच्छ्रुत्वा वसिष्टो मुनिः पापोदयान्निदानं चकार । मम दुष्य-

रतप फलादस्य राज्ञ पुत्रो भूत्वा अमुं निगृह्य अस्य राज्यं गृह्णास-महमित्यनेन दुष्परिणामेन मृत्वा पद्मावतीगर्भे पुत्रतया स्थित । सा गर्भार्भकक्रौर्येण दोहदं चकार–राज्ञो हृदयमासमश्नीति । तदप्राप्नुवन्ती दुर्बला बभूव । तज्ज्ञात्वा मन्त्रिण प्रयोगेण विहित दोहद पूरयन्ति स्म । विदास किम कुर्यु । तदा सा पूर्णमनोरथा सुतपातक मसूत । मातापितरौ दष्टोष्ठ सभ्रूभंग बद्धमुष्टिं स दृष्ट्वा न पोषणे योग्योऽय-मिति विचिन्त्य तद्विसर्जनोपाय चक्रतु । कसमयीं मञ्जूषामानीय सवृत्तक कस तस्या निधाय यमुनाप्रवाहे मुमुचतु । कौशाम्बीपुरे मन्दोदरी नाम कल्पपाली, तया प्रवाहे मञ्जूषामध्ये स दृष्ट पुत्रतया पालितश्च। तप स्विना हीनान्यपि पुण्यानि किं न कुर्यु । कैश्चिद्दिनैर्डिभनादिसह यय प्राप । आक्रीडमानो निष्कारण सकलबालकान् चपेटया मुष्टिना दण्डा-दिना च प्रहार ददाति वधपाप बध्नाति। तदुराचारोपलम्भान् असह-माना मन्दोदरी त तत्याज पुत्र । सोऽपि शौर्यपुर गत्वा वसुदेवपदाति भूत्वा तत्सेवा करोति यावत्। अत्रान्तरे जरासन्धो राजा त्रिखण्डमेदिनी-पतिरपि कार्यशेषवान् भवत । सुरम्यदेशे पोदनापुराधीश सिंहरथ युद्धे बद्ध्वा य आनयति तस्मै देशार्धं मत्सुता कालिन्दसेनासजाता जीवयशो-नामान ददामीति पत्रमाला राज्ञा समूहान् प्रति प्रेषयामास । तत्पत्र वसुदेवो गृहीत्वा प्रवाचितवान् । निजाङ्गनान् सिंहमूत्रेण भावयित्वा तै-र्बद्ध रथमारुह्य सग्रामे स जित्वा कसेन निजभृत्येन बन्धयित्वा सिंहरथ राज्ञ अर्पयामास । जरासन्धस्तु तुष्ट्वा निजसुता देशार्धं च ददौ । वसु-देवस्तु ता क या दुष्टलक्षणा दृष्ट्वोवाच–देव । नाह सिंहरथ बद्धवान्, कर्मेद क्स कृतवान्, भवत्प्रेषणकारिणेऽस्मै कन्या प्रदीयता । त च्छ्रुत्वा जरासन्ध कसस्य कुल विज्ञातु मन्दोदरीं प्रति दूत प्रजिघाय । त दृष्ट्वा

१ जीवयश० ख । २ प्रतापवान् क ।

मन्दोदरी मम पुत्र किं तत्रापि कृतापराध इति भीत्वा समंजूषा तत्र जगाम। जरासन्धाग्रे मंजूषा निक्षिप्य इयमस्य मातेयुवाच। देव! कसंमंजूषामधिष्ठायाऽर्भक आगतो यमुनाजले मया लब्ध प्रतिपाल्य वर्धितश्च तत एव नाम्ना कंस कृत। अथ स्वभावेन शौर्यदर्पिष्ठ शिशुत्वेऽपि निरर्गल पश्चादुपालम्भशतैर्लोकाना मया वर्णित। तच्छ्रुत्वा मंजूषाया पत्र गृहीत्वा उच्चैर्वाचयामास। उग्रसेन-पद्मावत्यो सुत विज्ञाय सुतामर्धराज्यं च तस्मै वितितार। कसोऽपि जातमात्रोऽहं नद्या प्रवाहित इति क्रोधेन मथुरापुरं स्वयमादाय मातर पितरौ बन्धस्थौ कृत्वा गोपुरे धृतवान्। विचारविकला पापीयास कुपिता किं किं न कुर्युरिति। अथ वसुदेवं महीपति पुरमानीय निजानुजा देवकीं दत्वा तत्र तं स्थापितवान् महाविभूतिम तं [illegible] चकार। एवं सुखेन कसस्य काले गच्छति सत्येकदाऽतिमुक्तको मुनिर्भिक्षार्थं राजमन्दिर प्रविष्ट। त दृष्ट्वा जीवयशा हर्षमाणा तं हास्येनोवाच—हे मुने! देवकी तव लघुभगिनी पुष्पजानन्दवस्त्रं सरैतदर्शयति वस्त्रेण स्वचेष्टित प्रकाशयतीति। तच्छ्रुत्वा मुनि कोप कृत्वा वाग्गुप्तिं भित्वा जगाद—मुग्धे! किं हृष्यति देवक्या यो भविष्यति पुत्र स तव भर्तारमवश्यं हनिष्यति। तच्छ्रुत्वा जीवयशा कोपेन तद्वस्त्रं द्विधा चक्र। मुनिराह-मुग्धे! न केवल तव पतिमेव हनिष्यत्यनेन पितरमपि तव हनिष्यति। इत्युक्त सा कुपिता तद्वस्त्रं पादाभ्याममर्दयत्। तद्दृष्ट्वा मुनिर्जगाद—मुग्धे! अनेन सागरान्तां पृथ्वीं नारीमिव पालयिष्यति। जीवयशास्तच्छ्रुत्वा गत्वैकान्ते भर्त्रे निवेदयामास। कंसो भीत्या हास्येनापि प्रोक्तं मुने सफल भविष्यतीति वसुदेवं राजानं गत्वा सस्नेहमिद-

१ कंसस्य तृणविदारस्य मञ्जूषा ता। २ तव घटितम। ३ कुपिता स्त्र।

मयाचत देवकी मम गृहान्तरे प्रसुतिं कुर्यान्मर्तादिति। वसुदेवस्तेनोपरुद्धः सैस्तथास्त्विति जगाद । अवश्यभाविकार्येषु मुनिरपि मुह्यति। अथैकदा स मुनिर्देवकीगेहं भिक्षार्थं प्रविवेश। वसुदेवो देवकी च तं प्रतिगृह्य भोजयित्वो आवयोर्दीक्षा भविष्यतीति छद्मना जगदतुः । मुनिस्त-दिङ्गितं ज्ञात्वोवाच--युवयोः सप्त पुत्रा भविष्यन्ति तेषु षट् पुत्रा परस्थाने वृद्धिमित्वा मोक्षं यास्यन्ति सप्तमस्तु पुत्रो निजच्छत्रच्छायया पृथ्वीं निर्वाप्य चक्रवर्ती दीर्घकालं पालयिष्यति । देवकी ततस्त्रिर्यमलान् लेभे। तान् ज्ञानवान् शक्रश्चरमाङ्गान् ज्ञात्वा नैगमर्षं देवं प्रोवाच--एतास्त्वं रक्ष । स च भद्रिलपुरं अलकाया वणिक्पुत्र्या पुरो निक्षिप्य तत्पुत्रास्तदा तदा मृतान् गृहीत्वा मृतान् यमान् देवक्यग्रे निचिक्षेप । कंसस्तान् मृतान् यमान् दृष्ट्वा किममी मे मृता करिष्यन्तीति मुने र्वाक्यमसत्यमभूदिति प्राप्य साशंकं शिलायामास्फालयामास । पश्चाद्देवकी सप्तमं पुत्रं सप्तम एव मासे जनितवती निजगृहे एव महाशुक्राच्च्युतं निर्नामिकचरं मुनिवरं । वसुदेवो बलभद्रश्च नीतिमन्तौ, देवकीं ज्ञापयित्वा गृहीतवन्तौ, बलेन बालं उद्धृतं, पित्रा धृतच्छत्रो रात्रावेव निष्कासितः । तत्पुण्येन पुरदेवता वृषभरूपेणाग्रेऽग्रे निजशृङ्गमणिदीपिकाकृतोद्योता मार्गं दर्शयामास । तद्बालपादस्पर्शाद्गोपुरमुद्घाटितोररं सद्यो जातं । तत्र बन्धनस्थित उग्रसेन उवाच कवाटोद्घाटनं कः करोति। बलदेव उवाच--यस्त्वां बन्धान्मोचयिष्यतीति तूष्णीं तिष्ठेति । उग्रसेन एवं भवत्वित्याशीर्भिरभिनन्द्य स्थितः । तौ तु यमुनामितौ। सा भविष्यच्चक्रिप्रभावेन द्विधाभूत्वा मार्गं ददौ । सवर्णं को वा बन्धुता सार्द्रों न कुर्यात् । तौ विस्मितौ यमुनां व्यतिक्रम्य वालिकामुद्दिश्यागच्छन्तं नन्दगोपतिं ददृशतुः । तं दृष्ट्वा तावूचतुः--भद्र ! त्वमसहायो रात्रावत्र कि-

१ पूर्वदत्तवरदानात् । २ अस्मादग्रे उवाचेति पदं । ३ त्रियमल ख. । ४ शब्दं ।

मित्यागत । स प्रणम्योवाच—मम प्रिया युष्मप्रचारिका पुत्रार्थं गन्धादिभिः पूजयित्वा देवता याचितवती—देवि ! पुत्रं मे देहीति । सोच रात्रौ पुत्रीं लेभे । सोवाचेति स्त्र्यपत्यं ताभ्य एव देहि । तस्या यशोदाया वचनादिदं स्त्र्यपत्यं देवताभ्यो दातुं मम प्रयासोऽयं स्वामिन्निति जगाद । तद्वचनं तौ श्रुत्वाऽस्मत्कार्यं सिद्धमिति प्रहृष्य तमूचतु—त्वमस्माकमभीष्टस्तेन तव गुह्यं कथ्यते, अयं बालश्चक्री भविष्यति त्वं पालयेति । इयं तु बालिकाऽस्मभ्यं दीयतामिति । तां गृहीत्वा गूढतया पुरं गतौ । नन्दगोपस्तु गृहं गत्वा प्रियां प्राह—प्रिये ! देवता तुष्टा महापुण्यं पुत्रं तुभ्यं ददुः प्रसन्ना इति प्रोच्य तं पुत्रं तस्यै समर्पयामास । कंसस्तु देवकी पुत्रीं प्रसूतवतीति श्रुत्वा तत्र गत्वा तां सुतां भग्ननासां चकार । माता तु सा बालिका भूमिगेहे वर्धिता प्रौढयौवना नामादिक्षतिं विलोक्य आर्यिकापार्श्वे सुव्रतां दीक्षां जग्राह शान्तेनोसे । विन्ध्यपर्वते स्थानयोग गृहीत्वा स्थिता । वनवासिषु देवतेति पूजयित्वा गतेषु रात्रौ व्याघ्रेण भक्षिता स्वर्गलोकं जगाम । अथापरस्मिन् दिने व्याधैर्हस्ताङ्गुलित्रयं दृष्टं । क्षीरकुंकुमादिभिः पूजितं देशवासिभिर्विमूढात्मभिरसावार्या विन्ध्यवासिनी देवतेति प्रमाणिता । अथ तस्मिन् पुरे महोत्पाता प्रसृता । तान् दृष्ट्वा कंसेन वरुणः पृष्टः किमपां फलमिति । स आह—तव शत्रुः समुत्पन्नो महान् इति । नैमित्तिकवचनं श्रुत्वा राजा चिन्तापरो बभूव । तदा पूर्वोक्ता देवताः समागताः किं कर्तव्यमिति पप्रच्छुः । स आह-मम शत्रुः पापिष्ठः क्वचिद्वृत्पन्नमन्विष्य मारयत यूयं । तच्छ्रुत्वा सत्तापि गतास्तथास्त्विति । तत्र पूतना विभंगात् ज्ञात्वा वासुदेवं मारयितुं यशोदा[1]मातृरूपं गृहीत्वा विषमस्तनपानोपायेन दुग्धमारणं चिकीर्षितवती । तद्वालपाऽनाथुता काचिदन्या देवता स्तनदा-

---

१ यशोदा ।

नावसरे बलवत्पीडां चकार। तत्पीडां सोढुमसमर्था मृताहमिति आक्रोशं कृत्वा पलायिता (१)। द्वितीया देवता शकटाकार गृहीत्वा शिशूपरि धावन्ती तेन पादाभ्यां ताडिता नष्टा (२)। अपरेद्युर्नन्दगोपी कट्यामुदूखलं बद्ध्वा जलमानेतुं गता तथापि शिशुरवगमत्। तदा तं बालं मारयितुं द्वे देवते अर्जुनतरू भूत्वा तदुपरि पतन्त्यौ मूलादुन्मूलयामास (३—४)। विष्णोश्चङ्क्रमणवेलायामेका तालतरुभूत्वा तन्मस्तके फलानि दृषदोऽपि निष्ठुराणि पातयितुमुद्यता (५)। अपरा रासभी भूत्वा तं दंष्टुमागता। तां रासभीं चरणे धृत्वा तयैव तं वृक्षमताडयत् (६)। अन्यस्मिन् दिनेऽन्या देवता तुरगमो भूत्वा तं मारयितुमागता। तस्य वदनं मुष्टिना जघान (७)। एवं सप्तैव देवताः केशवमागत्योचुः—वयं तव शत्रुमाहन्तुं न समर्थाः स्म इति। विद्युत इव विलीनाः। देवतानामपि शक्तयः पुण्यवज्जने न समर्थाः शङ्गजेऽरिशस्त्राणीव। अन्यस्मिन् दिनेऽरिष्टनामा देवस्तत्पराक्रमं द्रष्टुं तत्पुरमागतः कृष्णवृषाकार, तस्य ग्रीवाभञ्जने स उद्यमं चकार। तं माता यशोदापि तं तर्जयति स्म—पुत्र! एवमादितः एवाफलचेष्टितात् क्लेशान्तरसम्पादकाद्विरमेति पुनः पुनर्निवारितोऽपि महोत्कटस्तच्चेष्टितं चकार। महौजसोऽपदानं निवारयितुं न शक्यन्ते। तत्पौरुषं ख्यातं लोकरचनादाकर्ण्य देवकीवसुदेवौ तद्दर्शनं उत्कण्ठितौ। गोमुखीनामोपवासमिषेण सीरिणां सह महत्या विभूत्या गोदावनं गाढं परिवारेण सह गतौ। तस्मिन्नेव दर्पवद्वृषभेन्द्रग्रीवाभङ्गावसरे कृष्णं महाबलं समालम्ब्य स्थितं दृष्ट्वा गन्धमाल्यादिसन्मानानन्तरं भूषयामासतुः। तदनन्तरं प्रदक्षिणं कुर्वत्या देवक्या शातकुम्भकुम्भसदृशयोः स्तनयोः क्षीरं सुस्राव कृष्णस्याभिषेकं कुर्वत्या इव। बलस्तद्वीक्ष्य मन्त्रभेदभयादुपवासप

१ महौजसोपदानि ख। २ क्षुद्रकर्मणि इत्यर्थः। ३ बलभद्रेण। ४ महाविभूत्या ख। ५ क्षुभाव ख। ६ बलदेव।

रिश्रान्ता माता मूर्छितेति जल्पन् सुधीः कुम्भपूर्णपयोभिस्तां समन्ततोऽभ्युक्षितवान् । ततो गोष्ठवृक्षादीनामपि तद्योग्यं पूजनं कृत्वा गोपालकुमारैः सह कृष्णं भोजयित्वा स्वयं च भुक्त्वा माता पिता च विकुर्वाणौ पुरं प्रविविशतुः । कदाचिन्महावर्षपाते जाते गोवर्धनाख्यं पर्वतमुद्धृत्य हरिर्गवामावरणं चकार । तेन ज्योत्स्नेव तत्कीर्तिरखिलं जगत् व्याप्नोति स्म शत्रुमुखकमलसंकोचकारिणी । तन्नगरस्थापनाहेतुभूतजिनालयसमीपे पूर्वदिशि देवतागृहे हरिपुण्यातिरेकात् नागशय्या धनुः शंखश्च त्रीणि रत्नानि देवतारक्षितानि नारायणस्य भविष्यल्लक्ष्मीसूचकानि समुत्पन्नानि । तानि दृष्ट्वा कंसो वरुणं समयः पप्रच्छ–एतेषां प्रादुर्भूतेः किं फलमिति । स प्राह–हे राजन् ! एतानि त्रीणि रत्नानि शास्त्रोक्तविधिना यः साधयति स चक्रवर्ती भविष्यतीति । तच्छ्रुत्वा कंसः स्वयं तन्नितयं साधयितुमिच्छुरपि साधयितुमशक्तो मनाक् खिन्नः साधनाद्विरराम । उक्तवांश्च यो नागशय्यामारुह्यैकेन हस्तेन शंखं पूरयति द्वितीयेन करेण धनुरारोपयति युगपत्कार्यत्रयं करोति तस्मै निजपुत्रीं दास्यामीति स्वशत्रुं परिज्ञातुं साशंकः पुरे घोषणामचीकरत् । तद्वार्तां श्रुत्वा सर्वे राजान आगताः । राजगृहान् कंसस्यालकः स्वर्भानुनामा भानुनामानं स्वपुत्रं भानुसदृशमादायाजगाम । निवेशं चिकीर्षुर्गोदावनसमीपे महासर्पनिवाससरोवरतटे निवासं कर्तुमना गोपालकुमारेभ्यः श्रुत्वा कृष्णं विनाऽस्य सरसो जलमानेतुं परैर्न शक्यमिति तमाहूय यथास्थानं स्कन्धावारं निवेशयामास । कृष्ण उवाच–राजन् ! त्वया कुत्र गम्यते इति । स्वर्भानुर्मथुरागमनप्रयोजनं तस्योक्तवान् । कृष्ण उवाच–राजन् ! एतत्कर्म किमस्मद्विधैरपि कर्तुं भवेत् । तच्छ्रुत्वा स्वर्भानुश्चिन्तयामास-

१ दरा० ग. । २ हर्षमत्वी । ३ प्रविवशतुः क. । प्रविष्टुः ग. ।

असौ शिशुः पुण्याधिकः केवलो न वर्तते इति । तस्य कर्मणः शक्तश्चेदागच्छेति निजपुत्रमिव तं गृहीत्वा सुभान्वपरनामा स्वर्भानुर्मथुरां जगाम । यथार्हं कंसं ददर्श । तत्कर्मकरणे बहून् भग्नमानान् दृष्ट्वा कृष्णः स्वर्भानुसुतं भानुं समीपगं कृत्वा कर्मत्रयं समकालं चकार । ततः सुभानुना दिष्टयादिष्टः कृष्णो गोष्ठं जगाम । कैश्चित्पुरुषैः कंसो भणितः "तत्कर्म भानुना कृतं" । कैश्चित्तद्रक्षकैरुक्तं "न भानुना तत्कर्म कृतं अन्येन कुमारेणेति" । तच्छ्रुत्वा कंसः प्राह—सोऽन्योऽन्विष्यानीयतां तस्मै कन्या प्रदीयते इति । स कस्य, किं कुलं, कस्मिन्निति । तावन्नन्दगोपेन सम्यग्विज्ञातं अनेन मत्पुत्रेण तत्कर्म सम्यक्कृतमिति भीत्वा गोमण्डलं नीत्वा पलायांबभूवे । शिलास्तंभमुद्धर्तुं तत्र सर्वे जनाः प्राप्तास्ते नाशक्नुवन् । कृष्णेन केवलेनैव समुद्धृत[1] । तत्साहसात् सर्वे जना विस्मित्य जहृषु[1] । पराध्यांशुकाभरणादिदानेन पूजयामासु[1] । नन्दगोपस्तु ममास्य पुत्रप्रभावेन कुतोऽपि भयं नास्तीति प्राक्तनमेव स्थानं गोकुलं निनाय । अन्वेषकैस्तु नन्दगोपसुतेनैतत्कर्म कृतमिति राज्ञे निवेद्यते स्म । तथापि तदनिश्चये सहस्रदलकमलमहीशारक्षितं प्रेष्यतामिति राज्ञा नन्दगोप आज्ञापितः शत्रोर्जिज्ञासया । तच्छ्रुत्वा नन्दगोपः शोकाकुलो बभूव "राजानः किल प्रजानां पालका भवन्ति कष्टमेतत् तेऽद्य मारकाः संजाता इति।" निर्दिश पुत्र ! त्वं याहि राज[2]विच्छिरीदृशी वर्तते इति । त्वयैवोग्रसर्परक्षितानि कमलानि राज्ञः प्रदातव्यानीति जगाद । कृष्ण[1] प्राह—कोऽपि पदार्थः किं दुष्करो मम वर्तते इत्यपूर्वतेजा नागसरो जगाम । त्वरितं तत्र निःशंकं प्रविवेश च । तं ज्ञात्वा कोपेन वेपमानो लेलिहानः स्वनिःश्वाससमुद्भूतज्वल-

१ ख. पुस्तके नास्त्ययं पाठः । २ आज्ञा ।

ज्वालाकणान् किरन् फणारत्नप्रभाभासिफणाप्रकटाटोपभयानकः प्रचल-दरसनायुगलो विस्फुरद्वीक्षणाऽत्युग्रवीक्षणः प्रत्युत्थाय कृतान्ताकारस्तं निगरितुमुद्यतः । कृष्णस्तु मम वसनमिदमस्य ताडने शुद्धशिला भवत्विति जलार्द्रं पीतवस्त्रं मुक्त्वा फटायां तं निष्ठुरं ताडयामास। तस्माद्वज्रपाताद्वज्रपातादपि दुर्धरात् पूर्वपुण्योदयाच्च भीतः कालियाहिः फणीन्द्रोऽदृश्यतां जगाम । हरिर्यथेष्टं कमलानि गृहीत्वा शत्रोः समीपं प्रापयामास । तानि दृष्ट्वा कंसो निजशत्रुं दृष्टवानिव नन्दगोपसमीपे मम शत्रुर्वर्तते इति निश्चिकाय । एकदा नन्दगोपालमादिष्टवान् मल्लयुद्धमीक्षितुं निज-मल्लैः सहाऽऽगच्छेरिति । स च तत्तदेशं श्रुत्वा कृष्णादिभिर्मल्लैः सह प्रविवेश । तत्र मत्तगजं वीतत्रपं घनं कृताताकारं मन्दगन्धाकृष्टाल-वन्द्भ्रमरसेवितं नियमच्युतराजकुमारवत् निरंकुशं दन्तमुशलाघातनिर्भिन्न सुधामन्दिरमाधायन्तं विलोक्य कश्चित् सम्मुखं प्रढौक्य दन्तमेकमुत्पाट्य तेनैव तं ताडयामास। गजोऽपि भीतो दूरं जगाम। तद्दृष्ट्वा हरिर्भृशं तुष्टः सन्नुवाच–अनेन निमित्तेन कुटुम्बप्रकटीकृतो जयोऽस्माकं भविष्यतीति गोपान् समुत्साह्य कंससंसदं विवेश । वसुदेवोऽपि राजा कंसाभिप्रायं विदित्वा निजसेनां सन्नाह्यैकत्र स्थितः । बलभद्रोऽपि कृष्णेन सह रंगं प्रविष्ट इव दोर्दण्डास्फालनध्वनिं कृत्वा समन्तात् परिभ्रमन् कंसविनाशोऽद्य तव समय इति समाख्याय निर्जगाम। तदा कंसादेशेन विष्णुरिपवो गोपकुमाराः प्रदर्पवन्तः भुजानास्फाल्य गृहीतमल्लपरिच्छदाः कर्णान्तदकारिवादित्रचटुलध्वनिभिरेकत्रीभूत्वा चरणोत्क्षेपनिक्षेपाः प्रोन्नतभुज-द्वयोत्कटाः पर्यायनर्तितप्रेक्षणीयभ्रूभंगभयानकशब्दानिवर्तनशतावर्तनसं-भ्रमणवल्गनप्लवनसमवस्थानैरपरैश्च स्फुटैः करणैः रंगसमीपमलंकृत्य नयन-

१ रसज्ञा क २ नेत्र । ३ अवलोकनीय । ४ द्वयोत्क्षेपा ख ।

मनोहरास्तस्थिवांसः। कंसमल्लाश्च प्रोद्वृत्ताश्चाणूरप्रमुखा विक्रमैकरसा रंगाम्यर्णे समाक्रम्य स्थितवन्तः। विष्णुश्च रंगस्य मध्ये समुदात्तमनः प्रसरो वीर उरुमल्लाग्रणीः प्रतिमल्लयुद्धनिजयं प्रागेव प्राप्त इव दीप्ततेजा देवोऽवतीर्णोऽधुना मर्त्यत्वं प्राप्तो भास्वानिव अहं जेष्यामीति प्रवृद्धपराक्रमैकरसः स्वयं संभावयन् निबिडपरिगृहीतपरिधानः प्रबद्धकोशः स्वभावेन मसृणाङ्गो निकूर्चश्चित्तवृत्तिनिचितोऽप्रतिमल्लैर्निरन्तराभ्यस्तनियुद्धत्वादविकलब्धजयलाभः सर्वैरपि संभावितोत्साहः स्थिरतरपादनिवेशो वज्रसारास्थिबन्धो भुजार्गलापरिबाधी मुष्टिसंमायिमध्यप्रदेशः कृतानेककरणसमूहो लघुसंचरणप्रवीणोऽतिकठिनविस्तीर्णवक्षःस्थलो बृहन्नीलपर्वतोत्तुङ्गो दर्पप्रवृद्धिद्विगुणितनिजमूर्तिर्ज्वलितवलितनेत्रत्वादुर्निरीक्ष्यसामुद्योतिशयेनाशनिपातवद्भूमो नन्दनन्दनः स्थितः सन् यमस्याप्युच्चैर्भयमसहनीयमुत्पादयन् वरमखिलं शौर्यं मूर्तिमन्मिलितमिव समस्तं रहो मनुष्याकारमागतमिव सिंहाकार सहसाकृतसिंहध्वनि रंगाङ्गणमिव नभोङ्गणमलंघत पुनराकाशादशनिवद्वनिमापत्य आत्मपादपाताभिघातचलिताचलसन्धिबन्धो मुहुर्वल्गन् परिसरंश्च प्रतिजृंभमाणासिंदूररंजितभुजदण्डो समुदग्रो क्रुद्धः प्रवल्गयन् श्रोणीद्वितयभागविलंबिपीतवस्त्रो नियुद्धकुशलं पर्वतशिखरोन्नतं प्रतिमल्लं चाणूरमाहत्य सहसा सिंहवदावभासे। तं दृष्ट्वा रुधिरोद्गमोपप्लोचनः कंसः स्वयं मल्लतां प्राप्यागच्छति स्म। तमुग्रसेनतनयं जन्मान्तरद्वेषात् करेण चरणे संगृह्याकाशे भ्रामयन्नलपाण्डमिव यमराजस्य समीपं उपायनीकर्तुमिव स कृष्णो भूमावास्फालयामास। तदा कृष्णमस्तके व्योम्नः कुसुमानि प्रपेतुः देवदुंदुभयो ध्वानं चक्रुः। वसुदेवसेना समुद्रे प्रक्षोभणात् कोलाहलध्व-

१ केशाः. स.। २ अप्रतिमल्लैर्गोपमल्लैः. ख.।

निरुद्धस्थे । मुशलीवीरवरो विरुद्धनृपतीनाक्रम्य रणे स्थित. । स्वानुजं स्वीकृत्य गर्जितं चकार । विष्णुस्त्रिखण्डलक्ष्म्या कटाक्षितः ।

इति श्रीभावप्राभृते द्रव्यलिंगिनो वसिष्ठमुनेः कथा परिसमाप्ता ।

सो णत्थि तं पएसो चउरासीलक्खजोणिवासम्मि ।
भावविरओ वि सवणो जत्थ ण ढुरुढुल्लिओ जीव ॥४७॥

स नास्ति त्व प्रदेश चतुरशीतिलक्षयोनिवासे ।
भावविरतोऽपि श्रवणो यत्र न भ्रान्त जीव ।[1]॥

पदखण्डनारूपेण व्याख्यानं क्रियते । हे जीव ! हे चेतनस्वरूपात्मन् !। जत्थ यत्र प्रदेशे । तं त्व भवान् । ण ढुरुढुल्लिओ न भ्रान्त स प्रदेश ससारे नास्ति । कस्मिन्, चउरासीलक्खजोणिवासम्मि चतुरशीतिलक्षयोनिवासे स्थाने । कथंभूतस्त्व, भावविरओ वि सवणो श्रवणो दिगम्बरोऽपि सन् भावविरतो जिनसम्यक्त्वरहित । उक्तं च गुम्मटसारग्रन्थे नेमिचन्द्रेण गणिना—

णिच्चिदरधादु सत्तय तरु दस वियलिंदियेसु छच्चेव ।
सुरनरयतिरियचदुरो चउदस मणुए सदसहस्सा ॥ १ ॥

अस्या अयमर्थ —नित्यनिगोतजीवानां सप्तलक्षा जातय ७०००००। इतरनिगोदजीवानां जातय सप्तलक्षा· ७०००००। धातूनां पृथिवीकायजीवाना अप्कायजीवानां तेज कायजीवानां वायुकायजीवाना जातय. चतुर्णां प्रत्येकं सप्तलक्षा ।पृथ्वी ७००००० । अप् ७००००० । तेज ७००००० । वायु ७००००० । तरु दह—वनस्पतिकायजीवानां जातयो दशलक्षा १०००००० । वियलिंदिएसु छच्चेव—द्वीन्द्रियत्रीन्द्रियचतुरिन्द्रियजीवानां जातय समुदायेन षट्लक्षा । द्वीन्द्रिय

1 जीवो ग घ ।

२०००००। त्रीन्द्रिय २०००००। चतुरिन्द्रिय २०००००। सुरनर-यतिरियचदुरो–सुराणा जातयश्चतस्रो लक्षा ४००००००। नारकाणां जातयश्चतस्रो लक्षा ४०००००। तिरश्चां जातयश्चतस्रो लक्षा ४०००००। चोद्दस मणुए–चतुर्दश लक्षा जातयो मनुजे मनुष्यजीवाना १४०००००। सदसहस्सा–शतसहस्रा ।

भावेण होइ लिंगी ण हु लिंगी होइ दव्वमित्तेण ।
तम्हा कुणिज्ज भाव किं कीरइ दव्वलिंगेण ॥ ४८ ॥

भावेन भवति लिङ्गी न हु भवति द्रव्यमात्रेण ।
तस्मात् कुर्या भाव किं क्रियते द्रव्यलिङ्गेन ॥

भावेण होइ लिंगी भावेन निदानादिरहिततया जिनसम्यक्त्वस हिततया लिंगी सन् लिंगी भवति निदानादिसहितो जिनसम्यक्त्वरहितो लिंगी मुनिलिंगी जिनलिंगी सत्यलिंगी न भवति । **ण हु लिंगी होइ दव्वमित्तेण** न हु-स्फुटं लिंगी सन्नपि लिंगा न भवति द्रव्यमात्रेण शिरोलोचमयूरपिच्छकमण्डलुग्रहणवस्त्रत्यजनमात्रेण *लिंगी सन्नपि लिंगी* न भवति पुन ससारपतनहेतुत्वात् । **तम्हा कुणिज्ज भाव** तस्मात्कारणात् कुर्यास्त्वं । क, भावं–जिनसम्यक्त्वनिर्मलपरिणामं । **किं कीरइ दव्वलिंगेण** पूर्वोक्तद्रव्यलिंगेन किं क्रियते । किमपि मोक्षसुखं क्रियत इति भाव ।

दंडयणयर सयल डहिउ अब्भतरेण दोसेण ।
जिणलिंगेण वि बाहू पडिओ सो रउरवं नरय ॥ ४९ ॥

दण्डकनगरं सकलं दग्ध्वा अभ्यन्तरेण दोषेण ।
जिनलिङ्गेनापि बाहु पतित स रौरव नरकम् ॥

दंडयणेयरं सयलं दण्डकस्य राज्ञो नगरं सकलं । डहिउं अब्भंतरेण दोसेण दग्ध्वा अभ्यन्तरेण दोषेण क्रोधेन कृत्वा । जिणलिंगेण वि बाहू जिनलिङ्गेनापि जिनलिङ्गसहितोऽपि बाहुर्नाममुनिः । पडिओ सो रउरवं नरयं पतितो गतः रौरवं नाम नरकं । अस्य कथा–दक्षिणापथे भरतदेशे कुम्भकारकटनगरे दण्डको नाम राजा । तन्महादेवी सुव्रता । बालको नाम मंत्री । तत्र अभिनन्दनादयः पंचशतमुनयः समागताः । खण्डकेन मुनिना बालको मंत्री वादे जितः । ततो रुष्टेन तेन भंडो मुनिरूपं कारयित्वा सुव्रतया समं रममाणो दर्शितः । भणितं च तेन देव ! दिगम्बरेषु भक्त्यातिमुत्योऽसि येन भार्यामपि तेभ्यो दातुमिच्छसि । ततो रुष्टेन राज्ञा मुनयो यंत्रे निष्पीलिताः । ते समुपसर्गं प्राप्य परमसमाधिना सिद्धिं गताः । पश्चात्तन्नगरं बाहुर्नाम मुनिरागतः । स लोकैर्वारितः । अत्र नगरे राजा दुष्टो वर्तते तेन पंचशतमुनयो यंत्रे पीडिता भवन्तमपि तथा करिष्यति । तद्वचनेन बाहू रुष्टः । तेजोऽशुभसमुद्घातेन राज्ञा मंत्रिणा च सह सर्वं नगरं भस्मीचकार । स्वयमपि मृतः । रौरवे नरके पतितं राजानं मंत्रिणं चान्वेष्टुमिव तत्र गतः । को नाम रौरवो नरक इति चेत् ? सप्तमे नरके पंच बिलानि वर्तन्ते तेषु पूर्वदिशि रौरवः । दक्षिणेऽतिरौरवः । पश्चिमेऽसिपत्रः । उत्तरे कूटशाल्मलिः । मध्ये कुंभीपाक इति ।

अवरोत्ति[1] दव्वसवणो दंसणवरणाणचरणपब्भट्टो ।
दीवायणुत्ति णामो अणंतसंसारिओ जाओ ॥५०॥

अपर इति द्रव्यश्रमणो दर्शनवरज्ञानचरणप्रभ्रष्टः ।
दीपायन इति नामा अनन्तसांसारिको जातः ॥

---

१ न. टी. । २ बि. मूलगाथा पाठः ।

अवरोत्ति दव्वसवणो अपर इति द्रव्यश्रवणो भावरहितो मुनि जिनवचनप्रतीतिरहित । **दसणवरणाणचरणपब्भट्ठो** दर्शनेन जिनसम्यक्त्वेन वर श्रेष्ठं यज्ज्ञान चरण च चारित्रं तेभ्यस्त्रिभ्योऽपि प्रभ्रष्ट पतित सम्यग्दृष्टीना मुनीनामपाङ्क्तेय । **दीवायणुत्ति णामो** द्वीपायन इति नामा । **अणतससारिओ जादो** अनन्तससारिक अन ते संसारे नियुक्त नियोगवान् कर्मपरवश इत्यर्थ , जातो भवति स्म । द्वीपायनस्य कथा यथा—श्रीनेमिनाथो बलभद्रेण पृष्ट स्वामिन् ! इय द्वारवती पुरी किं काला तरे समुद्रे निमक्ष्यति कारणा तरेण वा विनक्ष्यति ? भगवानाह-रोहिणीभ्राता द्वीपायनकुमारस्तव मातुलोऽस्या पुर्या रुपा दाहको भविष्यति द्वादशे वर्षे मद्यहेतुत्वात् । तच्छ्रुत्वा द्वीपायनकुमार इद जैनवचनमसत्यं चिकीर्षु दीक्षा गृहीत्वा पूर्वदेश गत । द्वादशाब्दपूरणार्थं तप कर्तुमारब्धवान् । जर कुमारेण कृष्णमरणमाकर्ण्य बलभद्रादयो नेमिनाथ नमस्कृत्य सर्वेऽपि यादवा द्वारवतीं विविशु । तत कृष्णो बलभद्रश्च पुर्यां घोषणां मद्यनिषेधिनीं कारयामासतु । ततो मद्यपैर्मद्याङ्गानि पिष्टकिण्वादानि मद्यानि च कदम्बवने गिरिगह्वरे शिलाभाण्डानि आस्फालितानि । सा मदिरा कदम्बवनकुण्डेषु गता । कर्मविपाकहेतुनेनावस्थिता । श्रीनेमिनाथ पल्लवदेश गत । जिनेन सह भव्यलोक उत्तरापथमुच्चलित । द्वीपायनस्तु द्वादश वर्षे भ्रान्त्याऽतीत मन्वानो जिनादेशो व्यतिक्रान्त इति ध्यात्वा सम्यक्त्वहीनो द्वारवतीमागत्य गिरेर्निकटनगरबाह्यमार्गे आतापनयोगे स्थित । वनक्रीडापरिश्रान्तास्तृष्णया व्याकुलीभूता कादम्बकुण्डेषु जलमिति ज्ञात्वा शंबवादयस्ता सुरा पिबन्ति स्म । कदम्बवनस्थिता कदम्बकतया स्थितां विसृष्टा कादम्बरीं पीत्वा कुमारा निकाराश्च प्रापु । सा पुराणापि वारुणी परिपाकवशात् तरुणीवत्तरुणान् वशेऽकरोत् । ते कुमारा असबद्ध गाय तो नृत्यन्तश्च स्खलितपादा

प्रमुक्तकुन्तला पुष्पकृतावतसाः कण्ठावलम्बितपुष्पमाला. सर्वे पुरं समागच्छन्तः सूर्यप्रतिमास्थित द्वीपायनमुनिं दृष्ट्वा घूर्णमाननयना इत्यूचुः-सोऽय द्वीपायनो यतिर्यो द्वारवतीं धक्ष्यति सोऽस्माकमग्रत क यास्यति वराक इति प्रोच्य सर्वतो लोष्टुभिः पाषाणैश्च तावत्प्रजघ्नुर्यावद्भूमौ पपात । एवं तैर्निर्मूकैस्ताडित उत्पन्नाधिकक्रोधो दष्टोष्टो यदूनां स्वतपसश्च विनाशाय भ्रकुटिं चकार। कुमारास्तु पुरीं प्रति गमनं चक्रुः कैश्चित्तदुराचारो विष्णोर्बलस्य लघु निवेदित । तच्छ्रुत्वा द्वारवत्या प्रलयं जिनोक्तं प्राप्तं तदापि मैनातं परिच्छदरहितौ मुनिसमीपं गतौ । अग्निमिव ज्वलन्तं क्रोधेन संक्लिष्टधियं भ्रभंग विषमवक्त्रं दुर्निरीक्ष्येक्षणं क्षीणकण्ठगतप्राण विभीषणस्वरूप ददृशतु । कृताञ्जलिपुटौ महादराप्रणिपत्य याचना यच्यां जानन्तावपि मोहाद्याचितवन्तौ । हे साधो ! चिर परिरक्षितस्तपोभार. क्षमामूल क्रोधाग्निना धक्ष्यते मोक्षसाधनं परिरक्ष्यतां परिरक्ष्यता । मूढै प्रमादबहुलैर्दुर्विचेष्टितं भवत कृतं क्षम्यतां क्षम्यतां । क्रोधश्चतुर्वर्गशत्रु, क्रोध स्वपरनाशन, अस्मभ्यं प्रसादः क्रियतां मुने ! इति प्रियवादिनौ तौ पादयोर्लगित्वा प्रार्थितवन्तौ तथापि सोऽनिवर्तक संजातः । सर्वप्राणिसंयुक्तद्वारवतीदाहे पापधीः कृतनिश्चय युवाभ्यां न धक्ष्यामीत्यङ्गुलिद्वयेन संज्ञां चकार । अनिवर्तकक्रोधं ज्ञात्वा विषण्णौ व्याघुट्य किं कर्तव्यतामूढौ पुरीं प्रविष्टौ । तदा शंभवाद्याश्चरमाङ्गका यादवाः पुर्या निष्क्रम्य दीक्षां गृहीत्वा गिरिगुहादिषु तस्थिवांसः । द्वीपायनस्तु क्रोधशल्येन मृत्वा भवनामरो बभूव । सोऽग्निकुमारनामा विभंगेन पूर्ववैरं स्मृत्वा द्वारवतीं याव्द्द्वादशयोजनमानां विष्णुबलौ मुक्त्वा ददाह । तौ दक्षिणापथे वनं प्रविष्टौ । तत्र

१ निर्दयै. । २ तदपि सेनातो ख । ३ समीपमागतौ. क. ।

सरोवरं शालिवनं निर्धूमानल प्रज्वलज्ज्वाल स्वर्गकुमारसमानीयमानजम्बूफलानि च स्वप्ने दर्शयित्वा महाद्युतिर्जम्बूनामाऽनावृतदेवाप्तपूजोऽतिप्रियातो विनीत सुतो भविष्यति । यौवनारम्भेऽपि निर्विक्रियो भावी । तस्मिन् जम्बूस्वामियौवनकाले श्रीवीरभट्टारक पावापुरे मुक्तिं यास्यति तस्मिन्नेव समये मम केवलज्ञानमुत्पत्स्यते । सुधर्मगणधरेण सह ससाराग्नितप्ताना भव्यप्राणिना धर्मामृतोदकेनाल्हाद करिष्यन्निदमेव राजगृहपत्तनमागत्यास्मिन्नेव विपुलाचलेऽह स्थास्यामि । तत्समाकर्ण्य चेलनीसुत कुणिको नृप सर्व परिवारेण समागत्य मा सुधर्म च पूजयित्वा दानशीलोपवासादिक स्वर्गमोक्षसाधक धर्म ग्रहीष्यति । तेन सहागतो जम्बूनामा निर्वेद प्राप्य दीक्षाग्रहणोत्सुको भविष्यति । त कुटुम्ब वदिष्यति स्तोकेषु वर्षेषु गतेषु त्वया सह वय सर्वेऽपि दीक्षा ग्रहीष्याम इति । तेन प्रार्क्त सोढुमशक्नुवन्निराकर्तु च तदक्षम पुरमायास्यति । तस्य मोहमुत्पादयितुं सुखबन्धनं विवाह आरप्स्यते तेन कुटुम्बवर्गेण । बान्धवा हि श्रेयसो विघ्ना । सागरदत्तपद्मावत्यो सुता श्रियोत्कृष्टा सुलक्षणा पद्मश्री, कुबेरदत्तकनकमालयो सुता सुलोचना कनकश्री, वैश्रवणदत्तविनयवत्योर्दुर्दीमृगलोचनावलोकनीया विनयश्री तस्यैव वैश्रवणदत्तस्य धनश्रिया सुता रूपश्री एताश्चतस्रो विधिपूर्वक परिणीय सौधागारे समीचीनरत्नदीपदीप्तिभिर्निरस्तान्धकारे नानारत्नसमीचीनचूर्णरगवल्लीसशोभिते विचित्रपुष्पोपहारसहिते जगतीतले स्थास्यति । एतस्य माता अय मे सुतो रागेण प्ररित स्मितहासकटाक्षेक्षणादिना निर्वृतिं भजन् किं भवेन्न वा भवेदित्यात्मानं तिरोधाय पश्यन्ती स्थास्यति । तस्मिन्नवसरे सुरम्यदेशपोदनापुरेशाद्विद्युद्राजविमलवत्यो सुत पापिष्ठाना धुरि स्मर्यो दुरात्मना

२ बो ख कर्तुं । ३ न ख । ४ सुता ख ।

वन्दनीयोऽगुणयानुत्सुकश्च तीक्ष्णो विद्युत्प्रभनामा केनापि कारणेन निजज्येष्ठभ्रात्रे कुपित्वा पञ्चशतसुभटैर्निर्गतो विद्युच्चोरनामानमात्मानं कृत्वा चौरशास्त्रोपदेशेन मंत्रतंत्रविधानाददृश्यशरीरत्वकपाटोद्घाटनादिकं जानन्नर्हद्दासगृहाभ्यन्तररत्नधनादिकं चोरयितुं प्रविश्य जिनदासीं नष्टनिद्रां विलोक्यात्मानं निवेद्य किमर्थं विनिद्रा त्वमवमिति प्रक्ष्यति । मम एक एव पुत्रः प्रातरेवाहं तपोवनं गमिष्यामीति सकल्पस्थितो वर्तते तेनाहं शोकिनी सती जागर्मि । त्वं बुद्धिमान् दृश्यसे यदि त्वमिममाग्रहादुपायैर्वारयसि तत्त्वदभीप्सितं धनं सर्वमहं दास्यामीति वदिष्यति । सोऽपि तत्प्रतिपत्त्यैव सम्पन्नभोगोऽयं किल विरंस्यति, इह धनमाहर्तुं प्रविष्टं मां धिगिति स्वनिन्दनं कुर्वन्निःशंकं तदन्तिकं प्राप्य तं तासां कन्यकानां साध्यतयाधिष्ठितं कुमारं प्रसरत्सद्बुद्धिं पञ्जरगतं पक्षिणमिव, जालस्थं मृगबालकमिव, अपारकर्दमे मग्नं भद्रजातिगजाधिपतिमिव, लोहपञ्जरैर्निरुद्धं सिंहमिव प्रत्यासन्नसंसारक्षयं सम्प्राप्तनिर्वेदं समीक्ष्य विद्युच्चोरः सुधीरदृष्टाख्यानकं वदिष्यति । हे कुमार ! त्वया श्रूयतां—कश्चित्क्रमेलकः स्वेच्छया चरन्नेकदा गिरेरुन्नतप्रदेशात् तृणं खादन्नेत मधुरसोन्मिश्रं सक्तदास्वाद्योत्सुकस्तादृशमेवाहमाहरिष्यामीति मधुपानाभिलाञ्छया तृणान्तरचरणातिपराङ्मुखस्तस्थौ मन्ये च तथा त्वमप्येतानुपस्थितान् भोगाननिच्छन् स्वर्गभोगार्थी बुद्धिरहितः क्रमेलकावस्थां प्राप्स्यसि (१)। इति चौरप्रतिपादितं श्रुत्वा कुमारः प्रत्युत्तरं दास्यति—कश्चित्पुमान् महादाहकरेण रविणा परिपीडितो नदीसरोवरतडागादिपानीयं पुनः पुनः पीत्वा तथापि न विनष्टतृष्णस्तृणाग्रस्थितजलकणं पिबन् किं तृप्तिं याति तथायं जीवोऽपि चिरकालं दिव्यसुखं भुक्त्वाप्यतृप्तोऽनेन मनुष्यभव-

१ विरंसति ख ।

जातेन स्वरूपेन गजकर्णास्थिरेणास्वादुना शर्म यायात्–अपि तु न यायात् (२)। इति तद्वाचं श्रुत्वा स एकागारिक कथयिष्यति कथा–एकस्मिन् वने किरातश्चण्डो महातरुमाधार कृत्वा गण्डान्त धनुराकृष्य बाणेन वारण जघान। तरुकोटरस्थितसर्पदष्टस्त सर्पं मारयित्वा स्वय च मृत। अथ तान् त्रीन् किरातसर्पगजान् मृतान् दृष्ट्वा क्रोष्टाऽतिलुब्धस्तानदेतौंश्ची भ्राम्नि पूर्वं धनुर्मौर्वीं प्रान्तस्थिता च स्नसां भक्षयामीति कृतोद्यमस्तच्छेद वैधेर्यश्चकार। सद्यो धनुरग्रनिर्भिन्नगल सोऽपि मृत। ततोऽतिगृध्नुता त्वया त्याज्या (३)। इति श्रुत्वा कुमारश्चिन्तयित्वा सूक्त प्रवक्ष्यति–चतुर्मार्गसमायोगदेशमध्ये सुमहं रत्नराशिं प्राप्य पथिको मूर्खस्तदात्मना दायकेनापि कारणेन गत पुनर्वनादागत्य त देश त रत्नपुज किं पुन र्लभते तथा गुणमाणिक्यसचय दुष्प्रापमगृह्णन् ससारसमुद्रे कथं पुन प्राप्नुयात् (४)। तदा मलिम्लुचोऽन्यदन्यायसूचनमुपाख्यान वदिष्यति–कश्चिच्छृगालो मुखस्थितं मांसपिण्डं मुक्त्वा संक्रीडमानं मीनं भक्षितुं जले पपात। जलवेगवह प्रवाहेण प्रेर्यमाणो मृत। मीनस्तु दीर्घायु जलमध्ये सुखं तस्थौ। एवं शृगालवदतिलुब्धो मरिष्यति (५)। एवं मुख्यतस्करवाच श्रुत्वा प्रत्यासन्नमुक्ति कुमारो भणिष्यति–कश्चिद्दा लुब्धो वणिक् निद्रामुखरत परार्घ्यरत्नगर्भनिजकच्छपुट सुप्त। चौरै पहृते माणिक्यसचये तद्दु खेन दुर्मृतिर्मृतिं प्राप। तथायं जीवो विष यात्पसुखासक्तो रागचौरैर्दर्शनज्ञानचारित्ररत्नेष्वपहृतेषु निर्मूल नश्यति (६)। दस्युरथ वदिष्यति–स्वमातुलानी दुर्वचनकोपेन काचि कन्या तरुतले सर्वाभरणमण्डिता स्थिता। मरणोपायमजानती व्याकुलमना सुवर्णदारकेण पापिना मार्दङ्गिकेण दृष्टा। तदाभरणानि जिघृक्षुणा तस्या

१ वैधयक ■। २ तदातमना क।

लम्बनोपायं दर्शयामास । स्वकीयं मर्दलं वृक्षतले समुद्रं संस्थापयांबभूव । तस्या गलपाशदानशिक्षणार्थं मर्दलोपरि पादौ धृत्वा गले पाशं चकार । केनापि कारणेन मर्दले पतिते मार्दङ्गिकस्य गले पाशो लग्नस्तेनाविर्लीभूतकण्ठः प्रोद्गतलोचनः शर्मनमन्दिरं प्राप । कन्या तद्दृष्ट्वा मरणभयात् गृहमागता तथा कुमार ! त्वया लोभो हेयः (७) । इति तस्य वाग्जालमाकर्ण्य जम्बूनामा कुमारोऽसहमानस्तं प्रति भणिष्यति—कस्यचिद्राज्ञो महादेवी ललिताङ्गनामधेयं धूर्तविटं दृष्ट्वा मदनविह्वला संजाता । तस्य विटस्यानयननिरन्तरोपायनियुक्ता तद्धात्री तं गुप्तमानीतवती । सा महादेवी यथा भर्ता न जानाति तथैकान्तप्रदेशे यथेष्टं तं रममाणा स्थिता । बहुभिर्दिनैः शुद्धान्तरक्षकै· ज्ञाता राज्ञो ज्ञापिता च । उपपत्यपनयनोपायमजानत्यः परिसारिकास्तं खलं नीत्वा वस्करगृहे निक्षिप्तवत्यः । स तत्रातिदुर्गन्धेन तत्कीटैश्च दुःखं प्राप । पापोदयेनात्रैव नरकावासं प्राप्तः । तद्वदल्पसुखाभिलाषिणो जीवस्यातिघोरनरकादिषु महापदो भवन्ति (८) । कुमारः पुनरप्येकं प्रपंचं कथयिष्यति येन श्रुतेन सतां लघु संसारनिर्वेगो भवति । जीवोऽयं पथिकः संसारकान्तारे भ्राम्यन् मृत्युमत्तगजेन जिघांसुना रुपानुयातोऽतिभीरुः पलायमानो मनुष्यत्वतरुधरान्तर्हितस्तन्मूले कुलगोत्रादिविविचित्रवल्लीसमाकुले जन्मकूपे पतित आयुर्वल्लीलग्नकायः सितासितदिवसानेकमूषिकोच्छिद्यमानतद्वल्लीकः सप्तनरकप्रसारितमुखससर्पनिकटः तद्वृक्षोत्थार्थपुष्पोत्पन्नसुखमधुरसलालसस्तद्ग्रहणोत्थापितसमुत्पन्नमक्षिकाभक्षितः तत्सेवासुखं ज्ञात्वा सर्वोऽपि विषयलंपटो दुर्बुद्धिर्जीवति तथा धीमान् दुर्वहं तपोऽकुर्वन्नत्यक्तसग कथं वर्तते । इति तस्य वचनमाकर्ण्य माता कन्याश्चौरश्च संसारशरीरभोगेष्व-

१ अवलंबीभूत. ख. । २ यममन्दिर. ख. ।

तिनिरागत्य यास्यन्ति । तदान्धकार निराकृत्य कोक प्रियया कुमार दीक्षयेव योजयन् निजकरै समाक्रम्य कुमारस्य मन कमलमिव रजयन्नुदयाद्रे शिखरे रविस्तपसि कुमार इवोदेष्यति । सर्वसन्तापकारी तीक्ष्णकरोऽनवस्थित क्रूरो दिवाकुवलयध्वसी तदा सूर्य कुनृपस्योपमा धरिष्यति ! नित्योदयो सुधाधीशोऽखण्डविशुद्धमण्डल प्रवृद्ध पद्माल्हादी सुराजन चार्यमाजेष्यति । अस्य कुमारस्य बान्धवा मनवैमुख्य निश्चाय कुणिपमहाराजश्रेणयोऽष्टादशापि देवोऽनावृतश्च सर्वे सगम्य मगलजलैरभिषेक करिष्यन्ति । अथ कास्ता अष्टादशश्रेणय —सेनापतिर्गणको राजश्रेष्ठी दण्डाधिपो मन्त्री महत्तरो बलवत्तर चत्वारो वर्ण चतुरङ्ग बलं पुरोहितोऽमात्यो महामात्य इति । असौ कुमारस्तत्कालोचितवेषो देवनिर्मिता शिबिकामारुह्य भूरि भूत्वा उच्चैर्विपुलाचलशिखरे स्थित मा महामुनिभिर्निषेवित समभ्येत्य भक्त्या त्रि परीत्य यथाविधि प्रणम्य वर्णत्रयसमुत्पन्नैर्भूयोभिर्विनयैर्विशुद्धवीरेण तत्पचशतसेवकैश्च सम सुधर्मगणधरपादमूले समचित्त सयम ग्रहीष्यति । द्वादशवर्षान्ते मयि मोक्षं गते सुधर्मा केवली भविष्यति जम्बूनामा श्रुतकेवली भविष्यति । ततो द्वादशवर्षपर्यन्ते सुधर्मणि निर्वाण गते जम्बूनाम्न केवलज्ञानमुत्पत्स्यते । जम्बूनाम्न, शिष्यो भवो नाम चत्वारिंशद्वर्षाणीह भरतक्षेत्र विहरिष्यति। तदाकर्ण्य श्रेणिके स्थितेऽनावृतो देवो मदीयवंशस्येद माहात्म्यमुद्भूतमीदृशमत्र न दृष्टमित्युच्चैरानन्दनाटक दृष्ट्वा श्रेणिक उवाच कस्मादनेनव धुत्वमस्य देवस्येति [1] भगवान् गौतमो वमाण जम्बूनाम्नो वशे पूर्वे धर्मप्रियश्रेष्ठी गुणदेवी श्रेष्ठिनी । तयोरर्हद्दास सुतो धनयौवनमदेन पितु शिक्षामगणयन् कर्मवशात् सतव्यसनेषु निरकुशो बभूव । निजदुरा-

१ तपति ख

यारेण दरिद्री सजात । पश्चादुत्पन्नपश्चात्तापो मपितु शिक्षा मया न श्रुता, उत्पन्नशमभाव किंचित्पुण्यमुपार्ज्यानावृतनामा व्यन्तरो जात, तत्र समुत्पन्नसम्यक्त्वसम्पदिति वधुता प्रीतिरस्य। अथ श्रेणिक प्राह–स्वामिन्नयं विद्युन्माली देव कस्मादागत, किं पुण्यं पूर्वभवे कृतवान्, अस्य प्रभा आयुरन्तेऽप्यनाहतेति। तदनुग्रहबुद्धयैव भगवान् गौतम प्राह–अत्र जम्बूद्वीपे पूर्वविदेहे पुष्कलावतीविषये वीतशोकपत्तने महापद्मो राजा। स महादेवी वनमाला। तयो सुत शिवकुमार नवयौवनसम्पन्न सवयोभिर्वने विहृत्य पुनरागच्छन् गन्धपुष्पादिमंगलद्रव्योत्तमपूजया सह जनानागच्छतो दृष्ट्वा समुत्पन्नविस्मयो बुद्धिसागरमंत्रिण पुत्रं किमेतदिति पप्रच्छ। स प्राह–कुमार! शृणु–सागरदत्तनामा मुनीन्द्र श्रुतकेवली दीप्ततपोमण्डितो मासोपवासपारणार्थं पुरं प्रविष्ट। कामसमुद्रो नाम श्रेष्ठी विधिपूर्वक भक्त्या दान दत्वा पञ्चाश्चर्यं प्राप्य तेनोपपन्न कौतुका पौरास्तं मनोहरोद्यानवासिनं पूजयित्वा वन्दितु परमभक्त्या यान्तीति। शिवकुमार प्राह–अयं सागरदत्ताख्यो सश्रुतो निधिर्द्धीश कथ प्राप। मंत्रिपुत्रोऽपि यथा श्रुतं तथा प्राह पुष्कलावतीविषये पुण्डरीकिणी नगरी, तस्या पतिश्चक्री वज्रदत्त। तस्य महादेवी यशोधरा गर्भिणी समुत्पन्नदौहदा। सा सीतासागरसगमे महाविभूत्या गत्वा महाद्वारेण समुद्रं प्रविष्टा। जलकेलीविधाने जलजानना बासन्ननिर्वृतिं पुत्रं प्राप। तेन हेतुनास्य सर्वोऽभय सागरदत्ताख्या चक्रु। अथ सागरदत्त परिप्राप्तयौवन स्वपरिवारमण्डितो हर्म्यतले स्थितो नाटकं पश्यन्ननुकूलाख्यनाम्ना चेटकेनोक्त। हे कुमार! त्वमाश्चर्यं पश्य मेर्वाकारोऽय

१ ग पुस्तकेऽस्य स्थाने प्राप्तेनेति पाठ सोऽप्यशुद्धोऽवभाति। अतो स्य स्थाने प्राप्त इति प्राप इति वा पाठेन भवितव्य। २ पूजयितु इति ख. पुस्तके। एतदेव सम्यग्भाति। ३ गोनिष।

मेघास्तिष्ठति । त मेघ लोचनप्रियं सोन्मुखो निरीक्षितुमैहिष्ट । स मेघ-स्तत्काल एव नष्ट । सागरदत्तश्चिन्तयामास यौवन धन शरीर जीवितमन्यच्च सर्वं वस्तु विनश्वर वर्तते यथाय मेघ इति निर्वेग गत । अपरेद्युर्मनोहरोद्याने धर्मतीर्थनायकममृतसागर नाम तीर्थंकर वज्रदन्तेन निजवप्त्रा सह वन्दितुमित । तत्र धर्म श्रुत्वा निश्चितसर्वस्थिति· सर्वबन्धुविसर्जन कृत्वा बहुभी राजभि सम सयम जग्राह । मन पर्य-यर्द्धिसम्पद प्राप्य धर्मोपदेशेन देशान् विहृत्यात्र वीतशोकपुरमागत । इति मन्त्रिपुत्रवचनानि श्रुत्वा शिवकुमार प्रीतमना स्वय च गत्वा मुनिवर स्तुत्वा धर्मामृत तत पीत्वा जगाद । भगवन् ! भवन्त दृष्ट्वा मम महान् स्नेह सजात । तत्र क प्रत्यय इत्यपृच्छत् । भगवान् सागरदत्त प्राह—अत्र जम्बूद्वीपे भरतक्षेत्रे मगध-देशे वृद्धग्रामे राष्ट्रकूटो नाम वणिक् । तस्य भार्या रेवती । तयोर्द्वौ पुत्रौ भगदत्तभवदेवौ । तयोर्मध्ये भगदत्त सुस्थितनामगुरु नत्वा दीक्षा जग्राह । विनयान्वितो गुरुणा सह नानादेशान् विहृत्य स्वजन्मग्राम-माजगाम । तदा तद्बान्धवा सर्वेऽपि हर्षमाणा समेत्य मुनिं सुस्थितं प्रदक्षिणीकृत्य सपूज्य वागनुसुचता । तत्रैव ग्रामे दुर्मर्षणो नाम गृहपति । तस्य नागवसुर्भार्या । तयो पुत्री नागश्री । सा विधि-पूर्वक भवदेवाय ताभ्या ददे । भगदत्तागमन श्रुत्वा भवदेवोऽपि निकु-र्वाणोऽत्रागत्य भगदत्तं विनयात्प्रणम्य तद्दत्ताशीर्वादेनार्द्रितमनास्तस्थि-वान् । भगदत्तो धर्मस्वरूप ससारवैरूप्यं व्याख्याय गृहीतकर एकान्ते भ्रात ! त्वया सयमो गृहीतव्य इत्याह । भवदेव उवाच—नागश्रीमोक्षण विधाय भवत उदित करिष्यामि । भगदत्त उवाच—हे भ्रात. ! ससारे जायादिपाशबद्धो जीव कथमात्महितं करोति परित्यज मोहमेतमिति । तदा भवदेव उत्तरमपश्यन् ज्येष्ठानुरोधेन दीक्षाया मतिं निदधौ । भग-

दत्त स्वगुरुसुरि तत्समीप त नीत्वा ससारच्छेदनार्थं मोक्षीं दीक्षां मंक्षु ग्राहयाम्बभूव। सता सौदर्यमीदृग्भवति। भवदेवो द्रव्यसयमी भूत्वा गुरुभि सम द्वादशवर्षाणि विहृत्यापरेद्युर्विधीरसहायो निज वृद्धग्राम गत्वा सुव्रता गणिनीं समीक्ष्य ता प्राह—हेऽम्ब! कान्निरागश्रीर्नाम काचिदस्ति। सा तस्येङ्गित ज्ञात्वा जगाद—मुने! तदुद्दतमह सम्यग्न वेदेति। तदौदासीन्य प्राप्त संयमे स्थिरीकर्तुं गुणवत्यार्यिका प्रति अर्थाख्यानक जगाद। सर्वसमृद्धनामा वैश्य, तद्दासीसुतोऽशुचिर्दारुकाभिधेय स्वमाता प्रोचे—अस्मच्छेष्टमुच्छिष्टभोजन तु त्वयाऽशनीयमिति। निर्ग्रन्थाश्लोजित। स शुशुस्तया वा तवान्। तत् कसपात्रेण धृतनाऽऽच्छाद्य धृतं। दारक पुनर्बुभुक्षु स्वमातर भोजन ययाचे। तथा तत्क सपात्रे वा तमूतमुपढौकितं। क्षुत्पीडितोऽपि आत्मवान्त न जग्राह। सोऽशुचिरपि चेत्तादृशस्तर्हि साधु कथ त्यक्तमभीप्सतीति (१)। गुणवति! पुनरेकमर्थाख्यानक निज मनो निश्चल कृत्वा त्व शृणु। भरपालनामा नरेन्द्र एक स्थान कुतूहलेन मृगाक्षेन सपोष्य कनकाभरणभूषित सदा वनक्रीडादौ सुवर्णरचिता शिबिकामारोप्यैव मन्दमतिस्तमपाळयत्। एकदा शिबिकारूढ सरमासुतो गच्छन् बालविष्टामालोक्य तामालेढुमापपात। तद्दृष्ट्वा राजा लकुटीताडनेन तमपाचकार। तथा पुत्रि! साधु सर्वेषा पूजनीय पूर्वत्यक्त पुनर्वाञ्छन् पराभव प्राप्नोति (२)। हे गुणवति! पुनरेका कथा शृणु—कश्चित्कोऽपि पथिकस्तद्वनान्तरे सुगन्धिफलपुष्पादिसेवया सुतरस्त तरु त्यक्त्वा स-मार्गं विहाय महाटवीसकटे पतित। तत्र जिघासुक चमूरं दृष्ट्वा ततो भीत्वा धावन्नेकस्मिन् भीमे कूपे त्रिम्यत् पपात। तत्र पापान्धीतादिभिर्दोपत्रयसभवे वाग्दृष्टि-

१ मोक्षदीक्षां ख। २ अज्ञान। ३ तच्चित्राच्छिष्ट॰ ख।

श्रुतिगतिप्रभृतिहीन सर्पादिनाघानिकट तस्मान्निर्गमनोपायमजानन्त न कोऽपि भिपग्वरो यदृच्छया गच्छन् दृष्ट्वा दयार्द्रचित्त केनाप्युपायेन महादराभिष्काश्य मन्त्रौपधिप्रयोगेण विहितचरणप्रसारण सूक्ष्मरूपसमालोकनोन्मीलितनेत्र स्फुटाकर्णन निज्ञाननिजशक्तिकर्णयुगल व्यक्तवाक्प्रसरसयुक्तजिव्ह स चकार। पुन सर्वरमणीय पुर तन्मार्गदर्शनेन प्रस्थापयामास। निर्मलहृदया कस्योपकार न निदध्यु। पुन स विषयासक्तमति पथिकदुर्मति प्रकटीकृतदिग्भागमोह प्राक्तनकूपक सम्प्राप्य तस्मिन् पुन पतित तथा कश्चित्ससारे मिथ्यात्वादिकपञ्चोप्रव्याधयो दीप्त्युपागता जन्मकूपे क्षुधादाहार्त्तमङ्गिन वीक्ष्य गुर सन्मतिर्नैचो दयालुत्वाद्धर्मोख्यानोपायपण्डितस्तस्मान्निर्गमय्य जिनवागौपधिनिपेतना (णा) त् सम्यक्त्वलोचनमुन्मील्य सम्यग्ज्ञानश्रुतियुगलमुद्घाटय्य सद्वृत्तपादौ प्रसारितौ विधाय दयामयीं जिव्हा व्यक्ता विधाय विधिपूर्वं पञ्चप्रकारस्वाध्यायरचनाभि ॥ वादयित्वा स्वर्गापवर्गयोर्मार्गं सुधी साध्वगमयत्। तत्र केचिद्दीर्घससारा स्वपापोदयात् भ्रमरा इव सुगन्धिव धुरोद्भिन्नचम्पकसमीपवर्तिनस्तत्सौगन्ध्यावबोधरहिता पार्श्वस्थाख्या सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रसमीपवर्तनात्, क्रोधादिकपायस्पर्शादिविपयलौकिकज्ञानचिकित्सादिकुज्ञाना जिव्हायामथवा स्पर्शेषु च लम्पना दुराशया कुशीलनामान, निषिद्धेषु द्रव्येषु भावेषु च लोलुपा संसक्ताह्वया, हीयमानज्ञानादिका अवसानसज्ञा, समाचारवहिर्भूता मृगचर्यानामवेयका महामोहा निवृत्या कृत्वा आजवजवाऽस्ताघकूपे पेतुर्निपतन्ति च (३)। भवदव इति श्रुत्वा सम्प्राप्तशान्तभावो बभूव। सुव्रता गणिनी सर्वार्याग्रेसरी तद्विज्ञाय दारिद्र्योत्पादितदौस्थित्या नागश्रियमानाय्य त दर्शयामास। भवदेवोऽपि तां दृष्ट्वा संसारस्थितिं स्मृत्वा धि-

१ आजवजवागत्ताघकूप ख पाठ।

गिति निन्दित्वा पुनः संयमं गृहीत्वाऽऽयुःप्रान्ते भ्रात्रा भगदत्तेन सह आराधना विधाय। समाधिना मृत्वा माहेन्द्रकल्पे बलभद्रविमाने सामानिको देवः सप्तसागरोपमायुर्बभूव। अहं भगदत्तचरः सागरदत्तश्चक्रिसुतः संजातः। त्वं भवदेवचरः शिवकुमारोऽत्र बभूविथ। स इति श्रुत्वा संसाराद्विरक्तो दीक्षां गृहीतुमुद्यक्तो बभूव। वनमालया मात्रा महापद्मेन पित्रा च वारितो वीतशोकं नगरं प्रविश्य संजातसंवित् अप्रासुकाहारं नाहरिष्यामीति व्रतं गृहीत्वा स्थितः। एतावतीं[1]दीक्षा विना प्रासुकाहारः कुतः? भूपस्तद्वार्तां श्रुत्वा प्राह—यः कोऽपि शिवकुमारं भोजयति तस्मै संप्रार्थितमहं दास्यामीति सभायां घोषयामास। तद्विज्ञाय सप्तस्थानसमाश्रयो दृढधर्मनामा श्रावकः समागत्य शिवकुमारं प्राह। अथ कानि तानि सप्तस्थानानीति चेत्—

सज्जातिः सद्गृहस्थत्वं पारिव्राज्यं सुरेन्द्रता।
साम्राज्यं परमार्हन्त्यं निर्वाणं चेति सप्तधा॥ १॥

अथ दृढधर्मा किं प्राहेति चेत्? हे कुमार! तव ज्ञातयः तव शत्रवः पापस्य कारणं स्वपरघातका वर्तन्ते। तेन त्वं भावसंयममघातमकृत्वा तव प्रासुकाशनं संपाद्य पर्युपासनमहं कुर्वे। बन्धुवियोगं विना संयमे प्रवृत्तिस्तथापि दुर्लभेति हितं वचनं जगाद च। सोऽपि तद्विदित्वा आचाम्लनिर्विकृतिरसरहितभोजनः सन् दिव्यस्त्रीसन्निधौ स्थित्वापि सदा विकाररहितमना स्त्रियस्तृणाय मन्यमानः खड्गतीक्ष्णधारायां संवर्तमानो द्वादशसंवत्सरांस्तपः कृत्वा सन्यासं गृहीत्वा जीवितान्ते ब्रह्मेन्द्रनाम्नि कल्पे विद्युन्माली देहदीप्तिव्याप्तदिक्तटो देवो बभूव। विद्युन्मालिनः एवाष्टदेव्योऽत्रागत्य जम्बूनाम्नः [2]तत्र चतस्रो

१ एतां दीक्षां- ख.। २ तासु अष्टसु मध्ये।

भार्या पद्मवनकनिनयरूपश्रियो भूत्वा निजभर्त्रा सह दीक्षित्वाऽच्युतकल्प गत्वा स्त्रीलिंगच्युता देवा भूत्वा पश्चादत्रागत्य मोक्षं यास्यन्ति। सागरदत्तनामा स्वर्गं गत्वात्रागत्य निर्वाणं यास्यति। इति जम्बूस्वामिचरित्रं श्रुत्वा श्रेणिको जहर्ष।

इति श्रीभावप्राभृते शिवकुमारकथा समाप्ता।

अगाइं दस य दुण्णि य चउदसपुव्वाइं सयलसुयणाणं।
पढिओ[1] अ भव्वसेणो ण भावसवणत्तणं पत्तो ॥ ५२ ॥

अङ्गानि दश च द्वे च चतुर्दशपूर्वाणि सकलश्रुतज्ञानम्।
पठितश्च भव्यसेन न भावश्रवणत्वं प्राप्त ॥

अगाइं दस य दुण्णि य अगानि दश च द्वे च अङ्गे। **चउदसपुव्वाइं** चतुर्दशपूर्वाणि सकलश्रुतज्ञान। **पढिओ अ** पठितश्च। **भव्वसेणो** भव्यसेननामा मुनि। **ण भावसवणत्तणं पत्तो** भावश्रवणत्वं न प्राप्त। जैनसम्यक्त्वं विनाऽनन्तससारी बभूवेति भावार्थ। अत्र भव्यसेनो मुनिरेकादशाङ्गानि शब्दतोऽर्थतश्च पठितस्तद्बलेनैव द्वादशस्याङ्गस्य चतुर्दशपूर्वाणा चार्थपरिज्ञायकत्वात् श्रीकुन्दकुन्दाचार्येण सकलश्रुतमधीत प्रोक्तमिति ज्ञातव्य सकलश्रुतेऽधीती ससारे न पततीत्यागम। भव्यसेनस्य कथा यथा—विजयार्द्धगिरौ दक्षिणश्रेणौ मेघकूटपत्तने राजा चन्द्रप्रभ सुमतिमहादेवीकान्तश्चन्द्रशेखराय राज्य दत्वा परोपकारार्थं जिनमुनिवन्दनाभक्त्यर्थं च काश्चन विद्या दधानो दक्षिणमथुरामागत्य मुनिगुप्ताचार्यसमीपे क्षुल्लको जात। स एकदा जिनमुनिवन्दनाभक्त्यर्थमुत्तरमथुरा चलित सन् श्रीमुनिगुप्तमाचार्यं पप्रच्छ—किं कस्य वक्ष्यत इति। गुप्त उवाच—सुव्रतमुनेर्नमोऽस्तु वरुणमहा-

१ यो मूलगाथापाठ। २ घ पुस्तके तु पूर्वत एव अभव्यसेन इति नाम कृत, रत्नकरण्डकटीकायामत्र च पश्चात्।

राजमहादेव्या रेवत्या धर्मवृद्धिरिति वक्तव्य त्वया । एव त्रीन् वारान् पृष्टो मुनिस्तदेवोवाच । क्षुल्लक स्वगत एकादशाङ्गधारिणो भव्यसेनाचार्यस्यान्येषा च नामापि भगवान् नादत्ते तत्र प्रत्ययेन भवितव्यमिति विचार्य तत्र गत । सुव्रतमुनेर्भट्टारकीया वन्दना कथयित्वा तदीय विशिष्ट वात्सल्य च दृष्ट्वा भव्यसेनवसति जगाम । तत्र भव्यसेनेन संभाषणमपि न कृतं । कुण्डिका गृहीत्वा भव्यसेनेन सह बहिर्भूमिं गत्वा विकुर्वणा कृत्वा हरितकोमलतृणाङ्कुरच्छन्नो मार्गो दर्शित । त मार्गं दृष्ट्वा भव्यसेन आगमे किलैते जीवा कथ्यन्ते इति भणित्वा आगमेऽरुचिं कृत्वा तृणानामुपरि गत । शौचसमये कुण्डिकाजलं शोषयित्वा क्षुल्लक उवाच—भगवन् ! कुण्डिकायामुदक नास्ति तथा विकृतिश्चेष्टिकादिका क्वापि नाहमीक्षे । अतोऽत्र निर्मलसरोवरे मृत्स्नया शौच कुरु । ततस्तत्रापि तथैव भणित्वा शौच चकार । ततस्त मिथ्यादृष्टि द्रव्यलिंगिन ज्ञात्वा भव्यसेनस्याभव्यसेनोऽयमिति नामान्तरं चकार । ततोऽन्यदिने पूर्वस्या दिशि पद्मासनस्थ चतुर्वक्त्रमुपवीतदर्भमुञ्जीदण्डकमण्डलुप्रभृतिसहित देवदानववन्द्यमान ब्रह्मरूप दर्शयामास । तत्र राजादयो भव्यसेनादयश्च गता । रेवती कोऽय ब्रह्मनाम देव इति भणित्वा लोकैः प्रेरितापि तत्र न गता । अन्यस्मिन् दक्षिणस्या दिशि गरुडारूढं चतुर्भुजं चक्रशङ्खगदादिधारक वासुदेवरूपं दर्शयामास । पश्चिमदिशि वृषभारूढ सार्धचन्द्रजटाजूटगौरीगणोपेत शंकररूप, उत्तरस्या दिशि समवशरणमध्ये प्रातिहार्याष्टकसहित सुरनरविद्याधरमुनिवृन्दवन्द्यमानं पर्यंकस्थं तीर्थंकररूप दर्शयति स्म । तत्र सर्वे लोका गच्छन्ति स्म । रेवती तु लोकैः प्रेर्यमाणापि न गता । नवैव वासुदेवा, एकादशैव रुद्रा, चतुर्विंशतिरेव तीर्थंकरा जिनागमे प्रतिपादितास्ते तु सर्वेऽ-

प्यतीता । कोऽप्यय मायावी वर्तते इति विचिन्त्य स्थिता । ब्रह्मा तु कोऽपि नास्ति । उक्त च—

आत्मनि मोक्षे ज्ञाने वृत्ते ताते च भरतराजस्य ।
ब्रह्मेति गीः प्रगीता न चापरो विद्यते ब्रह्मा ॥ १ ॥

अन्यस्मिन् दिने चर्यावेलायां व्याधिपीडितक्षुल्लकरूपेण रेवतीगृहसमीपप्रतोलीमार्गे मायामूर्च्छया पतित । रेवती तदाकर्ण्य भक्त्योत्थाप्य नीत्वोपचार कृत्वा पथ्य विधापयितुमारेभे । स च सर्वमाहार भुक्त्वा दुर्गन्धवमन चकार । तदपनीय हा ! विरूपक पथ्य मया दत्तमिति रेवतीवचनमाकर्ण्य प्रतोषात् मायामुपसंहृत्य ता देवीं वन्दित्वा गुरोराशीर्वाद पूर्ववृत्तान्त च कथयित्वा लोकमध्ये तस्या अमूढदृष्टित्वमुच्चैः प्रशस्य स्वस्थान चन्द्रप्रभो जगाम । वरुणमहाराजस्तु शिवकीर्तये निजपुत्राय राज्य दत्त्वा दीक्षामादाय माहेन्द्रकल्पे देवो बभूव । रेवती तु तप कृत्वा ब्रह्मकल्पे देवो बभूव ।

इति श्रीभावप्राभृते भव्यसेनमुनिकथा समाप्ता ।

तुसमासं घोसंतो भावविसुद्धो महाणुभावो य ।
णामेण य सिवभूई केवलणाणी फुडं जाओ ॥ ५३ ॥

तुपमाष घोषयन् भावविशुद्धो महानुभावश्च ।
नाम्ना च शिवभूति केवलज्ञानी स्फुट जात ॥

तुसमासं घोसंतो तुषमाषशब्द घोषयन् पुन पुनरुच्चारयन् मा विस्मृति यासीदिति कारणात् । **भावविसुद्धो** भावविशुद्ध । **महाणुभावो य** महानुभावश्च महाप्रभावयुक्तश्च । **णामेण य सिवभूई** नाम्ना च शिवभूति चकारादर्थेन च शिवभूति शिवाना सिद्धाना भूतिरैश्वर्य अनन्तचतुष्टयलक्षण त्रैलोक्यनायकत्व यस्य स भवति शिवभूति । **केवलणाणी फुडं जाओ** केवलज्ञानी केवलज्ञानवान् लोकप्रकाशकपचमज्ञानवान्

स्फुट शब्दादिदेवैः प्रकटीकृतघातिक्षयजातिशयदशकः सर्वप्रसिद्धः संजात इति। अस्य कथा यथा—कश्चिच्छिवभूतिनामासन्नभव्यजीवः परमवैराग्यवान् कस्यचिद्गुरोः पादमूले दीक्षां गृहीत्वा महातपश्चरणं करोति परं प्रवचनमात्रामात्रं जानाति परं वैदुष्यं किमपि तस्य नास्ति। आत्मानं शरीरकर्मचयाद्भिन्नं जानाति। तद्ग्रन्थं नायाति गुरुणा प्रोक्तं दृष्टान्तं पुनः पुनस्तीक्ष्णीं करोति तुषमाषौ भिन्न इति यथा तथा शरीरादात्मा भिन्न इति। तं शब्दं घोषयन्नपि कदाचिद्विस्मृतवान्। अर्थं जानन्नपि शब्दं न जानाति। एकाकी विहरति च। शब्दविस्मरणकशायवर्ती काचिद्युवतिं पटकादिकपचनार्थं माषान् सूपीकृतान् जलमध्येऽवशिष्टांस्तुषेभ्यो भिन्नान् कुर्वन्तीं दृष्ट्वा पृष्टवान्—किं कुरुषे भगवति! इति। सा प्राह—तुषमाषान् भिन्नान् करोमि। स आह मया प्राप्तमिति कश्चिद्गत। तावन्मात्रद्रव्यभावश्रुतेनात्मन्येकलोलीभावं प्राप्तोऽन्तर्मुहूर्तेन केवलज्ञानं प्राप्य नवकेवललब्धिमान् देशान् विहृत्य भव्यजीवानां मोक्षमार्गं प्रदर्श्य मोक्षं गत इति।

इति श्रीभावप्राभृते शिवभूतिमुनेरुपाख्यानं समाप्तम्।

भावेण होइ णग्गो बाहिरलिंगेण किं च नग्गेण।
कम्मपयडीण णियरं णासइ भावेण दव्वेण॥ ५४॥

भावेन भवति नग्नः बहिर्लिङ्गेन किं च नग्नेन।
कर्मप्रकृतीनां निकरं नाशयति भावेन द्रव्येण॥

भावेण जिनराजसम्यक्त्वेन। **होइ णग्गो** भवति नग्नो निर्ग्रन्थस्वरूपः। **बाहिरलिंगेण किं च नग्गेण** बहिर्लिङ्गेन किं च वाह्यनग्नतया न किमपि मोक्षलक्षणं कार्यं सिद्ध्यति परनामिव। **कम्मपय-**

१ तदिति स पुस्तके नास्ति। २ नग्गो इति टीका पाठ

डीण णियर कर्मप्रकृतीना निकर समूह अष्टचत्वारिंशदधिकशतसंख्याना वृन्द । **णासइ भावेण दव्वेण** नश्यति भावेन द्रव्येण चेति । ये मिथ्यादृष्टयो गृहस्था अपि सन्तोऽस्माक भावो नियते इति वदन्ति स्त्रीभि सह ब्रह्मचर्य च भजन्ति ते लोकैका चार्वाकसदृशा नास्तिकास्तन्मतनिरासार्थमिद वचनमुक्त श्रीकुन्दकुन्दाचार्यस्वामिभि "णासइ भावेण दव्वेण" भावेन—कर्मक्षयो भवति भावपूर्वकद्रव्यलिंगेन गृहीतेन द्वाभ्या भावद्रव्यलिंगाभ्या कर्मप्रकृतिनिकरो नश्यति न त्वेकेन भावमात्रेण द्रव्यमात्रेण वा कर्मक्षयो भवति । इति व्याख्यानबलेन ते नास्तिका पूर्वबच्छिक्षणीया इति भावार्थ ।

णग्गत्तण अकज्जं भावणरहियं जिणेहि पण्णत्तं ।
इय णाऊण य णिच्च भाविज्जहि अप्पयं धीर ॥ ५५ ॥

नग्नत्व अकार्यं भावरहित जिनै प्रज्ञप्तम् ।
इति ज्ञात्वा च नित्य भावये आत्मान धीर ! ॥

णग्गत्तण अकज्जं नग्नत्व सर्वबाह्यपरिग्रहरहितत्व अकार्य सर्वकर्मक्षयलक्षणमोक्षकार्यरहित । कथभूत नग्नत्व, **भावणरहियं जिणेहि पण्णत्तं** भावनारहित पचपरमेष्ठिबाह्यभावनारहित निजशुद्धबुद्धैकस्वभावात्मा तरङ्गभावनारहित च जिनैस्तीर्थकरपरमदेवैरनगारकेवलिभिर्गणधरदेवैश्च प्रज्ञप्त प्रणीत प्रतिपादित कथित भणितमिति यावत् । **इय णाऊण य णिच्च** इति ज्ञात्वा विज्ञाय नित्य सर्वकाल । **भाविज्जहि अप्पय धीर** भावयेस्त्व आत्मान दहिस्तत्व च हे धीर ! योगीश्वर ! इति सम्बोधनपदन धेय प्रति धियमीरयन्ति प्रेरयन्ति इति धीरा योगीश्वरा एव ग्राह्या न तु गृहस्थवेषधारिण पापिष्ठ-

१ नियर. टीकापाठ । २ नासइ टीकापाठ । ३ भावेणेति पाठ ख पुस्तके नास्ति ।

टीका। गृहस्थानां सम्यक्त्वपूर्वकमणुव्रतेषु दानपूजादिलक्षणेषु गुरूणां वैयावृत्यसफलेषु नियोगो ज्ञातव्य इति। तथा चोक्तं लक्ष्मीचन्द्रेण गुरुणा—

वेयावच्चें विरहिउ वयनियरो वि ण ठाइ।
सुक्खसरहो किह हसउ लुअतउ घरणइ जाइ॥ १॥

तं भावलिंगं केरिसं हवदि तं जहा—

तद्भावलिंगं कीदृशं भवति तद्यथा—तदेव निरूपयन्ति भगवन्तः—

देहादिसंगरहिओ माणकसाएहिं सयलपरिचत्तो।
अप्पा अप्पम्मि रओ स भावलिंगी हवे साहू॥ ५६॥

देहादिसंगरहितः मानकषायैः सकलपरित्यक्तः।
आत्मा आत्मनि रतः स भावलिङ्गी भवेत् साधुः॥

देहादिसंगरहिओ देहः शरीरं स आदिर्येषां पुस्तकमण्डलुपिच्छ-पट्टशिष्यशिष्याछात्रादीनां कर्मनोकर्मद्रव्यकर्मभावकर्मादीनां संगानां चेतनाचेतनबहिरभ्यन्तरंगपरिग्रहाणां ते देहादिसंगाः। अथवाऽऽगम-भाषया—

क्षेत्रं वास्तु धनं धान्यं द्विपदं च चतुष्पदं।
हिरण्यं च सुवर्णं च कुप्यं भांडं बहिर्दश॥ १॥
मिथ्यात्ववेदहास्यादिषट् कषायचतुष्टयं।
रागद्वेषौ च संगाःस्युरन्तरङ्गाश्चतुर्दश॥ २॥

इति श्लोकद्वयकथितक्रमेण चतुर्विंशतिपरिग्रहास्तेभ्यो रहितो देहा-दिसंगरहितः। माणकसाएहिं सयलपरिचत्तो मानकषायैः सकल-

१ वैयावृत्येन विरहितं व्रतनिकरोऽपि न तिष्ठति।
शुष्कसरसि कथं हंस· · · · · · · · · ··॥

परित्यक्त मनोवचनकायै रहित । **अप्पा अप्पम्मि रओ** आत्मा आत्मनि रत । य एव विध **स भावलिंगी हवे साहू** स साधुर्भावलिंगी भवेत् ।

ममत्तिं परिवज्जामि णिम्ममत्तिमुवट्ठिदो ।
आलंवणं च मे आदा अवसेसाइं वोसरे ॥ ५७ ॥

ममत्व परिवर्जामि निर्ममत्वमुपस्थित ।
आलम्बन च मे आत्मा अवशेषाणि व्युत्सृजामि ॥

ममत्तिं परिवज्जामि मम'व ममता ममेदमहमस्येति भाव परिवर्जामि परिहरामि । **णिम्ममत्तिमुवट्ठिदो** निर्ममत्वमिति भावमुपस्थित आश्रित । **आलंवणं च मे आदा** यद्येव ममत्व परिहरसि निषेधं करोषि तर्हि क विधिं श्रयसि "एकस्य निषेधोऽपरस्य विधि" इति वचनात् इयमत्रेति पृष्टे उत्तर ददाति आलम्बन चाश्रयो मे मम आदा आत्मा निजशुद्धबुद्धैकजीवपदार्थ इति विधि । **अवसेसाइं वोसरे** अवशेषाणि आत्मन उद्धरितानि रागद्वेषमोहादीनि व्युत्सृजामि परिहरामि ।

आदा खु मज्झ णाणे आदा मे दंसणे चरित्ते य ।
आदा पच्चक्खाणे आदा मे संवरे जोगे ॥ ५८ ॥

आत्मा खलु मम ज्ञाने आत्मा मे दर्शने चरित्रे च ।
आत्मा प्रत्याख्याने आत्मा मे संवरे योगे ॥

आदा खु मज्झ णाणे आत्मा निजचैतन्यस्वरूपो जीवपदार्थ खु स्फुट मम ज्ञाने ज्ञानकार्ये, ज्ञाननिमित्त ममात्मैव वर्तते नान्यत्किमपि ज्ञानोपकरणादिक पुस्तकपट्टिकादिकमिति भाव । **आदा मे दंसणे चरित्ते य** आत्मा मे दर्शने सम्यक्त्वे सम्यग्दर्शनकार्ये नान्यत्किमपि

तीर्थयात्राजिनप्रतिष्ठाशास्त्रश्रवणवन्दनस्तवनादिक, इत्यादि सम्यक्त्वोत्पत्तिकारण। चरित्रे च ममात्मैव चारित्रकार्ये ममात्मैव वर्तते न तु नानाविकल्परूप व्रतसमितिगुप्तिधर्मानुप्रेक्षापरीषहजयादिकमास्त्रवनिरोधलक्षणभावसवरनिमित्त। **आदा पचक्खाणे** आगामिदोषनिराकरणलक्षण प्रत्याख्याने प्रत्याख्याननिमित्त ममात्मैव वर्तते। **आदा मे संवरे जोगे** आत्मा मे मम सवरे सवरनिमित्त कर्मास्त्रवनिरोधलक्षणसंवरकार्ये ममात्मैव वर्तते। योगस्य ध्यानस्य कार्ये ममात्मैव वर्तते इति भाव।

एगो मे सस्सदो अप्पा णाणदंसणलक्खणो।
सेसा मे बाहिरा भावा सव्वे संजोगलक्खणा॥ ५९॥

एको मे शाश्वत आत्मा ज्ञानदर्शनलक्षण ॥
शेषा मे बाह्या भावा सर्वे संयोगलक्षणा ॥

एगो मे सस्सदो अप्पा एको मे शाश्वत आत्मा अपरसर्व निश्चरमित्यर्थ। स आत्मा कथभूत, **णाणदंसणलक्खणो** निश्चयेन केवलज्ञानकेवलदर्शनलक्षण, व्यवहारेणाष्टविधज्ञानचतुर्विधदर्शनचिन्ह, मतिश्रुतावधिमन पर्ययकेवलानि सम्यग्ज्ञाने पचविध कुमतिकुश्रुतविभगलक्षणं मिथ्याज्ञान त्रिविध, इत्यष्टभेदा ज्ञानस्य। चक्षुर्दर्शनमचक्षुर्दर्शनमवधिदर्शनं केवलदर्शन चेति चतुर्विध दर्शन, इति द्वादशभेद उपयोगो जीवस्य व्यवहारभूत लक्षण। **सेसा मे बाहिरा भावा** शेषा ज्ञानदर्शनद्वयाद्बहिर्भूता पुत्रकलत्रमित्राद्य पदार्था बाह्या भावा पदार्था भवन्ति। **सव्वे सजोगलक्खणा** सर्वे सयोगलक्षणा सयोगेन कर्मोदयेन मिलिता इत्यर्थ।

भावेह भावसुद्धं अप्पा सुविसुद्धनिम्मलं चेव।
लहु चउगइ चइऊणं जइ इच्छह सासयं सुक्खं॥ ६०॥

भावयत भावशुद्ध आत्मानं सुविशुद्धनिर्मलं चैव ।
लघु चतुर्गतिं त्यक्त्वा यदि इच्छत शाश्वतं सुखम् ॥

भावेह भावसुद्धं भावयत यूयं कथं ? यथा भवति भावशुद्धं–भावशुद्धं परिणामस्य निष्कुटिलत्वं मायामिथ्यानिदानशल्यत्रयरहितत्वं यथा भवत्येवं आत्मानमर्हत्सिद्धादिकं च हे भव्या ! भावयत । "ह्जिथा मध्यमस्य" इति सूत्रेण तस्थाने ह । **अप्पा सुविसुद्धनिम्मलं चेव** आत्मानं सुविशुद्धनिर्मलं चैव । आत्मानं कथंभूतं, सुविशुद्धनिर्मलं सुष्ठु अतिशयेन विशुद्धं कर्ममलकलंकरहितं निर्मलं रागद्वेषमोहमलरहितं । **लहु चउगइ चइऊणं** लघु शीघ्रं चतुर्गतिं त्यक्त्वा प्रमुच्य । **जइ इच्छह सासयं सुक्खं** यदि चेत्, इच्छत यूयं शाश्वतमविनश्वरं सौख्यं परमानन्दलक्षणमिति ।

जो जीवो भावंतो जीवसहावं सुभावसंजुत्तो ।
सो जरमरणविणासं कुणइ फुडं लहइ णिव्वाणं ॥६१॥

यो जीवो भावयन् जीवस्वभावं सुभावसंयुक्तः ।
स जरामरणविनाशं करोति स्फुटं लभते निर्वाणम् ॥

जो जीवो भावंतो यो जीवः आसन्नभव्यः भावंतो-भावयन् भवति । किं भावयन् भवति ? **जीवसहावं** जीवस्वभावमात्मस्वरूपं अनन्तज्ञानानन्तदर्शनानन्तवीर्यानन्तसुखस्वरूपं केवलं केवलज्ञानमयं वा आत्मानं । कथंभूतः सन्, **सुभावसंजुत्तो** शोभनपरिणामसंयुक्तो रागद्वेषमोहादिविभावपरिणामरहितः । **सो जरमरणविणासं कुणइ फुडं** स जीवोऽन्तरात्मा भेदज्ञानबलेन जरामरणविनाशं करोति पुनर्जराजीर्णो न भवति न च म्रियते, कथं ? फुडु-स्फुटं निश्चयेन तीर्थंकरो भवति । **लहइ णिव्वाणं** लभते किं निर्वाणं सर्वकर्मक्षयलक्षणं मोक्षं अनन्तसुखं प्राप्नोतीत्यर्थः ।

जीवो जिणपण्णत्तो णाणसहाओ य चेयणासहिओ ॥
सो जीवो णायव्वो कम्मक्खयकारणणिमित्ते ॥ ६२ ॥

जीवो जिनप्रज्ञप्तः ज्ञानस्वभावश्च चेतनासहितः ।
स जीवो ज्ञातव्यः कर्मक्षयकारणनिमित्ते ॥

जीवो जिणपण्णत्तो जीव आत्मा जिनप्रज्ञप्तः श्रीमद्भगवदर्हत्सर्वज्ञ-वीतरागेण प्रणीतः कथितः। जीवो नास्तीति ये चार्वाकशिष्या वदन्ति तन्मतमनेन पदेन निरस्तं भवतीति ज्ञातव्यं। तथा चोक्तं—

तदर्हजस्तनेहातो रक्षोदृष्टेर्भवस्मृतेः ।
भूतानन्वयनाज्जीवः प्रकृतिज्ञः सनातनः ॥ १ ॥

कथंभूतः प्रणीतः, **णाणसहाओ य** ज्ञानस्वभावो ज्ञानस्वरूपः। तथा चोक्तं—

विभावसोरिवोष्णत्वं चरिष्णोरिव चापलं ।
शशाङ्कस्येव शीतत्वं स्वरूपं ज्ञानमात्मनः ॥ १ ॥

इत्यनेन ये सांख्याः कापिलाः सत्कार्यापरनामानो मिथ्यादृष्टयो वदन्ति "जीवः खलु मुक्तः सन् ग्राह्यग्राहकरहितो भवति" तन्मतं निराकृतं भवतीति वेदितव्यं। तथा चोक्तं—

कपिलो यदि वाञ्छति विचित्तिमचिति सुरगुरुगीर्गुर्वेऽप्येव पतति ।
चैतन्यं ग्राह्यग्राहकरहितमुपयोगि कस्य वद तत्र विदितः ॥ १ ॥

चेयणासहिओ चेतनासहितः प्रतिपदविराजमानः इत्यनेन लोकायतमतं निरस्तमिति ज्ञातव्यं। एवं गुणविशिष्टेन जीवेन किं कार्यं भवतीति पर्यनुयोगे सतीदं प्राह—**सो जीवो णायव्वो** स जीवः

१ चार्वाकाकु० ख । २ वो टी. । ३ चरेष्णोरिव. ख. ।

स आत्मा ज्ञातव्य । कम्मक्खयकारणणिमित्ते कर्मक्षयकारणनिमित्ते कर्मणा ज्ञानावरणदर्शनावरणवेदनीयमोहनीयायुर्नामगोत्रान्तरायाणां समूलकाप कषणे जीवपदार्थ एव समर्थ इति ज्ञातव्यं । अनन्तसौख्यदानहेतुरात्मेति भाव ।

जेसिं जीवसहावो णत्थि अभावो य सव्वहा तत्थ ।
ते होंति भिण्णदेहा सिद्धा वचिगोयरमतीदा ॥ ६३ ॥

येषां जीवस्वभावो नास्ति अभावश्च सर्वथा तत्र ।
ते भवन्ति भिन्नदेहा सिद्धा वचोगोचरातीता ॥

जेसिं जीवसहावो येषामासन्नभव्यानां जीवस्वभाव आत्मस्वभाव आत्मनोऽस्तित्वमस्ति । **णत्थि अभावो य सव्वहा तत्थ** नास्त्यभावश्च सर्वथा तत्र । तत्रात्मनि अभावश्च नास्ति "अस्त्यात्मानादिबद्ध" इति वचनात् । **ते होंति भिण्णदेहा** ते पुरुषा भवन्ति भिन्नदेहा शरीररहिता । **सिद्धा वचिगोयरमतीदा** ते पुरुषा किं भवन्ति सिद्धा सिद्धिः स्वात्मोपलब्धिर्विद्यते येषां ते सिद्धा प्रज्ञादित्वादस्त्यर्थेऽणुप्रत्ययः । कथंभूता सिद्धा, वचोगोचरातीता वाचा गोचरत्वे गम्यत्वेऽतीता अगम्या वक्तुं न शक्यन्ते—तत्सदृशाना केवलज्ञानिनां गम्या इत्यर्थ ।

अरसमरूवमगंधं अव्वत्तं चेयणागुणसमद्दं ।
जाणमलिंगग्गहणं जीवमणिद्दिट्ठसंठाणं ॥ ६४ ॥

अरसमरूपमगन्धमव्यक्तं चेतनागुणसमार्द्र ।
जानीहि अलिङ्गग्रहणं जीवमनिर्दिष्टसंस्थानं ॥

अरसं मधुराम्लकटुतिक्तकषायपञ्चरसरहितं हे जीव ! तं जीवं जानीहि । **अरूवं** श्वेतपीतहरितारुणकृष्णलक्षणपञ्चरूपरहितं जीवमात्मानं जानी-

१ दं क पुस्तके तट्टीकायां च । २ म टी ।

होति दीपकं सम्बन्धनीयं । **अगंधं** सुरभिदुरभिलक्षणगन्धद्वयवर्जितं जीवपदार्थं जानीहि । **अव्वत्तं** अव्यक्तं इन्द्रियानिन्द्रियाणामगोचरत्वादस्फुटं, केवलज्ञानिना व्यक्तं स्फुटं जीवतत्वं हे जीव ! भेदज्ञानसमृद्धान्तरात्मन् ! जानीहि । निषेधं कृत्वा विधिं दर्शयन्ति—**चेयणागुणसमद्धं** चेतनागुणेन ज्ञप्तिमात्रेण सम्यक्प्रकारेणार्द्धं परिणतं । समिद्धमिति पाठे चेतनागुणेन ज्ञानगुणेन समृद्धमिति व्याख्येयं । **जाणमलिंगग्गहणं** जाण जानीहि त्वं हे जीव ! अलिंगग्रहणं स्त्रीपुंनपुंसकलिंगत्रयग्रहणं स्वीकारस्तेन रहितं जीवमात्मानं विदांकुरु । व्यवहारनयेन यद्यपीयं स्त्री अयं पुमान् इदं नपुंसकमिति मण्यते तथापि निश्चयनयेनात्मा शुद्धबुद्धैकस्वभावो न लिंगत्रयवानिति । **जीवमणिद्दिट्ठसंठाणं** जीवमात्मानं, अनिर्दिष्टसंस्थानं न निर्दिष्टानि जिनागमे प्रतिपादितानि संस्थानानि षडाकृतयो यस्येति अनिर्दिष्टसंस्थानस्तं जानीहि । अथ कानि तानि संस्थानानि यान्यात्मनो निश्चयनयेन नैव वर्तन्ते इति चेत् ? तन्नामनिर्देशः क्रियते—समचतुरस्रसंस्थानं (१) न्यग्रोधपरिमण्डलसंस्थानं (२) स्वात्यपरनामवाल्मिकसंस्थानं (३) कुब्जकसंस्थानं (४) वामनसंस्थानं (५) हुंडकसंस्थानं चेति (६) नामानुसारेण शरीराकारो ज्ञातव्य इति तात्पर्यं ।

भावहि पंचपयारं णाणं अण्णाणणासणं सिग्घं ।
भावणभावियसहिओ दिवसिवसुहभायणो होइ ॥ ६५॥

भावय पञ्चप्रकारं ज्ञानं अज्ञाननाशनं शीघ्रम् ।
भावनाभावितसहितः दिवृशिवसुखभाजनं भवति ॥

१ अ. टी. । २ नि. टी. ।

भावहि पंचपयारं भावय त्वं हे जीव ! पंचप्रकारं पंचविधं । किं ? **णाणं** सम्यग्ज्ञानं । कथंभूतं ज्ञानं, अज्ञाननाशनं अज्ञानस्याविवेकस्य नाशनं विध्वंसकं । कथं भावय, **मिग्घं** शीघ्रं लघुतया । **भावण-भावियसहिओ** भावना रुचिः तस्या भावित वासित तेन सहितः संहितः पुमान् संयुक्तो जीवः । **दिवसिवसुहभायणो होइ** दिवः स्वर्गस्य, शिवस्य मोक्षस्य, सुखस्य परमानन्दलक्षणस्य, भाजनममत्रं, भवति संजायते । पंचज्ञानविस्तरस्तत्त्वार्थतात्पर्यवृत्तौ प्रथमाध्याये ज्ञातव्यः । मतिश्रुतावधिमनःपर्ययकेवलानि ज्ञानमिति नामनिर्देशः ।

> पढिएण वि किं कीरइ किं वा सुणिएण भावरहिएण ।
> भावो कारणभूदो सायारणयारभूदाणं ॥ ६६ ॥
>
> पठितेनापि किं क्रियते किं वा श्रुतेन भावरहितेन ।
> भावः कारणभूतः सागारानगारभूतानाम् ॥

पढिएण वि किं कीरइ पठितेन ज्ञानेन किं क्रियते–किं स्वर्गमोक्षं विधीयते–अपि तु न क्रियते इत्यर्थः । अपिशब्दादपठितेनापि अनभ्यस्तेनापि जिह्वाग्रेऽकृतेनापि ज्ञानेन स्वर्गो मोक्षश्च क्रियते इत्यर्थः । **किं वा सुणिएण** वा–अथवा श्रुतेनाकर्णितेन ज्ञानेन किं ? न किमपि, स्वर्गश्च मोक्षश्च न भवतीत्यर्थः । कथंभूतेन पठितेन श्रुतेन च, **भावरहिएण** भावरहितेन । **भावो कारणभूदो**[1] भाव आत्मरुचिः जिनसम्यक्त्वकारणभूतो हेतुभूतः । **सायारणयारभूदाणं** सागारानगारभूतानां श्रावकाणां यतीनां चेति तात्पर्यं ।

> दव्वेण सयलनग्गा नारयतिरिया य सयलसंघाया ।
> परिणामेण असुद्धा ण भावसवणत्तणं पत्ता ॥ ६७ ॥

---

१ भो. टी. । २ वा. टी. ।

द्रव्येण सकलनग्ना नारकतिर्यञ्चश्च सकलसंघाता।
परिणामेन अशुद्धा न भावश्रमणत्वं प्राप्ताः॥

दव्वेण सयलणग्गा द्रव्येण बाह्यकारणेन सकलाः सर्वे जीवा नग्ना वस्त्रादिरहिताः। के ते, **णारय** नारकाः सप्ताधोभूमिस्थितचतुरशीतिशतसहस्रबिलसञ्जातसत्त्वाः। **तिरिया य** तिर्यञ्चश्च पशवो जाता नग्ना एव भवन्ति। तथा **सयलसंघाया** नारकाणां तिरश्चां च सर्वे समूहाः। अथवा सकलसंघाताः स्त्रीभिः सह मिलिताः कमनीयकामिनीभिरालिंगिताः सर्वे पुरुषसमूहा अपि द्रव्येण नग्ना निर्वस्त्रादिका भवन्ति। कथंभूतास्ते, **परिणामेण असुद्धा** परिणामेन मनोव्यापारेणाशुद्धा रागद्वेषमोहादिकश्मलिताः। **ण भावसवणत्तणं पत्ता** भावश्रमणत्वं परिणामदिगम्बरत्वं न प्राप्ता न कर्मक्षयलक्षणमोक्षनिरीक्षा बभूवुरिति पूर्वसम्बन्धः।

णग्गो पावइ दुक्खं णग्गो संसारसायरे भमइ।
णग्गो न लहइ बोहिं जिणभावणवज्जिओ सुइरं॥ ६८॥

नग्नः प्राप्नोति दुःखं नग्नः संसारसागरे भ्रमति।
नग्नो न लभते बोधिं जिनभावनावर्जितः॥

णग्गो पावइ दुक्खं नग्नः पुमान् प्राप्नोति लभते, किं? दुःखं छेदनभेदनशूलारोपणयन्त्रपीलनक्रकचविदारणभ्राष्ट्रक्षेपणतप्तलोहपुत्तलिकालिंगनवैतरणीनदीविशेषमज्जनकूटशाल्मलिघर्षणासिपत्रवनच्छायानिवेशनशारीरमानसागन्तुसातं नरकेषु तिर्यक्षु कुमनुष्येषु कुदेवेषु च दुःखं प्राप्नोतीत्यभिप्रायः श्रीकुन्दकुन्दाचार्याणां। **णग्गो संसारसायरे भमइ** (नग्नः संसारसागरे भ्राम्यति) मज्जनोन्मज्जनं करोति। **णग्गो न लहइ बोहिं** नग्नो जीवो बोधिं रत्नत्रयप्राप्तिं न लभते—अनन्तानन्तसंसारे पर्यटितोऽपि जन्मशतसहस्रकोटिभिरपि सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षकारणानि न प्राप्नोतीत्यर्थः। कथंभूतो नग्नः, **जिणभावणवज्जिओ सुइरं**

जिनस्य श्रीमद्भगवदर्हत्सर्वज्ञवीतरागस्य सम्बन्धिनी या भावना सम्यक्त्वं तया वज्जिओ-वर्जित । कथं, सुइर-सुचिरमतिदीर्घकाल । तथा चोक्तं—

कालु अणाइ अणाइ जिउ भवसायरु वि अणतु ।
जीवें बेण्णि न पत्ताइ जिणुसामिउसमत्तु ॥ १ ॥

इति व्याख्यान ज्ञात्वा सम्यग्दर्शने दृढभावना कर्तव्येति भावार्थ ।

अयसाण भायणेण य किं ते णग्गेण पावमलिणेण ।
पेसुण्णहासमच्छरमायाबहुलेण सवणेण ॥ ६९ ॥

अयशसां भाजनेन च किं ते नग्नेन पापमलिनेन ।
पैशून्यहास्यमत्सरमायाबहुलेन श्रवणेन ॥

अयसाण भायणेण य अयशसामपकीर्तीनां भाजनेनामत्रेणाधारपात्रेण । किं ते णग्गेण पावमलिणेण हे जीव ! ते तव नाग्न्येन नग्नत्वेन किं-न किमपि, स्वर्गमोक्षकार्यरहितेन वृथेत्यभिप्राय । कथंभूतेन नाग्न्येन, पापमलिनेन पापेन मलिनेन कश्मलिना । अथवा पापेति पृथक्पदं तेनायमर्थ रे पाप ! पापमूर्ते दिगम्बरवेषधारक ! मलिनेन अतिचारानाचारातिक्रमव्यतिक्रमसहितेन नाग्न्येन किं [2] न किमपि । तथा चोक्तं समासोक्तिना गुणभद्रेण भगवता-

हे चन्द्रम ! किमिति लाञ्छनवानभूस्त्व
तद्वान् भवे किमिति तन्मय एव नाभू ।
किं ज्योत्स्नया मलमलं तव घोषयन्त्या
स्वर्भानुवन्ननु तथा सति नासि लक्ष्य ॥ १ ॥

कथंभूतेन तव नाग्न्येन, पेसुण्णहासमच्छरमायाबहुलेण सवणेण पैशून्यहास्यमत्सरमायाबहुलेन । पैशून्यं परदोषग्रहणं । उक्तं च—

---

१ कालोऽनादि अनादिः जीव भवसागरोऽपि च अनन्त ।
जीवेन द्वे न प्राप्ते जिनस्वामिसम्यक्त्वे ॥

२ म टी

मा भवतु तस्य पापं परहितनिरतस्य पुरुषसिंहस्य ।
यस्य परदोषकथने जिह्वा मौनव्रतं चरति ॥ १ ॥

हास्यं च वर्करः । मत्सरश्च परेषां शुभद्वेषः । उक्तं च—

उद्युक्तस्त्वं तपस्विन्नधिकमभिभवं त्वय्यगच्छन् कषायाः
प्राभूद्बोधोऽप्यगाधो जलमिव जलधौ किं तु दुर्लक्ष्यमन्यैः ।
निर्व्यूढेऽपि प्रवाहे सलिलमिव मनाग्निम्नदेशेष्ववश्यं
मात्सर्यं ते स्वतुल्ये भवति परवशाद्दुर्जयं तज्जहीहि ॥ १ ॥

माया च परवंचना । उक्तं च—

यशो मारीचीयं कनकमृगमायामलिनितं
हतोऽश्वत्थामोक्त्या प्रणयिलघुरासीद्यमसुतः ।
सकृष्णः कृष्णोऽभूत्कपटबटुवेषेण नितरा—
मपि च्छद्माल्पं तद्विषमिव हि दुग्धस्य महतः ॥ १ ॥

पैशून्यहास्यमत्सरमायाबहुलं तेन तथोक्तेन । पुनः कथंभूतेन लाभ्रेन, श्रवणेन निरन्तरसम्बन्धिना नानाधर्ममिषोपार्जितद्रव्येण । अथवा सवनेन वनवाससहितेन । तथा चोक्तं—

वनेऽपि दोषाः प्रभवन्ति रागिणां
गृहेऽपि पंचेन्द्रियनिग्रहस्तपः ।
अकुत्सिते कर्मणि यः प्रवर्तते
विमुक्तरागस्य गृहं तपोवनं ॥ १ ॥

पयडहिं जिणवरलिंगं अब्भिंतरभावदोसपरिसुद्धो ।
भावमलेण य जीवो बाहिरसंगम्मि मयलियइ ॥ ७० ॥

प्रकटय जिनवरलिंगं अभ्यन्तरभावदोषपरिशुद्धः ।
भावमलेन च जीवो बाह्यसंगे मलिनः ॥

---

१ त्वामगच्छन्निति पाठान्तरं । २ स्वतुल्येभवतीति पाठान्तरं ।

पयडहिं जिणवरलिंगं हे जीव ! हे आत्मन् ! प्रकटय जिनवरलिंगं पूर्वं जिनवरलिंगं त्वं धर नग्नो भव । पश्चात्कथंभूतो भव, **अब्भिंतरभावदोसपरिसुद्धो** अभ्यंतरभावेन जिनसम्यक्त्वपरिणामेन कृत्वा दोषपरिशुद्धो दोषरहितो भव । अयमत्र तात्पर्यं द्रव्यलिंगं विना भावलिंगी सन्नपि मोक्षं न लभत इत्यर्थः, शिवकुमारो भावलिंगी भूत्वापि स्वर्गं गतो न तु मोक्षं, जम्बूस्वामिभवे द्रव्यलिंगी अतिकष्टेन संजातस्तस्मिंश्च सति भावलिंगेन मोक्षं प्राप । **भावमलेण य जीवो** भावमलेनाप-रिशुद्धपरिणामेन जिनसम्यक्त्वरहितत्वया । **बाहिरसंगम्मि मयलियइ** बाह्यसंगे सति मइलियइ—मलिनो भवति सम्यक्त्वं विना निर्ग्रन्थोऽपि सग्रन्थो भवतीति भावार्थः । स्याद्भावेन मोक्षो द्रव्यलिंगापेक्षत्वात्, स्याद्द्रव्यलिंगेन मोक्षो भावलिंगापेक्षत्वात्, स्यादुभयं क्रमार्पितोभयत्वात्, स्यादवाच्यं युगपद्वक्तुमशक्यत्वात्, स्याद्भावलिंगं चावक्तव्यं च, स्याद्द्रव्यलिंगं चावक्तव्यं च, स्यादुभयं चावक्तव्यं चेति सप्तभंगी योजनीया । तथा चोक्तं—

पयोव्रतो न दध्यत्ति न पयोत्ति दधिव्रतः ।
अगोरसव्रतो नोभे तस्मात्तत्त्वं त्रयात्मकं ॥ १ ॥

धम्मम्मि णिप्पवासो दोसावासो य उच्छुफुल्लसमो ।
णिप्फलणिग्गुणयारो णडसवणो णग्गरूवेण ॥ ७१ ॥

धर्मे निप्रवासो दोषावासश्च इक्षुपुष्पसमः ।
निष्फलनिर्गुणकारो नटश्रवणो नग्नरूपेण ॥

धम्मम्मि णिप्पवासो धर्मे दयालक्षणे चारित्रलक्षणे आत्मस्वरूपे उत्तमक्षमादिदशलक्षणे च । तदुक्तं—

१ इ. टी.

धम्मो वत्थुसहावो खमादिभावो य दसविहो धम्मो।
चारित्तं खलु धम्मो जीवाण य रक्खणो धम्मो॥ १॥

एवमुक्तलक्षणे धर्मे निप्पवासो—निरतिशयेन प्रवासः प्रगतवासः उद्वस इत्यर्थः। **दोसावासो** य दोषाणां मलातिचाराणामावासो निवासः। **उच्छुफुल्लसमो** इक्षुपुष्पसमः इक्षुपुष्पसदृशः। **णिप्फलणिग्गुणयारो** निष्फलो मोक्षरहितः, निर्गुणो ज्ञानरहितः। यथा इक्षुपुष्पं निष्फलं फलरहितं भवति रसवर्जितं स्यात् तथा निर्गुणं गन्धहीनं भवति तथा परमार्थरहितो दिगम्बरो ज्ञातव्यः। तथा निर्गुणकारः परेषां गुणकारको न भवति सम्बोधको न स्यात्। **णडसवणो णग्गरूवेण** नग्नरूपेण कृत्वा नटश्रवणः नर्मसचिवसदृशः। स लोकरञ्जनार्थं नग्नो भवति तथायमपि। इति व्याख्यानं ज्ञात्वा सम्यक्त्वे ज्ञाने चारित्रे तपसि च दृढतया स्थातव्यं।

जे रायसंगजुत्ता जिणभावणरहियदव्वनिग्गंथा।
न लहंति ते समाहिं बोहिं जिणसासणे विमले॥७२॥

ये रागसंगयुक्ता जिनभावनारहितद्रव्यनिर्ग्रन्थाः।
न लभन्ते ते समाधिं बोधिं जिनशासने विमले॥

जे रायसंगजुत्ता ये मुनयो रागेण स्त्रीप्रीतिलक्षणेन, संगेन परिग्रहेण युक्ता भवन्ति। अथवा रागेण सह स्त्रीगमनं कुर्वन्ति। अथवा राजसंगः अर्हद्दर्शनं त्यक्त्वा राजसेवां कुर्वन्ति राजसेवायुक्ता भवन्ति **जिणभावणरहियदव्वनिग्गंथा** जिनभावनारहितद्रव्यनिर्ग्रन्थाः, जिने भावना रुचिर्येषां नास्ति ते जिनभावनारहितास्ते च ते निर्ग्रन्था नग्नरूपधारिणो जिनभावनारहितद्रव्यनिर्ग्रन्थाः। अथवा जिनस्य भावना तीर्थंकरनामकर्मोपार्जनप्रत्ययभूता दर्शनविशुद्ध्यादयो भावनाः षोडश ताभ्यो रहिताः। जिनसम्यक्त्वसहिता व्यस्ताः समस्ता वा भावनास्तीर्थ-

करनामकर्मदायिका भवति। दर्शनविशुद्धिरहिता अपरा पंचदशापि भावनास्तीर्थकरनामकर्म नार्पयन्ति। तथा चोक्तं–

एकापि समर्थेयं जिनभक्तिर्दुर्गतिं निवारयितुं।
पुण्यानि च पूरयितुं दातुं मुक्तिश्रियं कृतिनः ॥ १ ॥

अथवा द्रव्यनिर्ग्रन्था–बहुविधधर्मभिषेण द्रव्यमुपार्जयन्ति ये ते द्रव्यनिर्ग्रन्था कथ्यन्ते। **न लहंति ते समाहिं** ते मुनयः समाधिं रत्नत्रयपरिपूर्णतां धर्म्यशुक्लध्यानद्वयं वा न लभन्ते न प्राप्नुवन्ति। **बोहिं जिणसासणे विमले** बोधिं सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रलक्षणां न लभन्ते न प्राप्नुवन्ति जिनशासने श्रीमद्भगवदर्हत्सर्वज्ञवीतरागमते। कथंभूते, विमले पूर्वापरविरोधविवर्जिते कर्ममलकलङ्कक्षयहेतुभूते वा।

भावेण होइ णग्गो मिच्छत्ताई य दोस चइऊणं।
पच्छा दव्वेण मुणी पयडदि लिंगं जिणाणाए ॥ ७३ ॥

भावेन भवति नग्नः मिथ्यात्वादींश्च दोषान् त्यक्त्वा।
पश्चाद्द्रव्येण मुनिः प्रकटयति लिंगं जिनाज्ञया ॥

भावेण होइ णग्गो भावेन परमधर्मानुरागलक्षणजिनसम्यक्त्वेन भवति, कीदृशो भवति? नग्नः वस्त्रादिपरिग्रहरहितः। किं कृत्वा पूर्वं, **मिच्छत्ताई य दोस चइऊणं** मिथ्यात्वादींश्च दोषांस्त्यक्त्वा मिथ्यात्वाविरतिप्रमादकषाययोगलक्षणास्रवद्वाराणि त्यक्त्वा। **पच्छा दव्वेण मुणी** पश्चात् भावलिंगधारणानन्तरं मुनिर्दिगम्बरः। **पयडदि लिंगं जिणाणाए** प्रकटयति स्फुटीकरोति, किं तत्? लिंगं–जिनमुद्रा, कया? **जिणाणाए**–जिनस्याज्ञया जिनसम्यक्त्वेन सम्यक्त्वश्रद्धानरूपेणेति बीजांकुरन्यायेनोभयं सत्यं ज्ञातव्यं। भावलिंगेन द्रव्यलिंगं द्रव्यलिंगेन भावलिंगं भवतीत्युभयमेव प्रमाणीकर्तव्यं। एकान्तमतेन तेन सर्वं नष्टं भवतीति वेदितव्यं। अलं दुराग्रहेणेति।

भावो वि दिव्वसिवसुक्खभायणो भाववज्जिओ सवणो ।
कम्ममलमलिणचित्तो तिरियालयभायणो पावो ॥ ७४ ॥

भावोपि दिव्यशिवसुखभाजनं भाववर्जितः श्रवणः ।
कर्ममलमलिनचित्तः तिर्यगालयभाजनं पापः ॥

भावो वि दिव्वसिवसुक्खभायणो इति विपुलानाम–गाथालक्षणं । भावोऽपि, अपिशब्दाद्द्रव्यलिंगमपि । दिव्यं दिवि भवं दिव्यं सौधर्मैशानदेवीरतिक्रम्यान्यतरमहर्द्धिकदेवसुखं सौधर्माच्च्युतस्वर्गपर्यन्तं सुखं द्रव्यलिंगमन्तरेण भावनीयं । तदुक्तद्रव्यलिंगेन सर्वार्थसिद्धिपर्यन्तं सुखं ज्ञातव्यं । कस्यचिद्भव्यस्य भावलिंगमन्तरेण द्रव्यलिंगेन नवग्रैवेयकपर्यन्तं पुनः पुनर्भवपातहेतुभूतं सुखं ज्ञातव्यं । तेनास्य पादस्य पुनरर्थः प्रकाश्यते । भावोऽपि दिव्यशिवसौख्यभाजनं स्वर्गमोक्षसौख्यभाजनं । **भाववज्जिओ सवणो** भाववर्जितः श्रवणः जिनसम्यक्त्वरहितो दिगम्बरः । **कम्ममलमलिणचित्तो** कर्ममलं अतिचारानाचारातिक्रमव्यतिक्रमचेष्टितोपार्जितपापेन दोषेण मलिनचित्तः मलिनं मलकलुषितं चित्तमात्मा यस्य स भवति कर्ममलमलिनचित्तः । **तिरियालयभायणो पावो** तिर्यगालयभाजनं तिर्यग्गतिस्थानं भवति, पापः पापात्मा विचित्रमतिनाममंत्रिपुत्रवत् ।

खयरामरमणुयकरजलिमालाहिं च संथुया विउला ।
चक्कहररायलच्छी लब्भेइ बोही ण भव्वणुआ ॥ ७५ ॥

१ खयरामरमणुयाण अंजलिमालाहि घ पुस्तके पाठः ।
२ हुभावेणेति पाठान्तरं । घ पुस्तके च ।
३ अस्माद्गाथात्पूर्वाद्गम घ पुस्तके इमे गाथासूत्रे समुपलभ्येते । मुद्रित पुस्तके च । न चोपलभ्येते च न इति प्राचीनलिखितमूलपुस्तके । क ख इति टीका पुस्तके च न स्त एव । टीकाप्यनयोर्नास्ति । ते च घ पुस्तकोक्तटीकासहिते अत्र लिख्येते । (अग्रतनपृष्ठे)

खचरामरमनुजानाम् करांजलिमालाभिः संस्तुता विपुला ।
चक्रधरराजलक्ष्मी लभ्यते बोधिः न भव्यनुता ॥

खयरामरमणुयकरंजलिमालाहिं च इयमपि विपुला गाथा ज्ञातव्या । अस्या अयमर्थः—खचरामरमनुजकरांजलिमालाभिश्च खे चरन्त्याकाशे गच्छन्तीति खचरा विद्याधरा उभयश्रेणिसम्बन्धिनः, न म्रियन्ते बहुकालेन प्रच्यवन्तेऽमरा भवनवासिव्यन्तरज्योतिष्ककल्पवासिदेवाः, मणुय–प्रतिश्रुत्यादिभ्यो जाता मनुजाः, खचरामरमनुजास्तेषां करांजलयः करकुड्मलानि तेषां मालाभिः श्रेणिभिश्च । संथुया–संस्तुता । चक्रवर्तिनां च तथा मण्डलेश्वरमहामण्डलेश्वरार्धमण्डलेश्वराणां राज्ञां लक्ष्मी चक्रधरराजलक्ष्मी । लब्भेइ बोही ण भव्वणुआ एतादृशी लक्ष्मीर्विभूतिर्लभ्यते प्राप्यते जीवेनेति, बोही ण–परं बोधिर्न लभ्यते । कथंभूता बोधिः, भव्यनुता

भावं तिविहपयारं सुहासुहं सुद्धमेव णायव्वं ।
असुहं अट्टरउद्दं सुह धम्मं जिणवरिंदेहिं ॥ १ ॥

भावः त्रिविधप्रकारः शुभोऽशुभः शुद्ध एव ज्ञातव्यः ।
अशुभः आर्तरौद्रः शुभः धर्म्यं जिनवरेन्द्रैः ॥

टीका–भावं त्रिविधप्रकारं शुभं अशुभं शुद्धं एव निश्चयेन ज्ञातव्यं । अशुभं आर्तरौद्रं । शुभं धर्मध्यानं जिनवरेन्द्रैः कथितम् ।

सुद्धं सुद्धसहावं अप्पा अप्पम्मि तं च णायव्वं ।
इदि जिणवरेहिं भणियं जं सेयं तं समायरह ॥ २ ॥

शुद्धः शुद्धस्वभावः आत्मा आत्मनि स च ज्ञातव्यः ।
इति जिनवरैः भणितं यच्छ्रेयः तत् समाचर ॥

टीका–हे मुने ! शुद्धं निर्मलं शुद्धस्वभावं तं आत्मानं आत्मनि ज्ञातव्यं । इति जिनवरैर्भणितं कथितं । यच्छ्रेयं कल्याणकारि तत् समाचर कुर्विति ।

१ अस्य स्थाने मनुष्या इति ख पुस्तके पाठः । २ या टी ?

भव्यवरपुण्डरीकैः स्तुता प्रशंसनीया। अथवा हे भव्यनुत! आसन्नभव्यजीव! त्वमिदं जानीहीति शेषः।

पयलियमाणकसाओ पयलियमिच्छत्तमोहसमचित्तो।
पावइ तिहुयणसारं बोही जिणसासणे जीवो॥ ७६॥

प्रगलितमानकषायः प्रगलितमिथ्यात्वमोहसमचित्तः।
प्राप्नोति त्रिभुवनसारां बोधिं जिनशासने जीवः॥

पयलियमाणकसाओ प्रगलितमानकषायो मानकषायरहितः। **पयलियमिच्छत्तमोहसमचित्तो** प्रगलितमिथ्यात्वमोहसमचित्तो यद्विपरीतं तन्मिथ्यात्वं, मोहो वैचित्यं निर्विवेकता पुत्रमित्रकलत्रादिस्नेह, प्रगतौ विनाशं प्राप्तौ मिथ्यात्वमोहौ यस्य स प्रगलितमिथ्यात्वमोह, समः सर्वत्र तृणसुवर्ण–सर्पस्रक्–शत्रुमित्र–सुखदुःख–वनभवन–पुरारण्यादिषु समानं चित्तं मनो यस्य स समचित्तः। **पावइ तिहुयणसारं** प्राप्नोति लभते। कां, **बोही** बोधिं रत्नत्रयप्राप्तिं। कथंभूतां बोधिं, तिहुयणसारं–त्रैलोक्योत्तमां। **जिणसासणे जीवो** जिनशासने सर्वज्ञवीतरागस्वामिनो मते। मानमिथ्यात्वमोहरहितो जीवो बोधिं प्राप्नोतीति जिनवचनं ज्ञातव्यमिति।

विसयविरत्तो समणो छद्दसवरकारणाइं भाऊणं।
तित्थयरनामकम्मं बंधइ अइरेण कालेण॥ ७७॥

विषयविरक्तः श्रमणः षोडशवरकारणानि भावयित्वा।
तीर्थंकरनामकर्म बध्नाति अचिरेण कालेन॥

विसयविरत्तो समणो विषयेभ्यः स्पर्शरसगन्धवर्णशब्देभ्यः पंचेन्द्रियार्थेभ्यो विरक्तः पराङ्मुखः श्रमणो दिगम्बरः, न तु

श्वेताम्बरादिक प्रयाख्यानादिहान, तप क्लेशसह श्रमण उच्यते न तु बहुयारं जलस्य पाता भोजनस्य भोक्ता च। छद्दसवर कारणाइ भाऊण षोडशवरकारणानि भावयित्वा। तित्थयरनाम कम्म बंधइ तीर्थकरनामकर्म बध्नाति त्रिनवतितमीं प्रकृतिं स्वी करोति यया त्रैलोक्य सचलयति पादाध करोति। अइरेण कालेण अचिरेण कालेन अन्तर्मुहूर्तसमयन, यया पञ्चकल्याणलक्ष्मीं प्राप्नोति, अनन्तकालमनन्तसुखमनुभवति, अनायासेन मोक्ष प्राप्नोति। अथ कानि तानि षोडशकारणानि यैस्तीर्थकरनामकर्म बध्यत इति चदुच्यते—

'दर्शनविशुद्धिर्विनयसम्पन्नता शीलव्रतेष्वनतिचारोऽभीक्ष्ण ज्ञानोपयोगसंवेगौ शक्तितस्त्यागतपसी साधुसमाधिर्वैयावृत्त्य करणमर्हदाचार्यबहुश्रुतप्रवचनभक्तिरावश्यकापरिहाणिर्मार्गप्रभाव ना प्रवचनवत्सलत्वमिति तीर्थकरत्वस्य

इत्युमास्वामिसूरिणा प्रोक्त सूत्र। अस्यायमर्थ —इहलोकभय-परलो कभय-वेदनाभय मरणभय आत्मरक्षणोपायदुर्गाद्यभावागुप्तिभय-अत्राणभ यारक्षणभय विद्युत्पाताद्याकस्मिकभय इति सप्तभयरहितत्व निःशंकितत्वं निर्ग्रन्थलक्षणो मोक्षमार्ग इति जिनमत तथेति वा निःशंकितत्वं (१) इहलोकपरलोकभोगोपभोगाकाङ्क्षानिवृत्तिर्निष्कांक्षित्वं (२) शरीरादौ शुचाति मिथ्यासंकल्परहित त्वं निर्विचिकित्सता, मुनीना रत्नत्रयमण्डितशरीरमलदर्शनादौ निशूकत्वं तत्र समाढौस्य वैयावृत्त्यविधाने वाविचिकित्सता (३) परतत्त्वेषु मोहोज्झकत्वममूढदृष्टित्वं (४) उत्तमक्षमादिभिरात्मनो धर्मवृद्धिकरणं सघदोषाच्छादन चोपबृंहण मुपगूहनं (५) कषायविषयादिभिर्धर्मविध्वंसकारणेषु सत्स्वपि धर्मप्रच्य वनरक्षण स्थितिकरण (६) जिनशासने सदानुरागता वात्सल्यं (७)

सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रतपोभिरात्मप्रकाशनं शासनोद्योतकरणं वा प्रभावना (८) एतैरष्टभिर्गुणैर्युक्तत्वं चर्मजलतैलघृतभूतनाशनाऽप्रयोगत्वं मूलकगर्जरसूरणकन्दगृञ्जनपलाण्डुशिग्रुदौधिककलिंगपचपुष्पसंधानकफौसुभपत्रपत्रशाकमासादिभक्षकभाजनभोजनादिपरिहरणं च दर्शनविशुद्धि (१) ज्ञानदर्शनचारित्रेषु तद्वत्सु चादरोऽकषायता वा विनयसम्पन्नता (२) निरवद्यावृत्तिः शीलव्रतेष्वनतिचारः (३) सन्ततं ज्ञानस्योपयोगोऽभ्यासः अभीक्ष्णज्ञानोपयोगः (४) संसाराद्भीरुत्वं संवेगः (५) स्वशक्त्यनुरूपं दानं (६) मार्गाविरुद्धं कायक्लेशस्तपः (७) मुनिगणतपःसन्धारणं साधुसमाधिः (८) गुणवतां दुःखोपनिपाते निरवद्यवृत्त्या तदपनयनं वैयावृत्त्यं (९) अर्हत्सु केवलिषु अनुरागो भक्तिः (१०) आचार्येष्वनुरागो भक्तिः (११) बहुश्रुतेष्वनुरागो भक्तिः (१२) प्रवचने जिनसूत्रेऽनुरागो भक्तिः (१३) सामायिकं सर्वजीवेषु समत्वं, चतुर्विंशतिजिनानां स्तुतिः स्तवः कथ्यते, एकजिनस्य स्तुतिर्वन्दनाभिधीयते, कृतदोषनिराकरणं प्रतिक्रमणं, आगामिदोषनिराकरणं प्रत्याख्यानं। एकमुहूर्तादिषु शरीरव्युत्सर्जनं कायोत्सर्गः एतेषां षण्णामावश्यकानामपरिहाणिरेका चतुर्दशी भावना (१४) ज्ञानादिना धर्मप्रकाशनं मार्गप्रभावना (१५) सधर्मणि स्नेहः प्रवचनवत्सलत्वं (१६) एताः षोडशभावनाः समस्तास्तीर्थकरनामकारणं दर्शनविशुद्धिसहिता व्यस्ता अपि तीर्थकरनामकारणं भवन्तीति ज्ञातव्यं।

बारसविहतवयरणं तेरसकिरियाओ भाव तिविहेण।
धरहि मणमत्तदुरियं णाणांकुसएण मुणिपवर॥ ७८॥

---

१ मणमत्तणायं ग.। मनोमत्तनाग। २ मुणिपवरा ग. घ।

द्वादशविधतपश्चरणं त्रयोदशक्रियाः भावय त्रिविधेन।
धरमनोमत्तदुरितं ज्ञानाङ्कुशेन मुनिप्रवर !॥

बारसविहतवयरणे द्वादशविधं तपश्चरणं अनशनमुपवासः, अवमोदर्यमेकग्रासादिरल्पाहारः, वृत्तिपरिसंख्यानं गणितगृहेषु भाजनं वस्तु संख्या वा, रसपरित्यागः षड्रसविवर्जनं, विविक्तेषु जन्तुस्त्रीपशुनपुंसकरहितेषु स्थानेषु शून्यागारादिषु आसनं उपवेशनं शय्या निद्रा स्थानं अवस्थानं वा विविक्तशय्यासनं, कायक्लेशः जलौदनभोजनादि। इदं षड्विधं बाह्यं तपः। बाह्यं कस्मादिति चेत्? बाह्यं भोजनादिकमपेक्ष्य प्रवर्तते, परप्रत्यक्षं वा प्रवर्तते, परदर्शनं पाषण्डिगृहस्थैश्च क्रियते ततो बाह्यमुच्यते। एतस्मात्तपसः कर्मदहनं इन्द्रियतापकारि च भवति। संयमो रागोच्छेदः कर्मनाशो ध्यानादि आशानिवृत्तिः शरीरतेजोहानिः ब्रह्मचर्यं दुःखसहनं सुखानभिष्वङ्गः आगमप्रभावनादिकं च फलं ज्ञातव्यं। षड्विधमभ्यन्तरं तपः, यतः परतीर्थ्यैरनालीढं स्वसंवेद्यं बाह्यद्रव्यानपेक्षं ततोऽभ्यन्तरं तप उच्यते। तत्किं? प्रायश्चित्तविनयवैयावृत्त्यस्वाध्यायव्युत्सर्गध्यानलक्षणं। तत्र नवविधं प्रायश्चित्तं, चतुर्विधो विनयः, दशविधं वैयावृत्त्यं, पञ्चविधः स्वाध्यायः, द्विविधो व्युत्सर्गः, चतुर्विधं ध्यानं चेति *षड्विधमभ्यन्तरं तपः इति द्वादशविधं तपः।* किं तन्नवविधं प्रायश्चित्तमिति चेत्? गुरवे स्वप्रमादनिवेदनं दशदोषरहितमालोचनं। के ते दशदोषा आलोचनाया इति चेत्?—

---

१ जलौदनभोजनस्वादादि क्ष।

आकंपिअ अणुमाणिअ जं दिट्ठं बाअरं च सुहमं च।
छन्नं सद्दाउलअं बहुजणमव्वत्त तस्सेवी ॥ १ ॥

पुरुषस्यैकान्ते द्व्याश्रयमालोचनं, स्त्रियास्तु प्रकाशे त्र्याश्रयमालोचनं, महदपि तपश्चरणमालोचनरहितं तत्प्रायश्चित्तमकुर्वतो वा अभीष्टफलदं न भवतीति ज्ञातव्यं। दोषमुच्चार्योच्चार्य मिथ्या मे दुष्कृतमस्तु इत्येवमादिरभिप्रेतः प्रतीकारः प्रतिक्रमणं। एतत्प्रतिक्रमणमाचार्यानुज्ञया शिष्येणैव कर्तव्यं। आलोचनं प्रदाय प्रतिक्रमणमाचार्येणैव कर्तव्यं तत्तदुभयमुच्यते। शुद्धस्याप्यशुद्धत्वेन यत्र सन्देहविपर्ययौ भवतः, अशुद्धस्य शुद्धत्वेन निश्चयो वा यत्र, प्रत्याख्यातं यत्तद्वस्तु भाजने मुखे वा प्राप्तं, यस्मिन् वस्तुनि गृहीते कषायादिकमुत्पद्यते तस्य सर्वस्य त्यागो विवेकः। नियतकालकायवाङ्मनसां त्यागो व्युत्सर्गः। तपो बाह्यं कथितमेव। दिनपक्षमासादिविभागेन दीक्षाहापनं छेदः। दिवसादिविभागेनैव दूरतः परिवर्जनं परिहारः। महाव्रतानां मूलच्छेदनं कृत्वा पुनर्दीक्षाप्रापणमुपस्थापना। आचार्यमपृष्ट्वा आतापनादिकरणे पुस्तकपिच्छादिपरोपकरणग्रहणे परपरोक्षे प्रमादत आचार्यादिवचनाकरणे सवनाथमपृष्ट्वा स्वसंघगमने देशकालनियमेनावश्यकर्तव्यव्रतविशेषस्य धर्मकथादिव्यासंगेन निस्मरणे सति पुनःकरणे अन्यत्रापि चैवंविधे आलोचनमेव प्रायश्चित्तं। षडिन्द्रियवागादिदुष्परिणामे, आचार्यादिषु हस्तपादादिसंघट्टने, व्रतसमितिगुप्तिषु स्वल्पातिचारे, पैशून्यकलहादिकरणे, वैयावृत्यस्वाध्यायादिप्रमादे, गोचरगतस्य लिंगोत्थाने, अन्यसंक्लेशकरणादौ च प्रतिक्रमणं प्रायश्चित्तं भवति। दिव-

1 आकम्पितं अनुमानितं यद्दृष्टं बादरं, च सूक्ष्मं च।
छन्नं शब्दाकुलितं बहुजनं अव्यक्तं तत्सेवी ॥
अस्यार्थो नवमे पृष्ठे दर्शनीयः।

सान्ते रात्र्यन्ते भोजनगमनादौ च प्रतिक्रमणं प्रायश्चित्तं । लोचनखच्छेदस्वप्नेन्द्रियातिचाररात्रिभोजनेषु पक्षमाससंवत्सरादिदोषादौ च उभयं आलोचनप्रतिक्रमणप्रायश्चित्तं । मौनादिना लोचकरणे, उदरकृमिनिर्गमे, हिममशकादिमहावातादिसहर्षातिचारे, स्निग्धभूहरिततृणपंकोपरिगमने, जानुमात्रजलप्रवेशकरणे, अन्यनिमित्तवस्तुस्वोपयोगकरणे, नावादिनदीतरणे, पुस्तकप्रतिमापातने, पंचस्थावरविघाते, अदृष्टदेशतनुमलविसर्गादौ, पक्षादिप्रतिक्रमणक्रियायां, अन्तर्व्याख्यानप्रवृत्त्यन्तादिषु कायोत्सर्ग एव प्रायश्चित्तं । उच्चारप्रस्रवणादौ च कायोत्सर्गः प्रसिद्ध एव । अनशनादिकरणस्थानमागमाद्बोद्धव्यं । नवविधप्रायश्चित्ते किं फलं ? भावप्रमादोऽनवस्था शल्याभावदार्ढ्यादिकं फलं वेदितव्यं ।

अनलसेन देशकालादिविशुद्धिविधानज्ञेन सबहुमानो यथाशक्ति क्रियमाणो मोक्षार्थं ज्ञानग्रहणाभ्यासस्मरणादि ज्ञानविनयः [1]तत्वश्रद्धाने निःशंकितत्वादिर्दर्शनविनयः । ज्ञानदर्शनवतो दुश्चरणे तद्वति च ज्ञानेऽति भक्तिर्भावतश्चरणानुष्ठानं चरणविनयः । प्रत्यक्षेष्वाचार्यादिष्वभ्युत्थानवंदनानुगमनादिरात्मानुरूपः परोक्षेष्वपि तेष्वञ्जलिक्रियागुणकीर्तनस्मरणानुज्ञानुष्ठायित्वादिश्च कायवाङ्मनोभिरुपचारविनयः । विनयस्य किं फलं ? ज्ञानलाभ आचारशुद्धिः सम्यगाराधनादिश्च विनयस्य फलं वेदितव्यं । इति चतुर्विधो विनयः ।

दशविधं वैयावृत्यं । तथा हि । आचार्यस्य वैयावृत्यं, उपाध्यायस्य वैयावृत्यं, महोपवासाद्यनुष्ठायितपस्विनो वैयावृत्यं, शास्त्राभ्यासी शैक्षस्तस्य वैयावृत्यं, रुजादिक्लिष्टशरीरो ग्लानस्तस्य वैयावृत्यं, स्थविरसन्ततिर्गणस्तस्य वैयावृत्यं, दीक्षकाचार्यशिष्यसंघः कुलं तस्य वैयावृत्यं, ऋषि

१ पुस्तकद्वयेऽपीत्थमेव पाठः, अनगारधर्मामृते तु मौनादिना विनालोचनकरणे इति । २ यतो । ३ दुश्चरचरणे पाठान्तरं ।

मुनियत्यनगारनिवह संघ, अथवा ऋष्यार्यिकाश्रावकश्राविकानिवह संघस्तस्य वैयावृत्य, चिरप्रव्रजित साधुस्तस्य वैयावृत्य, विद्वत्तारकृत्वादिलोकसम्मतोऽसंयतसम्यग्दृष्टिर्वा मनोज्ञस्तस्य वैयावृत्य । किं तद्वैयावृत्य ? एतेषां दशविधानामाचार्यादीनां व्याधिपरीषहमिथ्यात्वादे प्रासुकौषधभक्तादिप्रतिश्रयसंस्तरादिभिर्धर्मोपकरणै सम्यक्त्वप्रतिस्थापनं च प्रतीकारो वैयावृत्य । बाह्यद्रव्याभावे स्वकाये (न) श्लेष्माद्यन्तर्मलापकर्षणादिस्तदानुकूल्यानुष्ठान च वैयावृत्य । वैयावृत्यकरणे किं फलं ? समा (ध्या) धान ।

वाचना—संशयच्छेदाय निश्चितबलाधानाय वा ग्रन्थार्थोभयस्य पर प्रत्यनुयोग । आत्मोन्नतिपरातिसन्धानोपहासादिवर्जित पृच्छना । अधिगतार्थस्यैकाग्र्येण मनसाभ्यासोऽनुप्रेक्षा । घोषशुद्ध परिवर्तनमाम्नाय । दृष्टादृष्टप्रयोजनानपेक्षमु मार्गनिवर्तनसन्देहच्छेदापूर्वार्थप्रकाशनाद्यर्थो धर्मकथानुष्ठान धर्मोपदेश । पञ्चविधस्य स्वाध्यायस्य किं फलं ? प्रज्ञातिशयप्रशस्ताध्यवसायप्रवचनस्थितिसंशयोच्छेदपरवादिशङ्काद्यभावसंवेगतपोवृद्धयतिचारविशुद्ध्यादर्थ पञ्चविध स्वाध्याय ।

नियतकालो यावज्जीव वा कायस्य त्यागोऽभ्यन्तरोपधिव्युत्सर्ग । बाह्यस्त्वनेकप्रायो व्युत्सर्ग । निःसंगत्वनिर्भयत्वजीविताशाव्युदासदोषोच्छेदमोक्षमार्गभावनापरत्वादि व्युत्सर्गफलम् ।

अथ ध्यानं नाम द्वादश तप उच्यते तदर्थमिद सूत्रमुमास्वामिभि कृत—

"उत्तमसंहननस्यैकाग्रचिन्तानिरोधो ध्यानमान्तर्मुहूर्तात् ।"

अस्यायमर्थ —वज्रऋषभनाराचसंहनन, वज्रनाराचसंहननं, नाराचसंहनन संहननत्रयमुत्तम संहनन मोक्षादिकारणत्वात् । प्रथम संहननं मोक्षस्य हेतु । ध्यानस्य हेतुस्त्रितयमपि भवति । अर्धनाराचस्य कीलि-

काया अप्राप्तासृपाटिकायाथ संहननत्रयस्यान्तर्मुहूर्तकाल यावच्चिन्तानि रोधधारणायामसमर्थत्वात् । गमनभोजनादिक्रियाविशेषेष्वनियमेन प्रवर्त मानस्यात्मन एकस्या क्रियाया कर्तृत्वेनावस्थान निरोध –क्रियान्तर-व्यवधानाभावेन एकक्रियाया सातत्येन प्रवृत्तिर्निरोध इत्यर्थ । एकाग्रे एकार्थे एकस्मिन्नग्रे प्रधाने वा वस्तुनि चिन्तानिरोध –एकस्मिन् द्रव्ये पर्याये तदुभयात्मके स्थूले सूक्ष्मे वा चिन्तानिरोध इत्यर्थ । अथवा सद्ध्यान, अग्र मुख, एकमग्र यस्य स एकाग्र स चासौ चिन्तानिरोधश्चै-काग्रचिन्तानिरोध एकस्मिन्नर्थे वर्तमानचिन्तानिरोध एकमुख सद्ध्यान, अनेकनाक्षसूत्रादौ अनेकमुख सद्ध्यान न भवति यथा प्रदीपशिखा अनिराबाधेन परिस्पन्दते तथाऽनिराकुलतया ध्यानं न स्यात् । गुप्ति-समितिधर्मानुप्रेक्षापरीषहजयचारित्रादिकं यत्सवरकारण तदेव ध्यानका रणमिति ज्ञातव्य । आन्तर्मुहूर्तात् मुहूर्तमध्ये ध्यान भवति । न चाधिक कालो ध्यानस्यास्ति, कस्मात् ? चिन्ताना दुर्धरत्वात् अतिचप लत्वाच्च । एतावत्यपि काले अचलदचलं ध्यानं धर्मध्यसाय भवति प्रलयकालमारुतवत् समुद्रजलशोषणवत् । तद्ध्यानं हेयमुपादेयं च । तत्र हेयमार्त्तं रौद्रं च । उपादेय धर्म्यं शुक्ल च । ऋतौ दु खे भवमार्त्तं । रुद्रः क्रूराशय प्राणी तत्कर्म रौद्रं । धर्मो वस्तुस्वरूपं तस्मा दनपेत आश्रित धर्म्यं । मलरहितात्मपरिणामोद्भवं शुक्लं । तत्र धर्म्यं शुक्लं च द्वय मोक्षकारणं । ससारकारणम यद्द्वयमार्त्तरौद्रमिति ज्ञातव्यं । आर्त्तममोनज्ञस्य संप्रयोगे तद्विप्रयोगाय स्मृतिसमन्वाहारो वार वारं चिन्तनं । मनोज्ञस्य विपरीतं चितनं तद्विपरीत वेदनाचिन्तन तद्विपरीतं निदानस्य चिन्तन । हिंसानृतस्तेयविषयसंरक्षणेभ्यो रौद्र ध्यानमुत्पद्यते । आर्त्तं अविरतदेशविरतप्रमत्तसयतेषु सभवति । रौद्र अविरतदेशविरतेषु संभवति । आज्ञापायविपाकसस्थानविचयेभ्यो धर्म्यध्यानमुत्पद्यते । तत्पूर्व-

विदो मुने श्रेण्यारोहणात्पूर्वं भवति । श्रेण्योरपूर्वकरणाद्युपशान्तान्ताना प्रथम शुक्ल भवति । क्षीणकषायस्य द्वितीय शुक्ल । तृतीय शुक्ल चतुर्थं च शुक्ल केवलिना भवति । तत्र सयोगस्य तृतीय, चतुर्थमयोगस्येति । पृथक्त्ववितर्कवीचार प्रथम शुक्ल । एकत्ववितर्कावीचार तृतीय शुक्ल । सूक्ष्मक्रियाप्रतिपातिनामक तृतीय शुक्ल । व्युपरतक्रियानिवर्तिनामधेय चतुर्थ शुक्ल । तत्र पृथक्त्ववितर्कवीचार त्रियोगस्य भवति मनोवाक्कायावष्टम्भेनात्मप्रदेशपरिस्पन्दान् त्रीन् योगानवलम्ब्य अवष्टभ्य उत्पद्यत इत्यर्थ । एकत्ववितर्कावीचार त्रिषु योगेषु मध्ये एकस्य चलनद्वारेणात्मपरिस्पन्दे सति समुत्पद्यत इत्यर्थ । काययोगस्य केवलिन सूक्ष्मक्रियाप्रतिपाति शुक्ल भवति । अत्र कायावष्टम्भेनैवात्मनश्चलन । अयोगकेवलिनो व्युपरतक्रियानिवर्ति शुक्लध्यान यतोऽत्र कायावष्टम्भेनात्मप्रदेशचलन न भवति । पृथक्त्ववितर्कवीचारमेकत्ववितर्कवीचार ध्यानद्वय पूर्वेष्वधीतिन एव । वितर्कवीचारसहित पूर्व । द्वितीय तु वीचाररहित । वीचार कि ? अर्थव्यञ्जनयोगसक्रान्तिर्वीचार परिवर्तनमित्यर्थ । अर्थसक्रान्ति का ? द्रव्य विमुच्य पर्याय गच्छति पर्याय विहाय द्रव्य समुपैतीत्यर्थसक्रान्ति । एक वचन त्यक्त्वा वचनान्तरमवलम्बते तदपि त्यक्त्वाऽन्यद्वचनमवलम्बते इति व्यञ्जनसक्रान्ति । काययोग त्यक्त्वा योगान्तर गच्छति तदपि त्यक्त्वा काययोग व्रजतीति योगसक्रान्ति । एव श्रुतज्ञानेन वितर्क्य समूह्य द्रव्य तत्पर्याये पर्यायान् वितर्क्य ततो द्रव्ये परिवर्तने वीचारे सति पृथक्त्वेन भेदेन अर्थपर्यायव्यञ्जनयोगयोर्वा श्रुतज्ञान पर्यालोचनेन सक्रान्ति पृथक्त्ववितर्कवीचार शुक्लध्यान भवति । यद्यप्यर्थव्यञ्जनादिसक्रान्तिरूपतया चलन वर्तते तथापि इद ध्यान । कस्मात् ? एवविधस्यैवास्य विवक्षितत्वात् । विजातीयानेकविकल्परहितस्य अर्थादिसंक्रमेण चिन्ताप्रबन्धस्यैव एतद्ध्यानत्वेनेष्टत्वात् । अथवा द्रव्यपर्या-

यात्मनो वस्तुन एकत्वात् सामान्यरूपतया व्यञ्जनस्य योगाना चैकीकरणादिकार्थचिन्तानिरोधोऽपि घटते । द्रव्यात्पर्याय व्यञ्जनाद्व्यञ्जनान्तरं योगाद्योगान्तरं विहाय अन्यत्र चिन्तावृत्तौ अनेकार्थता न द्रव्यादे पर्यायादौ प्रवृत्तौ । तथा श्रुतज्ञानेन एकार्थं वितर्कयन्नविचलितचित्त प्रवृत्त क्षीणकषाय एकत्ववितर्कवान् भवति । वाङ्मनोयोग बादरकायोयोग च परिहाप्य सूक्ष्मकायोयोगालम्बनोऽन्तर्मुहूर्तशेषायुर्वेदनाम गोत्र सूक्ष्मक्रियाप्रतिपातिभाग्भवति । यदा पुनरायुषोऽधिक वेद्यादित्रितय तदा दण्डकपाटादिक चतु समयै कृत्वा पुनस्तावत्समयै समुपहृत्य समीकृतकर्मचतुष्टय सूक्ष्मक्रियाप्रतिपातिध्यान ध्यायति । ततोऽयोगिन समुच्छिन्नक्रियानिवृत्तिव्युपरतक्रियानिवृत्यपरनामक ध्यान भवति । तस्मिन् स्थाने स्थितस्य सर्वास्रवनिरोधात् सर्वशेषकर्मविध्वसनसमर्थ सम्पूर्ण यथाख्यातचारित्र साक्षान्मोक्षकारण सजायते । अन्त्ये शुक्लध्यानद्वये चिन्तानिरोधाभावेऽपि ध्यानव्यवहार ध्यानकार्यस्य योगापहारस्य अघातिघातस्य चोपचारनिमित्तस्य सद्भावात् । तथा साक्षात्कृतसमस्तवस्तावर्हति न किंचिद्ध्येयमस्ति । ध्यान तु तत्र असमानकर्मणा समानत्वकरणार्थं या चेष्टा, कर्मसाम्ये तत्क्षययोग्यसमया या अलौकिका मनीषा तदेव सौख्य मोहक्षयाज्ज्ञानावरणदर्शनावरणक्षयाच्चात्मनो दर्शनं ज्ञानं च भवति । अन्तरायविनाशादनन्तवीर्यं जीवस्य स्यात् । आयुकर्मविध्वसनाच्चतनस्य जन्ममरणाभावो भवति । नामकर्मनिर्मूलनाव्रस्यामूर्तत्वं जायते । नीचोच्चगोत्रनिरासनात्कुलद्वयविनाशो भवति । वेदनीयकर्मनिर्मूलकाष कषणात् जीवस्येन्द्रियोत्पन्नसुखाभाव संजायते ।

१–२ पुस्तकद्वयेऽपि ईदृगेव पाठ किन्तु कषायस्थाने कायेनेति पाठेन भवितव्य आगमाविरुद्धत्वात् । कषायाना तत्राभावाच्च न तेषा बादर सूक्ष्मीकरणत्व च सयोगिगुणस्थाने घटते । ३ समीपकृत क । ४ ज्ञानावरणक्षय न ख ।

एकस्मिन्निष्टे वस्तुनि निश्चला मतिर्ध्यानं । आर्तरौद्रधर्मापेक्षया तु मतिश्चंचला अशुभा शुभा वा सा भावना कथ्यते, चित्तं चिन्तनं अनेकनययुक्तानुप्रेक्षणं ख्यापनं श्रुतज्ञानपदालोचनं वा कथ्यते न तु ध्यानं। अत्र संहननलक्षणं यथा यदुदयादस्थिबन्धनविशेषस्तत्संहननं षट्प्रकारं। वज्राकारोभयास्थिमध्ये सवलयबन्धनं सनाराचं वज्रवृषभनाराचसंहननं। तदेव वलयरहितं वज्रनाराचसंहननं। वज्राकारवलयव्यपेतं सनाराचं नाराचसंहननं। एकमस्थि सनाराचं अपरमनाराचं अर्द्धनाराचसंहननं। उभयास्थिप्रान्ते सकीलकं कीलिकासंहननं। अन्तरप्राप्तपरस्परास्थिसन्धिबहिःशिरास्नायुमांसघेटितं असंप्राप्तासृपाटिकासंहननं चेति। अष्टसप्ततितम्या गाथायां **बारसविहतवयरणं** इत्यस्य पादस्य व्याख्यानं समाप्तं। **तेरसकिरियाओ भावि तिविहेण** त्रयोदशक्रिया भावय त्वं त्रिविधेन त्रिकरणशुद्ध्या पचनमस्काराः, षडावश्यकानि, चैत्यालयमध्ये प्रविशता निसिही निसिही निसिही इति वारत्रयं हृद्युच्चार्यते, जिनप्रतिमावन्दनाभक्तिं कृत्वा बहिर्निर्गच्छता भव्यजीवेन असिही असिही असिही इति वारत्रयं हृद्युच्चार्यत इति त्रयोदशक्रिया हे भव्य! त्वं भावय। तथा चोक्तं—

निःसंगोऽहं जिनानां सदनमनुपमं त्रिःपरीत्येत्य भक्त्या
स्थित्वा गत्वा निषिद्धयुच्चरणपरिणतोऽन्तः शनैर्हस्तयुग्मं।
भाले संस्थाप्य बुद्ध्या मम दुरितहरं कीर्तये शक्रवन्द्यं
निन्दादूरं सदाप्तं क्षयरहितममुं ज्ञानभानुं जिनेन्द्रं ॥ १ ॥

अरे लौंका दुरात्मानो! यदि भवद्भिर्जिनप्रतिमा चैत्यालयश्च न मान्यते तदेदं वृत्तं पूज्यपादैर्जिनवन्दनाविधिः कथमुक्तः। तेन दुराग्रहं विमुच्यास्तिकत्वं भावनीयं भवद्भिः। अथवा पंचमहाव्रतानि पंचसमितयस्तिस्रो गुप्तयश्चेति त्रयोदशक्रियास्त्रयोदशविधं चारित्रं हे भव्यवरपुण्ड-

रीकमुने ! त्वं भावय । धरहि मणमत्तदुरयं विषयकषायान् गच्छन्तं मनोमत्तद्विरदं मतंगजं त्वं धर रक्ष । णाणंकुसएण मुणिपवर ज्ञानाङ्कुशेन निष्ठुरमस्तकप्रहारेण हे मुनिप्रवर ! महामुनिमतल्लिक ! इति शेषः ।

पंचविहचेलचायं खिदिसयणं दुविहसंजम भिक्खू ।
भावं भाविय पुव्वं जिणलिंगं णिम्मलं सुद्धं ॥ ७९ ॥

पञ्चविधचेलत्यागं क्षितिशयनं द्विविधसंयमं भिक्षो ! ।
भावं भावयित्वा पूर्वं जिनलिङ्गं निर्मलं शुद्धम् ॥

पंचविहचेलचायं पंचविधानि पंचप्रकाराणि चेलानि वस्त्राणि तेषां त्यागः परिहारो यस्मिन् जिनलिङ्गे जिनमुद्रायां तत्पंचविधचेलत्यागं । उक्तं च गौतमेन गणिना प्रतिक्रमणसूत्रे–

"अंडजं वा–कोशजं तसरिचीरं (१) बोंडजं वा कर्पासवस्त्रं (२) रोमजं वा उर्णामयं वस्त्रं एडकोष्ट्रादिरोमवस्त्रं (३) वक्कजं वा वल्कं वृक्षादित्वग्भंगादिछल्लिवस्त्रं तेट्टादिकं चापि (४) चम्मजं वा मृगचर्मव्याघ्रचर्मचित्रकचर्मगजचर्मादिकं न परिधानीयं (५)"

खिदिसयणं दुवि० संजमं भिक्खू क्षितिशयनं भूमिशयनं तृणकाष्ठशिलास्थण्डिलशयनं, द्विविधः संयमो यस्मिन् जिनलिङ्गे तद्द्विविधसंयमं । इन्द्रियसंयमः पंचेन्द्रियसंकोचो मनःसंकोचश्चेति षड्विधः संयमः । प्राणसंयमः पृथिव्यप्तेजोवायुवनस्पतिलक्षणपंचस्थावररक्षणं द्वीन्द्रियत्रीन्द्रियचतुरिन्द्रियपंचेन्द्रियचतुःप्रकारत्रसजीवरक्षणलक्षणः षड्विधः प्राणसंयमः । भिक्खू–हे भिक्षो ! अहो तपस्विन् ! अथवा

१ उत्तमं च ।

भिक्षाभोजनं कुर्वन् उद्दण्डचर्यायां पर्यटन् भिक्षुर्जिनलिंगमुच्यते। सा- भिक्षा पंचविधा—अक्षम्रक्षणं, गर्तापूरणं, भ्रामरी, गोचारी, उदराग्निविध्यापन चेति। भावं भाविय पुव्वं भावं आत्मरूप भावयित्वा जिनसम्यक्त्व च भावयित्वा पूर्वं जिनलिंगं भवति। जिणलिंगं णिम्मलं सुद्धं जिनलिंग नग्नरूपमर्हन्मुद्रामयूरपिच्छकमण्डलुसहितं निर्मलं कथ्यते तद्द्वयरहित लिंग कश्मलमित्युच्यते। अन्यत्र तीर्थकरपरमदेवा- त्तद्द्वयं विना अवधिज्ञानादते चेत्यर्थं, सुद्धं चर्मजलतैलघृतमूतनाशनास्वादरहितमुद्दण्डचर्यमन्तरायमलरहितं शुद्धमित्यभिप्रायः।

> जह रयणाणं पवरं वज्जं जह तरुगणाण गोसीरं।
> तह धम्माणं पवरं जिणधम्मं भावि भवमहणं ॥ ८० ॥
>
> यथा रत्नानां प्रवरं वज्रं यथा तरुगणानां गोशीरम्।
> तथा धर्माणां प्रवरं जिनधर्मं भावय भवमथनम् ॥

जह रयणाणं पवरं यथा येन प्रकारेण रत्नानां मध्ये प्रवरं उत्तमं रत्नं किं वज्रं हीरक षट्कोण मौक्तिकगोमेदपुष्परागपुलकप्रवालचन्द्रकान्तरविकान्तजलकान्तहसगर्भमसारगर्भरुचकवराराशेन्द्रनीलमहानीलनील- मरकतवैडूर्यलशुनकर्केतनेत्यादीनां रत्नानां मध्ये वज्रं हीरकं हि सर्वोत्तम तस्य देवाधिष्ठितत्वात्। जह तरुगणाण गोसीरं तरुगणानां मध्ये यथा गोशीर्षं तैलपर्णिक परमोत्तमचन्दनं प्रवरं। तह धम्माणं पवरं तथा धर्माणां मध्ये जिनधर्मं प्रवरं। हे मुने! त्वं भावि भवमहणं भावय रोचय भवमथनं संसारविच्छेदकम्।

तं धम्मं केरिसं हवदि तं तहा—

॥ धर्मः कीदृशो भवति तद्यथा—तमेव निरूपयन्ति श्रीकुन्दकुन्दाचार्याः—

पूयादिसु वयसहियं पुण्णं हि जिणेहि सासणे भणियं।
मोहक्खोहविहीणो परिणामो अप्पणो धम्मो ॥ ८१ ॥

पूजादिषु व्रतसहितं पुण्यं हि जिनैः शासने भणितम्।
मोहक्षोभविहीनः परिणाम आत्मनो धर्मः ॥

पूयादिसु वयसहियं पूजादिषु व्रतसहितं पूजा आदिर्येषां कर्मणां तानि पूजादीनि तेषु पूजादिषु व्रतसहितं श्रावकव्रतसहितं। **पुण्णं हि जिणेहि सासणे भणियं** पुण्यं स्वर्गसौख्यदायकं कर्म जिनैस्तीर्थंकरपरमदेवैः परकेवलिभिश्च हि स्फुटं शासने आर्हतमते उपासकाध्ययननाम्न्यङ्गे भणितं कर्तृतया प्रतिपादितं—इदं कर्म करणीयमित्यादिष्टं। तथा चोक्तं जिनसेनपादैः —

पुण्यं जिनेन्द्रचरणार्चनसाध्यमाद्यं
पुण्यं सुपात्रगतदानसमुत्थमेतत्।
पुण्यं व्रतानुचरणादुपवासयोगात्
पुण्यार्थिनामिति चतुष्टयमर्जनीयम् ॥ १ ॥

तथा समन्तभद्रस्वाम्याचार्यैरप्यभिहितं—

देवाधिदेवचरणे परिचरणं सर्वदुःखनिर्हरणं।
कामदुहि कामदाहिनि परिचिनुयादादृतो नित्यं ॥ १ ॥
अर्हच्चरणसपर्या महानुभावं महात्मनामवदत्।
भेकः प्रमोदमत्तः कुसुमेनैकेन राजगृहे ॥ २ ॥

यदीदं सर्वज्ञवीतरागपूजालक्षणं तीर्थंकरनामगोत्रबन्धकारणं विशिष्टं निर्निदानं पुण्यं पारम्पर्येण मोक्षकारणं गृहस्थानां श्रीमद्भिर्भणितं तर्हि साक्षान्मोक्षहेतुभूतो धर्मः क इत्याह—**मोहक्खोहविहीणो परिणामो अप्पणो धम्मो** मोहः पुत्रकलत्रमित्रधनादिषु ममेदमिति भावः, क्षोभः परीषहोपसर्गनिपाते चित्तस्य चलनं ताभ्यां विहीनो रहितः मोहक्षोभ-

विहीन एव गुणविशिष्ट आत्मन शुद्धबुद्धैकस्वभावस्य चिच्चमत्कारलक्षणश्चिदानन्दरूप परिणामो धर्म इत्युच्यते। स परिणामो गृहस्थाना न भवति पचसूनासहितत्वात्। तथा चोक्त—

> खण्डनी पेषणी चुल्ली उदकुम्भः प्रमार्जनी।
> पचसूना गृहस्थस्य तेन मोक्ष न गच्छति ॥ १ ॥

यदि मोक्ष न गच्छति तदा जिनसम्यक्त्वपूर्वक दानपूजादिलक्षण विशिष्टगुणमुपार्जन् गृहस्थ स्वर्गं गच्छति परपरया जिनलिंगेन मोक्षमपि प्राप्नोति।

इति पुण्यधर्मयो स्वरूपमुक्त्वेदानीं निर्विकल्पसमाधिलक्षण कर्मक्षयकारण कथयन्ति भगवन्त —

सद्दहदि य पत्तेदि य रोचेदि य तह पुणो वि फासेदि।
पुण्णं भोयनिमित्त ण हु सो कम्मक्खयनिमित्त ॥ ८२ ॥

> श्रद्दधाति च प्रत्येति च रोचते च तथा पुनरपि स्पृशति।
> पुण्य भोगनिमित्त न हु तत् कर्मक्षयनिमित्तम् ॥

सद्दहदि य श्रद्दधाति च तत्र विपरीताभिनिवेशरहितो भवति। **पत्तेदि य** प्रत्येति च मोक्षहेतुभूतत्वेन यथावत्त प्रतिपद्यते। **रोचेदि य** रोचते च मोक्षकारणतया तत्रैव रुचिं करोति। **तह पुणो वि फासेदि** मोक्षार्थितया तत्साधनतया स्पृशति अवगाहयति। **पुण्णं भोयनिमित्त** एत पूजादिलक्षण पुण्य मोक्षार्थितया क्रियमाण साक्षाद्भोगकारण स्वर्गस्त्रीणामालिंगनादिकारण तृतीयादिभवे मोक्षकारण निग्रन्थलिंगेन। **ण हु सो कम्मक्खयनिमित्त** न भवति हु—स्फुट निश्चयेन साक्षात्तद्भवे गृहस्थलिंगेन कर्मक्षयनिमित्त—तद्भवे केवलज्ञानपूर्वकमोक्षनिमित्त पुण्य न भवतीति ज्ञातव्य।

अप्पा अप्पम्मि रओ रायादिसु सयलदोसपरिचत्तो।
संसारतरणहेदुं धम्मोत्ति जिणेहिं णिद्दिट्ठं ॥ ८३॥

आत्मा आत्मनि रत रागादिषु सकलदोषपरित्यक्त ।
ससारतरणहेतु धर्म इति जिनै निर्दिष्ट ॥

अप्पा अप्पम्मि रओ आत्मा अत सातत्यगमने अतत्यूर्ध्वं अव्या-स्वभावेनोर्ध्वमेव गच्छतीत्यात्मा शुद्धबुद्धैकस्वभाव आत्मनि रतो निज-शुद्धबुद्धैकस्वभावे एकलोलीभावभूत । **रायादिसु सयलदोसपरिचत्तो** रागादिषु रागादिभ्य सकलदोषपरित्यक्त रागद्वेषमोहलोभादिसकलदो-परहित इत्यर्थ । **संसारतरणहेदुं** ससारस्य तरणहेतु कारणभूत । **धम्मोत्ति जिणेहि णिद्दिट्ठं** धर्म इति जिनैर्निर्दिष्ट प्रतिपादित जिनपू-जादिक पुण्यमिति शेष । तेन कारणेन जिनपूजादिषु द्वेषो न कर्तव्य । उक्त च योगीन्द्रदेवै —

देवह सत्थहं मुणिवरह जो विद्देसु करेइ।
नियमें पाउ हवेइ तसु जें ससारु भमेइ ॥ १ ॥

अस्य दोहकस्याय भाव —देवशास्त्रगुरूणा प्रतिमासु निषेधिकादि-षु च पुष्पादिभि पुजादिषु च लौंका द्वेष कुर्वन्ति तेषा पापं भवति तेन पापेन ते नरकादौ पतन्तीति ज्ञातव्य ।

अह पुण अप्पा णिच्छदि पुण्णाइं करेदि निरवसेसाइं ।
तह वि ण पावदि सिद्धिं संसारत्थो पुणो भणिदो ॥ ८४॥

अथ पुन आत्मान नेच्छति पुण्यानि करोति निरवशेषाणि ।
तथापि न प्राप्नोति सिद्धिं संसारस्थ पुनर्भणित ॥

अह पुण अप्पा णिच्छदि अथ पुनरात्मान नेच्छति न भावयति । **पुण्णाइं करेदि निरवसेसाइं** पुण्यानि करोति निरवशेषाणि पूजादाना-

१ देवेभ्य शास्त्रेभ्य मुनिवरेभ्य यो विद्वेष करोति ।
नियमेन पाप भवति तस्य येन ससारे भ्राम्यति ॥ १ ॥

दीनि सर्वाणि भागाकाक्षानिदानख्यातिपूजालाभादिकमभिलाषुकतया करोति विदधाति पर जिनसम्यक्त्वेनान्त शू या निर्विवेक बहिरात्मा जीव । तह वि ण पावदि सिद्धिं तथापि नानापुण्यानि कुर्वन्नपि जीवो न प्राप्नोति न लभते, का ? सिद्धिं आत्मोपलब्धिलक्षणां मुक्तिमिति–जिनसम्यक्त्वरहितो दूरभव्योऽभव्यो वा स ज्ञातव्य इत्यर्थ । यदि सिद्धिं न प्राप्नोति तर्हि कीदृशो भवति ? संसारत्थो पुणो भणिदो संसारस्थोऽनन्तससारी पुनर्भणित आगमे प्रतिपादित ।

एएण कारणेण य त अप्पा सद्दहेह तिविहेण।
जेण य लहेह मोक्खं तं जाणिज्जह पयत्तेण ॥ ८५ ॥

एतेन कारणेन च तमात्मान श्रद्धत्त त्रिविधेन।
येन च लभध्व मोक्ष त जानीत प्रयत्नेन ॥

एएण कारणेण य एतेन कारणेन चात्मनो मोक्षहेतुत्वेन । तं अप्पा सद्दहेह तिविहेण तमात्मान श्रद्धत्त तत्र विपरीताभिनिवेशरहिता भवत यूय त्रिविधेन मनोवचनकाययोगप्रकारेण । जेण य लहेह मोक्खं येन च कारणेनात्मश्रद्धानहेतुना लभध्वं मोक्ष सर्वकर्मप्रक्षयलक्षण मोक्षं प्राप्नुत यूय । तं जाणिज्जह पयत्तेण तमात्मान जानीत ज्ञानगुणेन भेदज्ञानेन बुध्यध्व यूय, प्रयत्नेन चारित्रगुणैकलोलीभाव तया तत्र तिष्ठत यूय ।

मच्छो वि सालिसित्थो असुद्धभावो गओ महानरय।
इय णाउं अप्पाणं भावह जिणभावणा णिच्चं ॥ ८६ ॥

मत्स्योऽपि शालिसिक्थोऽशुद्धभावो गत महानरकम् ।
इति ज्ञात्वा आत्मान भावय जिनभावनं नित्यम् ॥

मच्छो वि सालिसित्थो मत्स्योऽपि मीनजातिरल्पजाय तन्दुल सिक्थप्रमाणशरीरत्वान्नाम्ना शालिसिक्थ । असुद्धभावो गओ महा-

नरयं अशुद्धभाव सन् गत प्राप्त महानरक सप्तम नरक गत । **इय णाउं अप्पाणं** इति ज्ञात्वात्मान शुद्धबुद्धैकस्वभावरूप टंकोत्कीर्ण-स्फटिकविबोपम चिच्चमत्कारलक्षण मुक्तिगतसिद्धसमान शुद्धनिश्चयनयेन सिद्ध ज्ञायकैकस्वभाव हे जीव ! हे आत्मन् ! । **भावहि जिण-भावणा णिच्च** भावय त्व भावनाविषय कुरु इय जिनभावनाति ज्ञात्वा, अथवा जिनभावना जीवादिसप्ततत्त्वश्रद्धान च नित्य सर्वकाले भावय रोचस्व तस्मादिति अपध्यान परिहृत्य अन्तस्तत्त्व बहिस्तत्त्व चाश्रयेति भावार्थ । किं तदपध्यान ?—

> वधबन्धच्छेदादे रागाद्द्वेषाच्च परकलत्रादेः ।
> आध्यानमपध्यान शासति जिनशासने विशदाः ॥ १ ॥
> "पदस्थ मन्त्रवाक्यस्थ पिण्डस्थ स्वात्मचिन्तन ।
> रूपस्थ सर्वचिद्रूप रूपातीत निरञ्जन ॥"

इति यथोक्त चतुर्विध ध्यान भावय हे जीव ! ।

अथ शालिसिक्थमत्स्यकथा यथा—श्रीपुष्पदन्तजिनजन्मभूमौ काकन्दी-पुरे श्रावककुलजन्मा सौरसेनो राजा बभूव । सकलधर्मानुरोधेन मासव्रत जग्राह । पुनर्वैदवचरद्रमतमोहितमति मासभक्षणमति सजार , अङ्गी-कृतवस्तुनिर्वाहनकारणाल्लोकापवादाच्च मासं जुगुप्समान मनोविश्राम हेतु कर्मप्रियनामकेतुं सूपकार स्वाङ्गयैकान्ते निजाभिलाप तमजिज्ञपत् । निर्लेचरं स्थलचर जलचरनानाना मासमानायमपि अनेकराजकार्या-कुलचित्ततया मासभक्षणावसर न प्राप । कर्मप्रियोऽपि नृपादेशं वह निशं कुर्वन्नेकदा सर्पबालकेन दष्टो मृत स्वयम्भूरमणसमुद्रे महामत्स्यो बभूव । भूप सौरसेनोऽपि चिरकालेन मृत्वा मांसभक्षणाद्यायानुबन्धा

१ द्वेषाद्रागाच्चेति पाठान्तरमन्यत्र । २ म. टी ।

त्तस्मिन्नेव समुद्रे तस्यैव महामत्स्यस्य कर्णविलमलाशनशीलः शालिसिक्थप्रमाणशरीरो मत्स्यो बभूव। तदन्वेष पर्याप्तद्रव्यभावेन्द्रियः तस्य महामत्स्यस्य मुखं व्यादाय निद्रायतो वेलानदीप्रवाहे इव गलगुहानेकजलचरसमूहं प्रविश्य निष्क्रामन्तं निरीक्ष्य शालिसिक्थश्चिन्तयति—अयं पापकर्मा महामत्स्यो निर्भाग्यो यन्मुखे पतन्त्यपि यादांसि भक्षितुं न शक्नोति। मम दैवेनैतावच्छरीरं यदि भवति तदा सकलमपि समुद्रं सत्वसंचाररहितं करोमीति चेतश्चिन्ताबलात्क्षुद्रमत्स्यो निखिलनक्रचक्रभक्षणपापाच्च महामत्स्योऽपि द्वावपि मृत्वा सप्तमनरके संजातौ। तत्त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमायुषौ तौ द्वावपि परस्परगालापं चक्रतुः। अहो क्षुद्रमत्स्य! महापापकर्मणो ममात्रागमनं सगच्छत एव। त्वं मत्कर्णमलाजीवनः कथमत्रागतः। शालिसिक्थचरनारक प्राह—महामत्स्यचेष्टितादपि दुरन्तदुःखं (ख) सबन्धनाद्दुर्भावनावशात्।

इति श्रीभावप्राभृते शालिसिक्थमत्स्योपाख्यान समाप्त।

बाहिरसंगच्चाओ गिरिसरिदरिकंदराइ आवासो।
सयलो णाणज्झयणो निरत्थओ भावरहियाणं॥ ८७॥

बाह्यसङ्गत्यागः गिरिसरिद्दरीकन्दरादावासः।
सकलं ज्ञानाध्ययनं निरर्थकं भावरहितानाम्॥

बाहिरसंगच्चाओ बाह्यसंगत्यागः निरर्थक इति सम्बन्धः। **गिरिसरिदरिकंदराइ आवासो** गिरौ आवासः पर्वतोपरि आतापनयोगः पर्वते स्थितिर्वा, सरित्—नदीतटे तपश्चरणं भगीरथवत्, दरी गुहायामावासः, कन्दरो गिर्यादिविवरं तत्रावासः, आदिशब्दात् श्मशानोद्यानादौ आवासः स्थितिः। **सयलो णाणज्झयणो** सकलं वाचनापृच्छनानुप्रेक्षाम्नायधर्मोपदेशलक्षणं ज्ञानाध्ययनं शास्त्रपठनं। **निरत्थओ भावरहि-**

याणं भावरहिताना जिनसम्यक्त्वविवर्जिताना निजशुद्धबुद्धैकस्वभावा-त्मभावनाऽप्रच्युताना यतीना (निरर्थक)। उक्त च—

बाह्यग्रन्थविहीना दरिद्रमनुजा स्वभावत सन्ति।
यः पुनरन्तःसङ्गत्यागी लोके स दुर्लभो जीव ॥ १ ॥

भंजसु इंदियसेणं भंजसु मणमक्कडं पयत्तेण।
मा जणरंजणकरणं बाहिरवयवेस तं कुणसु ॥ ८८ ॥

भङ्ग्धि इन्द्रियसेनां भङ्ग्धि मनोमर्कट प्रयत्नेन।
मा जनरञ्जनकरण बहिर्व्रतवेष ! त्व कार्षी ॥

भंजसु इंदियसेणं त्व भङ्ग्धि, का ? इन्द्रियसेना। **भंजसु मणमक्कडं पयत्तेण** भञ्जसु त्व भङ्ग्धि आमर्दय विषयकषायेभ्यो गच्छन्त निरुणद्धि, क ? मणमक्कड—मनोमर्कट चपलस्वभावत्वात् मन एव मर्कटस्त मनोवानर प्रयत्नेन स्त्रीसंगपरित्यागात्। **मा जणरंजणकरणं** मा नैव जनाना लोकाना रजनकरण अनुरागोत्पादक कार्य। हे **बाहिरवयवेस** बहिर्व्रतवेष ! हे बाह्याकारदीक्षाविहोद्वाहक !। **तं** त्व। **मा कुणसु** मा कार्षी।

णवणोकसायवग्गं मिच्छत्तं चयसु भावसुद्धीए।
चेइयपवयणगुरुणं करेहि भत्तिं जिणाणाए ॥ ८९ ॥

नवनोकषायवर्गं मिथ्यात्व त्यज भावशुद्ध्या।
चैत्यप्रवचनगुरूणां कुरु भक्तिं जिनाज्ञया ॥

णवणोकसायवग्गं नवनोकषायवर्गं हास्यरत्यरतिशोकभयजुगुप्सा-स्त्रीपुनपुसकवेदलक्षणान् नोकषायान् ईषत्कषायान् यथाख्यातचारित्रघा-तकान्। चयसु त्यजेति सबन्ध। तथा **मिच्छत्तं चयसु भावसुद्धीए** मिथ्यात्व पचप्रकार चयसु-त्यज—

पयंत बुद्धदरिसी विवरीओ बंभ तावसो विणओ।
इंदो वि य संसयिदो मक्कडिओ चेव अण्णाणी ॥ १ ॥

एकान्तेन क्षणिकैकान्तेन मोक्षं बौद्धो वदति । विपरीतेन हिंसया मोक्षं बंभ-ब्राह्मणो वदति। तापसो विनयेन मोक्षं वदति। इन्द्र इन्द्रचन्द्रनागेन्द्रगच्छः संशयेन मोक्षं मन्यते। अपिचशब्दाद्गोपुच्छिको द्राविडो यापनीयाभिधो निष्पिच्छश्च संशयमोक्षो ज्ञातव्यः । मस्करपूरणो मार्कटिकोऽज्ञानान्मोक्षं मन्यते । एतन्महापातकं मिथ्यात्वपंचकं त्यज-त्यज हे जीव । त्वं । तथा च समन्तभद्रः प्राह—

न सम्यक्त्वसमं किंचित् त्रैकाल्ये त्रिजगत्यपि ।
श्रेयोऽश्रेयश्च मिथ्यात्वसमं नान्यत्तनूभृताम् ॥ १ ॥

भावसुद्धीए-तत्वार्थश्रद्धानलक्षणया भावशुद्ध्या जिनसम्यक्त्वेन लौकपापसभापणसंगमपरिहारेण शुद्धबुद्धैकस्वभावात्मरुचिपरिणामेनेति भावार्थः । चेइयपवयणगुरुणं चैत्यानां अर्हत्सिद्धप्रभृतिप्रतिमानां प्रवचनस्य जिननाथसूत्रस्य तथेति मस्तकोपर्यारोपणेन सरस्वतीप्रतिमापूजनेन गुरूणा निर्ग्रन्थदिगम्बराणां भव्यजीवभक्तजनविनेयमातृपितृसदृशहितोपदेशकानां । करेहिं भत्ति जिणाणाए कुरु त्वं भक्तिं पंचामृतजलेक्षुरसदधिगवीनगोमहिषीक्षीरगन्धोदककलशस्नपनेन जलचन्दनाक्षतपुष्पचरुदीपधूपफलार्घदानेन स्तवनेन जपेन ध्यानेन श्रुतदेवताराधनेन नित्यं प्रातरुत्थाय सर्वज्ञवीतरागप्रतिमासर्वाङ्गावलोकने भक्तिं कुरु, तथा श्रुतभक्तिं श्रुतोक्तप्रकारेण कुरु, तथा गुरूणां पादमर्दनेन वैयावृत्ययथासंभवाहारदानश्रुतसमर्पणौषधप्रदानवसत्यर्पणाभयदानादिभिर्यथायोग्यं भक्तिं कुरु । एतत्सर्वं भक्तिलक्षणं कर्म जिनाज्ञया महापुराणश्रवणेन त्वं कुरु हे जीव । स्वर्गं मोक्षं च प्राप्स्यसि । लौकानां महापातकिना वचनं मा मानयस्व ।

तित्थयरभासियत्थं गणहरदेवेहिं गंथियं सम्मं ।
भावहि अणुदिणु अतुलं विसुद्धभावेण सुयणाणं ॥ ९० ॥

तीर्थंकरभाषितार्थं गणधरदेवैः ग्रन्थितं सम्यक् ।
भावय अनुदिनं अतुलं विशुद्धभावेन श्रुतज्ञानम् ॥

तित्थयरभासियत्थं तीर्थकरेण श्रीमद्भगवदर्हत्सर्वज्ञवीतरागेण भाषितः कथितोऽर्थो यस्य श्रुतज्ञानस्य तत्तीर्थकरभाषितार्थं । **गणहरदेवेहिं गंथियं सम्मं** गणधरदेवैर्गौतमस्वाम्यादिभिर्ग्रन्थितं द्वादशाधिकशतकोटित्र्यशीतिलक्षाष्टापंचाशत्सहस्रपंचाधिकपदैरानीतमिति प्रग्रन्थितं । चतुर्दशप्रकीर्णकैरप्यानीतं श्रुतज्ञानं । **सम्मं** सम्यक्प्रकारेण पूर्वापरविरोधरहितं । **भावहि** भावय । **अणुदिणु** अनुदिनमहर्निशं। **अतुलं** अनुपमं। **विसुद्धभावेण सुयणाणं** चलमलिनपरिणामरहिततया। एकस्य पदस्य श्लोका यथा—५१०८८४६२१ अक्षर १६ । उक्तं च श्रुतस्कन्धशास्त्रे—

पणयणकोडीओ लक्खा अट्ठेव सहस्सचुलसीदी ।
सयछक्कं णायव्वं सड्ढाइगवीसपयगंथा ॥ १ ॥

पाऊण णाणसलिलं णिम्महतिसडाहसोसउम्मुक्का ।
हौंति सिवालयवासी तिहुवणचूडामणी सिद्धा ॥ ९१ ॥

प्राप्य ज्ञानसलिलं निर्मथ्यतृषादाहशोषोन्मुक्ताः ।
भवन्ति शिवालयवासिनः त्रिभुवनचूडामणयः सिद्धाः ॥

पाऊण णाणसलिलं प्राप्य लब्ध्वा, किं ? ज्ञानसलिलं सम्यग्ज्ञानपानीयं सिद्धा भवन्तीति सम्बन्धः । कथंभूताः सिद्धाः, **णिम्महतिसडाहसोसउम्मुक्का** निर्मथ्या मथयितुमशक्या स चासौ तृषा विषयाभिलाषः दाहश्च शरीरपरिसन्तापः शोषश्च रसादिहानिः निर्मथ्यतृषादाहशोषाः तैरु-

१ एकपंचाशत्कोट्यः लक्षा अष्टावेव सहस्रचतुरशीतिः ।
शतषट्कं ज्ञातव्यं सार्धैकविंशतिपदग्रन्थाः ॥ १ ॥

न्मुक्ता परित्यक्ता निर्मथतृड्दाहशोषोन्मुक्ता । **णिम्मलसुविसुद्धभावसंजुत्ता** इति च क्वचित्पाठ तत्रायमर्थ —निर्मलो द्रव्यकर्मभावकर्मनो कर्मरहित योऽसौ सुविशुद्धभाव कर्ममलकलङ्करहित क्षायिको भाव परिणाम निष्केवल आत्मा वा तेन संयुक्ता सहिता निर्मलसुविशुद्धभावसंयुक्ता । **होंति सिवालयवासी** भवन्ति संजायन्ते, के त? आसन्नभव्यजीवा, कीदृशा संजायन्ते? शिवालयवासिन ईषत्प्राग्भारनाम्न्या शिलाया वसन्तीति मुक्तिशिलोपरि तिष्ठन्तीत्येवं शीला शिवालयवासिन, अथवा शिवाना सिद्धानामालय शिवालय पचचत्वारिंशल्लक्षयोजनविस्तारमुक्तिशिलाया उपरि तनुवातनामवातवलये निराधारा आकाशे तिष्ठन्तीतिभाव । पुन कथभूता सिद्धा, **तिहुवणचूडामणी** त्रैलोक्यशिरोरत्नसदृशा ।

दस दस दो सुपरीसह सहहि मुणी सयलकाल काएण ।
सुत्तेण अप्पमत्ता संजमघादं पमोत्तूण ॥ ९२ ॥

दश दश द्वौ सुपरीषहान् सहस्व मुने ! सकलकाल कायेन ।
सूत्रेण अप्रमत्ता सयमघात प्रमुच्य ॥

दस दस दो दश च पुनर्दश च द्वौ च द्वाविंशतिरित्यर्थ । के ते, **सुपरीसह** सुष्ठुअतिशयेन परिसमन्तात् सह्यन्ते ये ते सुपरीषहा "मार्गाच्यवननिर्जरार्थं परिसोढव्या परीषहा" ते तु पूर्वोक्तवर्णना ज्ञातव्या । **सहहि** सहस्व। **मुणी** हे मुने! हे! तपस्विन्!। **सयलकाल** सकलकाले सर्वकाल, कायेन–शरीरेण वाङ्मनश्चात्मनि स्थाप्यते इति भाव । **सुत्तेण** सूत्रेण जिनवचनेन कृत्वा । किं तज्जिनवचन ?—

१ न केवल इति स । २ म टी । ३ दसदस दो सुपरीसह सहति स ।
४ हले क ।

"मार्गाच्यवननिर्जरार्थं परिसोढव्याः परीषहाः"

इति। अप्पमत्ता अप्रमत्ताः प्रमादरहिता, इत्यर्थः। संजमघादं पमोत्तूण संयमस्य घातं प्रमुच्य।

जह पत्थरो ण भिज्जइ परिट्ठिओ दीहकालमुदएण।
तह साहू ण विभिज्जइ उवसग्गपरीसहेहिंतो ॥ ९३ ॥

यथा प्रस्तरो न भिद्यते परिस्थितो दीर्घकालं उदकेन।
तथा साधुर्न विभिद्यते उपसर्गपरीषहेभ्यः ॥

जह पत्थरो ण भिज्जइ यथा प्रस्तरः पाषाणो न विभिद्यते न परिणमति अन्तरार्द्रो न भवति। परिट्ठिओ दीहकालमुदएण पाषाणः कथंभूतः, परिस्थितः बुडितः उदके इति सौत्रसम्बन्धात्। कथं परिस्थितः, दीर्घकालं प्रचुरकालं, केन न विभिद्यते? उदकेन वारिणा। तह साहू ण विभिज्जइ तथा साधुर्मुनी रत्नत्रयसाधकः सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रमण्डितो न विभिद्यते नान्तःक्षुभितो भवति। उवसग्गपरीसहेहिंतो देवमानवतिर्यगचेतनोपद्रवेभ्य उपसर्गेभ्यः परीषहेभ्यः क्षुधापिपासादिभ्यो द्वाविंशतेरपि। "सुन्तो हिन्तो हि दु दो त्तो भ्यसः" इति प्राकृतव्याकरणसूत्रेण पञ्चमीबहुवचनभ्यसः स्थाने हिंतो आदेशः। ङसिस्थाने च "लुक्च हिंतो हि दु दो त्तो ङसेः" इति सूत्रेण भवति। "व्याख्यानतो विशेषप्रतिपत्तिर्न हि सन्देहादलक्षणं" इति परिभाषयाऽत्र बहुवचनस्य भ्यसो हिन्तो आदेशो ज्ञातव्य इति।

भावहि अणुवेक्खाओ अवरे पणवीसभावणा भावि।
भावरहिएण किं पुण बाहिरलिंगेण कायव्वं ॥ ९४ ॥

---

१ "दीवृसहोऽहेऽसो" इति शाकटायनीयेन "सोढः" इति जैनेन्द्रीयेण पाणिनीयेन च सूत्रेण षत्वनिषेधः।

भावय अनुप्रेक्षा अपराः पञ्चविंशतिभावना भावय ।
भावरहितेन किं पुन बहिर्लिङ्गेन कार्यम् ॥

भावहि अणुवेक्खाओ भावय पुनः पुनश्चिन्तय अनुप्रेक्षा अनित्यादीः । **अवरे पणवीसभावणा भावि** अपराः पंचविंशतिभावना भावय । **भावरहिएण किं पुण** भावरहितेन पुनः किं—न किमपि इत्याक्षेपः । **बाहिरलिंगेण कायव्वं** बहिर्लिंगेन नग्नवेषेण किं साध्यं कर्मक्षयशून्यमिद ।

सव्वविरओ वि भावहि णवयपयत्थाइं सत्ततच्चाइं ।
जीवसमासाइं मुणी चउदसगुणठाणणामाइं ॥ ९५ ॥

सर्वविरतोपि भावय नवकपदार्थान् सप्ततत्वानि ।
जीवसमासान् मुने ! चतुर्दशगुणस्थाननामानि ॥

सव्वविरओ वि भावहि सर्वविरतोऽपि हे जीव ! त्वं महाव्रत्यपि सन् भावय । **णवयपयत्थाइं सत्ततच्चाइं** नवपदार्थान् जीवाजीवास्रवबन्धसंवरनिर्जरामोक्षपुण्यपापपदार्थान् । चेतनालक्षणो जीवः । पुद्गलधर्माधर्मकालाकाशा अजीवाः । आत्मप्रदेशेषु कर्मपरमाणव आगच्छन्ति स आस्रवो मिथ्यात्वाविरतिप्रमादकषाययोगरूपः । आत्मप्रदेशेषु आस्रवानन्तरं द्वितीयसमये कर्मपरमाणवः श्लिष्यन्ति स बन्धः प्रकृतिस्थित्यनुभागप्रदेशभेदाच्चतुर्विधः । आस्रवस्य निरोधः संवर उच्यते । स संवरः से गुप्तिसमितिदशधर्मानुप्रेक्षापरीषहजयचारित्रैर्भवति । तपसा निर्जरा च भवति संवरश्च भवति । सर्वकर्मक्षयो मोक्षः कथ्यते । ऐते नवपदार्थाः, एतेषां विस्तर आगमाद्वेदितव्यः । सप्ततत्वानि पुण्यपापरहितानि ज्ञातव्यानि । .

१ पुस्तकद्वयेऽपि सशब्दो वर्तते ।
२ पुस्तकद्वयेऽपि पुण्यपापयोर्लक्षणं नास्ति तदनेन प्रकारेण ज्ञेयं । पुनात्यात्मानं तत्पुण्यं । पाति रक्षति अस्मादात्मानं तत्पापं ।

जीवसमासाइं मुणी हे मुने ! जीवसमासान् चतुर्दशसङ्ख्यान् त्वं भावय। अथ के ते चतुर्दशजीवसमासा इति चेत्?[1]—

बादरसुहमेगिंदिय बितिचउरिंदिय असण्णि सण्णी य।
पज्जत्त पज्जत्ता भूदा इय चोद्दसा होंति ॥ १ ॥

विस्तरभेदैर्जीवसमासा अष्टानवतिर्भवन्ति। तत्रेयं गाथा—

थावर बेयालीसा दो सुर दो णरय तिरिय चउतीसा।
नव विउले नव मणुए अडणउदी जीवठाणाणि ॥ १ ॥

अस्या विवरणं[2]—पृथ्वीकायिकसूक्ष्म बादर पर्याप्त-अपर्याप्त-लब्ध्यपर्याप्त ६। तथा अप् ६। तेज ६। वायु ६। एवं २४। वनस्पतिकायिकभेद २ प्रत्येक-साधारण। साधारणभेद १२ नित्यनिगोद सूक्ष्म बादर पर्याप्त-अपर्याप्त-लब्ध्यपर्याप्त ६ तथा इतरनिगोद-सूक्ष्म बादर पर्याप्त-अपर्याप्त-लब्ध्यपर्याप्त ६ एवं १२। प्रत्येकभेद ६ सुप्रतिष्ठितप्रत्येक वाटिकादौ, अप्रतिष्ठिता स्वयमेव ते च पर्याप्त-अपर्याप्त-लब्ध्यपर्याप्त। एवं थावरबेयालीसा। सुरभेद २ पर्याप्त—अपर्याप्त। नारकभेद २ पर्याप्त—अपर्याप्त। पंचेन्द्रियतिर्यग्भेद ३४। जलचरभेद २ गर्भज-सम्मूर्च्छन। गर्भजभेद २ पर्याप्त—अपर्याप्त। सम्मूर्च्छनभेद पर्याप्त—अपर्याप्त—लब्ध्यपर्याप्त ५। तथा नभश्चर ५। स्थलचर ५। एवं १५ संज्ञिभेदा। तथा १५ असंज्ञिभेदा। भोगभूमिजतिर्यग्भेद ४ जलचर पर्याप्त—अपर्याप्त। नभश्चर पर्याप्त—अपर्याप्त। एवं ४। एवं पंचेन्द्रियतिर्यग्भेद ३४। विकलत्रयभेद ९। द्वीन्द्रियपर्याप्त-अपर्याप्त-लब्ध्यपर्याप्त, त्रीन्द्रियपर्याप्त अपर्याप्त-लब्ध्यपर्याप्त, चतुरिन्द्रियपर्याप्त-अपर्याप्त-लब्ध्यपर्याप्त। एवं ९। मनुष्य

१ बादरसूक्ष्मैकेन्द्रियद्वित्रिचतुरिन्द्रियासंज्ञिसंज्ञिन।
पर्याप्तापर्याप्ता भूता इति चतुर्दश भवन्ति ॥ १ ॥

२ विवरणमिदं पुस्तकानुसारि।

भेद ९ भोगभूमिजभेद २ पर्याप्त-अपर्याप्त, कुभोगभूमिजमनुष्य पर्याप्त-अपर्याप्त, म्लेच्छखण्डमनुष्य पर्याप्त-अपर्याप्त, आर्यखण्डमनुष्य पर्याप्त-अपर्याप्त-लब्ध्यपर्याप्त। एवं भेद ९। एवं जीवसमासा अष्टानवति।

चउदसगुणठाणाणामाइं चतुर्दशगुणस्थाननामानि। यथा—

मिच्छो सासण मिस्सो अविरदसम्मो य देसविरदो य।
विरदा पमत्त इयरो अपुव्व अणियट्टि सुहमो य॥ १॥
उवसंत खीणमोहो सजोगकेवलिजिणो अजोगी य।
चउदसगुणट्ठाणाणि य कमेण सिद्धा मुणेअव्वा॥ २॥

मिथ्यात्वगुणस्थानं (१) सासादनगुणस्थानं (२) मिश्रगुणस्थानं (३) अविरतसम्यग्दृष्टिगुणस्थानं (४) देशविरतगुणस्थानं (५) प्रमत्तसंयतगुणस्थानं (६) अप्रमत्तसंयतगुणस्थानं (७) अपूर्वकरणगुणस्थानं (८) अनिवृत्तिकरणगुणस्थानं (९) सूक्ष्मसाम्परायगुणस्थानं (१०) उपशान्तकषायगुणस्थानं (११) क्षीणकषायगुणस्थानं (१२) सयोगकेवलिगुणस्थानं (१३) अयोगकेवलिगुणस्थानं (१४) चेति। चतुर्दशगुणस्थानानां विवरणमागमाद्वेदितव्यं। तानि त्वं हे जीव! भावय-रुचिमानय-श्रद्धानं कुर्विति।

णवविहबंभं पयडहि अब्बंभं दसविहं पमोत्तूण।
मेहुणसण्णासत्तो भमिओसि भवण्णवे भीमे॥ ९६॥

नवविधब्रह्मचर्यं प्रकटय अब्रह्म दशविधं प्रमुच्य।
मैथुनसंज्ञासक्त भ्रमितोसि भवार्णवे भीमे॥

णवविहबंभं पयडहि नवविधं नवप्रकारं ब्रह्मचर्यं हे जीव! त्वं प्रकटय सर्वकालमात्मप्रत्यक्षं कुरु। मनोवचनकायानां प्रत्येकं कृतकारितानुमतानि त्रीणि त्रीणीति नवविधं ब्रह्मोच्यते। अथवा—

१ अनयो छाया पूर्वं गता।

इंत्थिविसयाहिलासो अंगविमोक्खो य पणिदरससेवा ।
संसत्तदव्वसेवा तहिंदियालोयणं चेव ॥ १ ॥
सक्कारपुरक्कारो अतीदसुमरणमणागदहिलासो ।
इट्ठविसयसेवा वि य नवभेदमिदं अबंभं तु ॥ २ ॥

इति नवभेदमब्रह्म तद्वर्जनं नवभेदं ब्रह्मचर्यं ज्ञातव्यमित्यर्थः। **अब्बंभं दसविहं पमोत्तूण** अब्रह्मचर्यं दशविधं प्रमुच्य परिहृत्य। किं तद्दशविधमब्रह्मेति चेत् ?—

चिन्ता दिदृक्षा निःश्वासो ज्वरो दाहो रुचिस्तथा।
मूर्च्छोन्मत्तोऽसुसन्देहो मरणं दशधा स्मरः ॥ १ ॥

मेहुणसण्णासत्तो मैथुनस्य कमनीयकामिन्या आलिङ्गनचुम्बनचूषणादिसंज्ञायामासक्तो लंपटो हे जीव !। **भमिओसि भवण्णवे भीमे** भ्रमितोऽसि भ्रान्तोऽसि पर्यटितोऽसि छेदनभेदनादिदुःखानि भुंजानो भवार्णवे संसारसमुद्रे चतुर्गतिलक्षणे भीमे भयानके रौद्रस्वभावे, अनन्तकालं दुःखी बभूविथेति।

भावसहिदो य मुणिणो पावइ आराहणाचउक्कं च ।
भावरहिदो य मुणिवर भमइ चिरं दीहसंसारे ॥ ९७ ॥

भावसहितश्च मुनीनः प्राप्नोति आराधनाचतुष्कं च ।
भावरहितश्च मुनिवर ! भ्रमति चिरं दीर्घसंसारे ॥

भावसहिदो य मुणिणो भावेन जिनसम्यक्त्वलक्षणेन सहिदो-सहितः संहितः संयुक्तः श्रीमद्भगवदर्हत्सर्वज्ञवीतरागचरणकमलचंचरीकः, अथवा भावः पूर्वोक्तलक्षणः स्वः शुद्धबुद्धैकस्वभाव आत्मा हितो यस्य

१ स्त्रीविषयाभिलाषः अंगविमोक्षश्च प्रणीतरससेवा ।
संसक्तद्रव्यसेवा तथेन्द्रियालोकनं चैव ॥ १ ॥
सत्कारपुरस्कारः अतीतस्मरणं अनागताभिलाषः ।
इष्टविषयसेवापि च नवभेदमिदमब्रह्म तु ॥ २ ॥

यस्मै म न भावस(स)हित । चकारान्मुनिर्येषामपि भव्यजीवाना हित त्रैलोक्यलोकतारणसमर्थत्वात् । यो भावसहित स पुमान् मुणिणो–मुनीनामिन स्वामी मुनीन न मुनिर्मुनिचक्रवर्ती। पावइ आराहणाचउक्कं च प्राप्नोति लभते, किं तत् ? आराधनाचतुष्क सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रतपसामाराधकत्व प्राप्नोति। भावरहिदो य मुणिवर भावरहितश्च जिनसम्यक्त्वातीतो वेषधारी मुनि हे मुनिवर! हे मुनिश्रेष्ठ!। भमइ भ्राम्यति पर्यटति। चिर दीर्घकाल अनन्तकाल–याव त्काल सिद्धस्वामिनो मुक्तौ तिष्ठन्ति ताव पर्यन्त स मिथ्यादृष्टिर्मुनि र्भ्रमति । क ? दीहसंसारे दीर्घससारेऽनन्तभवसकटे ससारसमुद्रे मज्जनोमज्जन करोतीति भावार्थ ।

पावंति भावसवणा कल्लाणपरपराइं सोक्खाइं ।
दुक्खाइं दव्वसवणा नरतिरियकुदेवजोणीए ॥९८॥

प्राप्नुवन्ति भावश्रवणा कल्याणपरम्पराणि सुखानि ।
दु खानि द्रव्यश्रवणा नरतिर्यक्कुदेवयोनौ ॥

पावंति भावसवणा प्राप्नुवन्ति लभन्ते, के ते ? भावश्रवणा सम्यग्दृष्टयो दिगम्बरा । कल्लाणपरपराइं सोक्खाइं कल्याणाना गर्भावतारजन्माभिषेकनिष्क्रमणज्ञाननिर्वाणलक्षणा (ना) परपरा श्रेणिर्येषु सौख्येषु तानि कल्याणपरपराणि एवविधानि सौख्यानि भावश्रवणा प्राप्नुवन्ति तीर्थंकरपरमदेवा भवन्ति । दुक्खाइं दव्वसवणा दु खानि प्राप्नुवन्ति, के ते ? दव्वसवणा–द्रव्यश्रवणा जिनसम्यक्त्वरहिता नग्ना पशुसमाना दिगम्बरा इति भावार्थ । क दु खानि द्रव्यश्रवणा प्राप्नुवन्तीति चेत् ? नरतिरियकुदेवजोणीए नराश्च मनुष्या , तिर्यञ्चश्च पशव , कुत्सिता देवाश्च भावनामरा व्यन्तरा ज्योतिष्काश्च तेषा योनौ उत्पत्तिस्थाने।

---

१ चकारात् न मुनेर- इत्यादि स पाठ । पुस्तकद्वयेऽपि नकारो वर्तते स च शल्यति ।

इत्थिविसयाहिलासो अगविमोक्खो य पणिदरससेवा ।
ससत्तदव्वसेवा तहिंदियालोयण चेव ॥ १ ॥
सक्कारपुरक्कारो अतीदसुमरणमणागदहिलासो ।
इट्ठविसयसेवा वि य नवभेदमिदं अवभ तु ॥ २ ॥

इति नवभदमब्रह्म तद्वर्जन नवभेद ब्रह्मचर्य ज्ञातव्यमित्यर्थ । **अब्बं-भं दसविहं पमोत्तूण** अब्रह्मचर्य दशविध प्रमुच्य परिहृत्य । किं तद्दशविधमब्रह्मेति चेत् ?—

चिन्ता दिदृक्षा नि.श्वासो ज्वरो दाहो रुचिस्तथा ।
मूर्च्छोन्मत्तोऽसुसन्देहो मरण दशधा स्मर ॥ १ ॥

मेहुणसण्णासत्तो मैथुनस्य कमनीयकामिन्या आलिङ्गनचुम्बनचूपणादिसज्ञायामासक्ता लंपटो हे जीव ! **भमिओसि भवण्णवे भीमे** भ्रमितोऽसि भ्रान्तोऽसि पर्यटितोऽसि च्छेदनभेदनादिदु खानि भुजानो भवार्णवे ससारसमुद्रे चतुर्गतिलक्षणे भीमे भयानके रौद्रस्वभावे, अनन्तकाल दु खी बभूविथेति ।

भावसहिदो य मुणिणो पावइ आराहणाचउक्कं च ।
भावरहिदो य मुणिवर भमइ चिरं दीहसंसारे ॥ ९७ ॥

भावसहितश्च मुनीन प्राप्नोति आराधनाचतुष्क च ।
भावरहितश्च मुनिवर ! भ्रमति चिरं दीर्घसंसारे ॥

भावसहिदो य मुणिणो भावेन जिनसम्यक्त्वलक्षणेन सहिदो-सहित संहित सयुक्त श्रीमद्भगवदर्हत्सर्वज्ञवीतरागचरणकमलचञ्चरीक, अथवा भाव पूर्वोक्तलक्षण स्व शुद्धबुद्धैकस्वभाव आत्मा हितो यस्य

१ स्त्रीविषयाभिलाष अगविमोक्षश्च प्रणीतरससेवा ।
संसक्तद्रव्यसेवा तथेन्द्रियालोकन चैव ॥ १ ॥
सत्कारपुरस्कार अतीतस्मरण अनागताभिलाषः ।
इष्टविषयसेवापि च नवभेदमिदमब्रह्म तु ॥ २ ॥

यस्मै ॥ स भावस(स्त)हित । चकारात्ँ मुनिरन्येषामपि भव्यजीवाना हित त्रैलोक्यलोकतारणसमर्थत्वात् । यो भावसहित· स पुमान् मुणिणो--मुनीनामिन स्वामी मुनीन ॥ मुनिर्मुनिचक्रवर्ती। **पावइ आराहणाचउक्कं च** प्राप्नोति लभते, किं तत् ॥ आराधनाचतुष्क सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रतपसामाराधकत्वं प्राप्नोति। **भावरहिदो य मुणिवर** भावरहितश्च जिनसम्यक्त्वातीतो वेषधारी मुनि· हे मुनिवर। हे मुनिश्रेष्ठ।। **भमइ** भ्राम्यति पर्यटति। **चिरं** दीर्घकालं अनन्तकालं--यावत्काल सिद्धस्वामिनो मुक्तौ तिष्ठन्ति तावत्पर्यन्त स मिथ्यादृष्टिर्मुनि· भ्रमति । क ॰ **दीहसंसारे** दीर्घसंसारेऽनन्तभवसकटे ससारसमुद्रे मज्जनोमज्जनं करोतीति भावार्थ. ।

पावंति भावसवणा कल्लाणपरंपराइं सोक्खाइं ।
दुक्खाइं दव्वसवणा णरतिरियकुदेवजोणीए ॥९८॥

प्राप्नुवन्ति भावश्रवणा कल्याणपरम्पराणि सुखानि ।
दु खानि द्रव्यश्रवणा नरतिर्यकुदेवयोनौ ॥

पावंति भावसवणा प्राप्नुवन्ति लभन्ते, के ते॰ भावश्रवणा सम्यग्दृष्टयो दिगम्बरा । **कल्लाणपरंपराइं सोक्खाइं** कल्याणाना गर्भावतारजन्माभिषेकनिष्क्रमणज्ञाननिर्वाणलक्षणा (ना) परपरा श्रेणिर्येषु सौख्येषु तानि कल्याणपरपराणि एवंविधानि सौख्यानि भावश्रवणा प्राप्नुवन्ति तीर्थंकरपरमदेवा भवन्ति । **दुक्खाइं दव्वसवणा** दु खानि प्राप्नुवन्ति, के ते ? दव्वसवणा--द्रव्यश्रवणा जिनसम्यक्त्वरहिता नग्ना पशुसमाना दिगम्बरा इति भावार्थ । क दु खानि द्रव्यश्रवणा प्राप्नुवन्तीति चेत्? **णरतिरियकुदेवजोणीए** नराश्च मनुष्या , तिर्यंचश्च पशव , कुत्सिता देवाश्च भावनामरा व्यन्तरा ज्योतिष्काश्च तेषा योनौ उत्पत्तिस्थाने।

१ चकारात् न मुनेर॰ इत्यादि. ख पाठ । पुस्तकद्वयेऽपि नकारो वर्तते स च शल्यति ।

दास्यामि, अस्यामृतौ दास्यामि, अस्मिन् वर्षादौ दास्यामीति नियमेन यदत्र मुनिभ्यो दीयते तत्प्राभृत कथ्यते (७) भगवन्निद मदीयं गृहं वर्तते यत्रैव गृहप्रकाशकरण भवति निजगृहस्य गृहिणा प्रकटन क्रियते, अथवा भाजनादीना संस्कार भाजनादीना स्थानान्तरण वा प्राविष्कृत-मुच्यते (८) विद्यया क्रीत द्रव्यवस्त्रभाजनादिना वा यत्क्रीत तत्क्रीतं कथ्यते (९) कालान्तरेणाव्याजेन वा स्तोकमृण कृत्वा यतीना दानार्थं यदर्जितं तत्प्रामृष्य मुच्यते (१०) कस्यचिद्गृहस्थस्य व्रीहीन् दत्वा शाल्यो गृह्णन्त, अथवा निजं कूर दत्वा परकूरं गृह्यते निजाम्यूपान् दत्वा परेषामम्यूपा गृह्णन्ते एवं यत्परिवर्त्यत यतिभ्यो दीयते दास्यते वा स परिवर्त कथ्यते (११) ग्रामात् पाटकात् गृहान्तराद्वदायात तद-भिहित कथ्यते तद्योग्य न भवति । कुतोऽप्यायातं योग्यं भवतीति चेत् ? भवति योग्य यदि ऋजुत आसन्नादासप्तादृहादायात तत् योग्यं । पंक्तिबद्धात् पश्चाद्गृहाद्यदायात तत्कल्पते सप्तमाद्गृहात् यदुपढौकितं तन्न कल्पते इत्यर्थ (१२) मिमुद्रादिकं यद्वत्रादिकं भवति तदुद्भिन्नमु-च्यते–उद्घाटित न भुज्यते इत्यर्थ (१३) मालिकादिसमारोहणेन यदानीत तन्मालिकारोहणमुच्यते–उपरितनभूमेर्यद्घृतादिकमधस्तनभूमौ समानीत तन्न कल्पते इत्यर्थ (१४) राजभयाच्चौरभयाद्यद्दीयत तदा-च्छेद्यमुच्यते (१५) ईशानीशानभिमतेन स्वाम्यस्वाम्यनभिमतेन यद्दी यते तदनिसृष्ट कथ्यते (१६) इत्येते षोडशोद्गमदोषा भवन्ति ।

अथोत्पादनदोषा षोडश उच्यन्ते–तन्नामनिर्देशो यथा। धात्रीवृत्ति (१) दूतत्व (२) भिषग्वृत्ति (३) निमित्त (४) इच्छाविभाषण (५) पूर्वस्तुति (६) पश्चात्स्तुति (७) क्रोधचतुष्कं (८–९–१०–११) वश्यकर्म (१२) स्वगुणस्तवनं (१३) विद्योपजीवनं (१४) मंत्रोपजीवनं (१५) चूर्णोपजीवनं (१६)। बालकलालनशिक्षादि-

धौत्रीत्व (१) दूरब घुजनाना वचनाना नयनमानयन च दूतत्वं (२) गजचिकि सा विषचिकि सा जागुल्यपरनामा बालचिकि सा तादृशान्यचि कि सामिरशनाजन भिषग्वृत्ति (३) स्वरा तरिक्षभौमाङ्गव्यञ्जनच्छिन्न-लक्षणस्वप्नाख्याङ्गनिमित्तैरशनार्जनं निमित्त (४) कश्चित्पृच्छति हे मुने। दीनहानादीनामन्नादिदानेन पुण्य भवेन्न वा भवेत् १ मुनिरन्नार्थं वदति पुण्य भवेदेवेत्यभ्युपगम इच्छानिभाषणमुच्यते (५) अहो जिनदत्त ! त्व जगति विख्यातो दाता वर्तसे इत्यादिभिर्वचनैर्गृहस्थस्यान-दजनन भुक्ते पूर्वं त पूर्वस्तवन (६) एव भुक्ते पश्चात् स्तवनविधान पश्चा स्तुति (७) क्रोध कृत्वाऽन्नोपार्जन क्रोध (८) मानेनान्नाजन मान (९) मायया-ऽन्नार्जन माया (१०) लोभेनान्नार्जन लाभ (११) वशीकरणमंत्र-तन्त्राद्युपदर्शेन यदन्नोपाजन तद्वश्यकर्म (१२) स्वकीयतप श्रुतजा तिकुलादिवर्णनं स्वगुणस्तवन (१३) सिद्धविद्यासाधितविद्यादीना प्रद र्शन विद्योपजीवन (१४) अहङ्गृह्मारकारिण पुरुषस्य पाठसिद्धादि मन्त्राणामुपदेशने मन्त्रोपजीवन (१५) एव चूर्णादेरुपदर्शन चूर्णोप जीवन (१६) एते षोडशो पादनदोषा वदित०पा ।

अथैषणादशदोषा कथ्यते। तत्रादौ नामनिर्देश । शकित (१) म्रक्षित (२) निक्षिप्त (३) पिहित (४) उज्झितं (५) व्यवहार (६) दातृ (७) मिश्र (८) अपक्व (९) लिप्त (१०) चेति । एतदन्न सेव्यमसेव्य वेति शंकितं (१) सस्नेहहस्तपात्रादिना यद्दत्तं तन्म्रक्षित (२) सचित्तपद्मपत्रादौ यत्क्षिप्त तन्निक्षिप्त (३) सचित्तेन पद्मपत्रादिना यत्पिहित तदन्न पिहित (४) यच्चूतफलादिक बहु त्यक्त्वा ल्पसेवन तदुज्झितं,अथवा यत्पानादिक दीयमानं बहुतरेण गलननाल्पसेवन तदुज्झितं (५) यतीना सभ्रमादादरतया चेलपात्रादेरसमीक्ष्याकर्षण स

१ वेल० क ।

आगमे व्यवहार उच्यते (६) दातृदोषाः कथ्यन्ते–निर्लज्जः शौण्डः पिशाचः अन्धः पतितः मृतकानुगः तीव्ररोगी व्रणी लिंगी नीचस्थानास्थितः उच्चस्थानस्थित आसन्नगर्भिणी कोऽर्थः ? निकटजनितापत्या वेश्या दासी काण्डपटादिनान्तरिता अशुचिः किमपि भक्षयन्ती इत्यादयो दोषा दातृगा ज्ञातव्याः (७) षड्जीवसम्मिश्रं मिश्रः (८) पावकादिद्रव्यैरपरित्यक्त-पूर्वस्वकीयवर्णगन्धरसमपक्वं (९) लिप्तैर्दर्वीकराद्यैर्दीयमानमशनादिकं लिप्तं तथाऽप्रासुकजलमृत्तिकोल्मुकादिभिर्लिप्तैर्यद्दीयते तल्लिप्तं (१०)।

स्वादनिमित्तं यत्संयोजनं शीते उष्णं उष्णे शीतमित्यादिमेलनं तदनेकरोगाणामसंयमस्य च कारणं ज्ञातव्यं (१) कुक्षेरर्धमंशमन्नेन पूरयेत् तृतीयमंशं कुक्षेः पानेन पूरयेत् कुक्षेश्चतुर्थमंशं वायोः सुखप्रचारार्थमवशेषयेत् रिक्तं रक्षेत् अस्मात्प्रमाणादतिरेकोऽधिकग्रहणं प्रमाणदोषः। प्रमाणातिक्रमेण किं भवति ? ध्यानभंगः, अध्ययनविनाशः, अर्शुत्पत्तिः, निद्रोत्पत्तिः, आलस्यादिकं च स्यात् (२) इष्टान्नपानादिप्राप्तौ रागेण सेवनं अंगारदोषः (३) अनिष्टान्नपानादिप्राप्तौ द्वेषेण सेवा धूमदोषः (४)। अथ किमर्थमाहारो गृह्यते इति चेत् ? आहारग्रहणे मुनीनां गुणाः सन्ति। उक्तं च वीरनंदिभट्टारकेण—

क्षुच्छान्त्यावश्यकप्राण-रक्षाधर्मयमा मुनेः
वैयावृत्यं च षड्भुक्तेः कारणानीति यन्मतम् ॥ १ ॥
ततः शरीरसंवृद्ध्य तत्तेजोबलवृद्धये।
स्वादार्थमायुसंवृद्ध्यै नैव भुंजीत संयतः ॥ २ ॥
मदोपसर्गतङ्काद्रुसन्यासाङ्गिदयातपो–
ब्रह्मचर्याणि भिक्षोः षट्कारणान्यशनोज्झने ॥ ३ ॥
एतद्दोषविहीनाश्नभुक्तेरन्तरकारिणः।
अन्तरायाः कियन्तोऽत्र वर्ण्यन्ते वर्णिनामिमे ॥ ४ ॥

१ व्यवहार इति दोषनाम अन्यत्र।

कन्दं मूलं बीजं पुष्पं पत्रादि किंचित् सचित्तम् ।
अशित्वा मानगर्वेण भ्रमितोऽसि अनन्तसंसारे ॥[१]

कंदं सूरण लशुन पलाण्डु क्षुद्रकन्दमुस्ता शालूक उत्पलमूलं शृङ्गवेरं आर्द्रवरर्णिनी आर्द्रहरिद्रेत्यर्थः । **मूलं** हस्तिदन्तकं मूलकमित्यर्थः । नारंगकंदकं गाजरमित्यर्थः । **बीयं** चणकादिकं । **पुप्फं** पुष्प सेवन्त्रीपुष्प करणबीजपूरपुष्पं । **पत्तादि** नागवल्लीदलं । **किंचि सच्चित्तं** किमपि ऐर्वार्वादिकं । **असिऊण माणगव्वे** अशित्वा भक्षयित्वा मानेन मान्यतया गर्वे सति । **भमिओसि अणंतसंसारे** भ्रमितस्त्वं हे जीव ! अनन्तसंसारे अपर्यन्तभवसंकटे इति भावः ।

विणयं पंचपयारं पालहि मणवयणकायजोएण ।
अविणयणरा सुविहियं तत्तो मुत्तिं न पावंति ॥ १०२ ॥

विनयं पंचप्रकारं पालय मनोवचनकाययोगेन ।
अविनतनरा सुविहितां ततो मुक्तिं न प्राप्नुवन्ति ॥

विणयं पंचपयारं विनयं यथायोग्यं कत्योटन-पादपतन-अभ्युत्थान-स्वागत-भाषणादिकं पंचप्रकारं ज्ञानस्य, दर्शनस्य, चारित्रस्य, तपसश्च विनयं विनीतत्वं, उपचारलक्षणं पंचमं विनयं । हे आत्मन् ! हे मुने ! हे जीव ! हे आसन्नभव्य ! सर्वोपकारिन् ! **पालहि** प्रतिपालय कुर्विति । **मणवयणकायजोएण** मनोवचनकाययोगेन आत्मव्यापारेण । **अविणयणरा सुविहियं** अविनयनरा अविनतनरा वा सुविहितां तीर्थकरनामकर्मपूर्विकत्व घनिशिथां । **तत्तो मुत्तिं न पावंति** ततः कारणान्मुक्तिं सर्वकर्मक्षयलक्षणोपलक्षितां न प्राप्नुवन्ति नैव लभन्ते ।

णियसत्तीए महाजस भत्तीराएण णिच्चकालम्मि ।
तं कुण जिणभत्तिपरं विज्जावच्चं दसवियप्पं ॥ १०३ ॥

---

१ वाइच्चा ।

निजशक्त्या महायश ! भक्तिरागेण नित्यकाले ।
त्वं कुरु जिनभक्तिपरं वैयावृत्यं दशविकल्पम् ॥

णियसत्तीए महाजस एकारस्योच्चारलाघवादत्र पादे द्वादशैव मात्रा पठितव्या । अन्यथा त्रयोदशमात्रासद्भावाद्गाथाछन्दोभंगः स्यात् । तदुक्तं प्राकृतव्याकरणे—

"इ्वारलघुत्वमेदोतोर्व्यंजनस्थयोः"

निजशक्त्या हे महायश ! । भत्तीराएण णिच्चकालम्मि भक्तिरागेण नित्यकाले । तं शृणु त्वं कुरु । जिणभत्तिपरं जिनभक्तौ परमुत्कृष्टं । विज्जावच्चं वैयावृत्यं । दसवियप्पं दशविकल्पं दशभेदं आचार्यादीनां पूर्वोक्तानाम् ।

जं किंचि कयं दोसं मणवयकाएहिं असुहभावेण ।
तं गरहि गुरुसयासे गारव मायं च मोत्तूण ॥ १०४ ॥

यः कश्चित् कृतो दोषः मनोवचनकायैः अशुभभावेन ।
तं गर्हं गुरुसकाशे गारवं मायां च मुक्त्वा ॥

जं किंचि कयं दोसं यः कश्चित्कृतो दोषः व्रतादिष्वतीचारः । मणवयकाएहिं असुहभावेण मनोवचनकायैरशुभभावेन रागद्वेषमोहादिदुष्परिणामेन । तं–दोषमतीचारादिकं, गर्ह प्रकाशय । गुरुसयासे गुरुशकाशे गुरुपार्श्वे आचार्यनालाचार्यपादमूले । गारव मायं च मोत्तूण गारवं रसर्द्धिशब्दसातगर्वं मुक्त्वा, मायां च मुक्त्वा कपटं परिहृत्य । आलोचनादशदोषान् भगवत्याराधनाकथितान् विहाय । तदुक्तं—

आकंपिय अणुमाणिय, जं दिट्ठं बादर च सुहमं च ।
छण्णं सद्दाउलयं, बहुजणमव्वत्त तस्सेवी ॥ १ ॥

"तुमर्थुमाणतूणाश्चतुष्क प्रत्ययाः"

१ इत्यनेन मोत्तूण इत्यत्र सत्यया तूणादेशः ।

दुज्जणवयणचडक्कं णिट्ठुरकडुयं सहंति सप्पुरिसा ।
कम्ममलणासणट्ठं भावेण य णिम्ममा सवणा ॥ १०५॥

दुर्जनवचनचपेटां निष्ठुरकटुकां सहन्ते सत्पुरुषाः ।
कर्ममलनाशनार्थं भावेन च निर्ममाः श्रवणाः ॥

दुज्जणवयणचडक्कं दुर्जनानां गुरुदेवनिन्दकानां मिथ्यादृष्टीनां नामश्रावकाणां च वचनमेव चपटा तां । कथंभूतां, **णिट्ठुरकडुयं** निष्ठुरां निर्दयां, कटुकां-कर्णशूलप्रायां निष्ठुरकटुकां तां निष्ठुरकटुकां । **सहंति सप्पुरिसा** सहन्ते सत्पुरुषा महामुनयो दिगम्बराः, सद्दृष्टयो गृहस्थाश्च । किमर्थं सहन्ते ? **कम्ममलणासणट्ठं** कर्माणि-ज्ञानावरणादीनि, मलानि-अतिचाराश्च तेषां नाशनार्थं क्षयार्थं परमनिर्वाणप्राप्त्यर्थं च । **भावेण य णिम्ममा सवणा** भावेन जिनसम्यक्त्ववासनया निर्ममा ममत्वकारा समभ्ययशब्द, ममत्वरहिताः श्रवणा दिगम्बरा महामुनयः ।

पावं खवइ असेसं खमाए परिमंडिओ य मुणिपवरो ।
खेयरअमरनराणं पसंसणीओ धुवं होइ ॥ १०६ ॥

पापं क्षिपति अशेषं क्षमया परिमण्डितश्च मुनिप्रवरः ।
खेचरामरनराणां प्रशंसनीयो ध्रुवं भवति ॥

पावं खवइ असेसं पापं त्रिषष्टिप्रकृतिलक्षणं क्षिपते, अशेषं द्वासप्ततित्रयोदशप्रकृतिरूपमघातिकर्मलक्षणं च प्रकृतिसमुदायं च क्षिपते । कया, **खमाए** क्षमया पार्श्वनाथवत् उत्तमक्षमालक्षणपरिणामेन । **परिमंडिओ य** परि समन्तात् मनोवचनकायप्रकारेण मण्डितः शोभितश्च, **मुणिपवरो** मुनिप्रवरो मुनीनां श्रेष्ठः । चकार उक्तसमुच्चयार्थः । तेनान्योऽपि कोऽपि गृहस्थोऽपि क्षमापरिणामेन स्वर्गं गत्वा पारंपर्येण मोक्षं याति इति ज्ञातव्यं । **खेयरअमरनराणं** खेचराणां विद्याधराणां, अम-

राणां भावनव्यन्तरज्योतिष्ककल्पवासिनां कल्पातीतानां च, नराणां भूमिगोचरनृपादीनां च। **पसंसणीओ** प्रशंसनीयः स्तवनीयः स्तोतव्यः संस्कृत-प्राकृत अपभ्रंश सौरसेनी मागधी—पैशाची चूलिकापैशाचीबद्धगद्यपद्यानवद्यस्तुतिभिर्विशेषेणाभिवादनीयः। **धुवं होइ** धुवं निश्चयेन भवति। अत्र संदेहो नास्ति। क्षमावान् मुनिस्तीर्थंकरो भवतीति भावार्थः।

इय णाऊण खमागुण खमेहि तिविहेण सयलजीवाणं।
चिरसंचियकोहसिहिं वरखमसलिलेण सिंचेह॥१०७॥

इति ज्ञात्वा क्षमागुण! क्षमस्व त्रिविधेन सकलजीवान्।
चिरसंचितक्रोधशिखिनं वरक्षमासलिलेन सिंच॥

इय णाऊण इति पूर्वोक्ततीर्थंकरपदप्रापकं क्षमाफलं ज्ञात्वा विज्ञाय। **खमागुण** हे क्षमागुण! चतुरशीतिशतसहस्रगुणानां मध्ये प्रधानक्षमागुण हे मुने!। **खमेहि** क्षमस्व। **तिविहेण** मनोवचनकायलक्षणत्रिप्रकारेण। **सयलजीवाणं** सकलजीवान् एकेन्द्रियादिपंचेन्द्रियपर्यन्तान्। **चिरसंचियकोहसिहिं** चिरं दीर्घकालं संचितं पुष्टितं पुष्टिं नीतं क्रोध एव शिखी वैश्वानरः दाहसंतापकारकत्वात्। क्रोधशिखिनं कोपाग्निं। **वरखमसलिलेण सिंचेह** वरा उत्तमा क्षमा सर्वसहनधर्मः सैव सलिलं पानीयमुदकं आयुःस्थिरीकरणमनःप्रसादजनकत्वात् तेन वरक्षमासलिलेन कृत्वा सिंच त्वं विध्यापय। उक्तं च—

आक्रुष्टोऽहं हतो नैव हतो वा न द्विधाकृतः।
मारितो न हतो धर्मो मदीयोऽनेन बन्धुना॥१॥

चित्तस्थमप्यनवबुद्ध्य हरेण जाड्या-
त्क्रुद्ध्वा बहिः किमपि दग्धमनङ्गबुद्ध्या।
घोरामवाप स हि तेन कृतामवस्थां
क्रोधोदयाद्भवति कस्य न कार्यहानिः॥२॥

दिक्खाकालाईयं भावहि अवियार दंसणविसुद्धो ।
उत्तमबोहिनिमित्तं असारसाराइं मुणिऊण ॥ १०८ ॥

दीक्षाकालादीयं भावय अविचार ! दर्शनविशुद्ध ।
उत्तमबोधिनिमित्तं असारसाराणि ज्ञात्वा ॥

दिक्खाकालाईयं दीक्षाकाले खलु जीवस्य परमवैराग्यं भवति, दीक्षाकाल आदिर्यस्य रोगोत्पत्तिप्रभृतिकालस्य स दीक्षाकालादि दीक्षाकालादौ भवो दीक्षाकालादीयो भावस्तं दीक्षाकालादीयं निजपरिणामविशेषं हे जीव आत्मन् ! हे चैतन्य ! हे मुने ! त्वं ! भावहि–भावय तं परिणामं त्वं स्मर । यदहमद्यप्रभृति वनितामुखं न पश्यामि, वनितासु रक्तोऽहमनादिकाले संसारे पर्यटतोऽवाञ्छितमेव दुःखं प्राप्त, अहर्निशमाकाङ्क्षन्नपि सुखलवं न लब्धवान् । तदुक्तं–

अजाकृपाणीयमनुष्ठितं त्वया
विकल्पमूढेन भवादितः पुरा ।
यदत्र किंचित्सुखलेशमाप्यते
तदार्य ! विद्ध्यन्धकवर्तकीयकम् ॥ १ ॥

अन्यच्च—

संसारे नरकादिषु स्मृतिपथेऽप्युद्वेगकारीण्यलं
दुःखानि प्रतिसेवितानि भवता तान्येवमेवासताम् ।
तत्तावत् स्मरसि स्मरस्मितशिताशितापाङ्गैरनङ्गायुधै-
र्वामानां हिमदग्धमुग्धतरुवद्यत्प्राप्तवान्निर्धनः ॥ १ ॥

आतङ्कपावकशिखा सरसावलेखा
स्वस्थे मनाङ्मनसि ते लघु विस्मरन्ति ।
तत्कालजातमतिनिस्फुरितानि पश्चा-
ज्जीवान्यथा यदि भवन्ति कुतोऽप्रियं ते ॥ १ ॥

---

१ तत्तस्मात्स्मरसस्मर इति पुस्तके पाठः ।

भावहि अवियार दंसणविसुद्धो दीक्षाकाले दारिद्र्यकाले रोगादिकाले च ये भावास्त्वया भाविता धर्माश्रयणपरिणामास्तान् भावान् हे जीव ! सदाकालमपि त्वं भावय, हे अवियार–हे अविचार निर्विवेकजीव !। अथवा हे अविकार रागद्वेषमोहादिदुष्परिणामवर्जितजीव !। कथंभूतः सन् भावय, दंसणविसुद्धो–सम्यक्त्वकौस्तुभशोभितनिर्मलहृदयः सन् भावय। अथवा **अवियारदंसणविसुद्धो** इत्येकमेव पदं। तत्रायमर्थः–अविकार पञ्चविंशतिदोषरहितं यद्दर्शनं सम्यक्त्वरत्नं तेन विशुद्धोऽनन्तभवपापरहितः। किमर्थं भावय, **उत्तमबोहिणिमित्तं** उत्तमा गणधरचक्रधरकुलिशधरभव्यवरपुण्डरीकैः[१]पूज्यत्वात् उत्तमा चासौ बोधिः तन्निमित्तं उत्तमबोधिनिमित्तं। **असारसाराइं मुणिऊण** असाराणि साराणि च मुनित्वा ज्ञात्वा। उक्तं च–

> अथिरेण थिरा[२]मलिणेण णिम्मला णिग्गुणेण गुणसारा।
> कायेण जा विढप्पइ सा किरिया किं ण कायव्वा॥ १॥

अनालोचितं असारं, आलोचितं सारं। परनिन्दा असारं, निजनिन्दा सारं। आत्मदोषाणां गुरोरग्रेऽप्रकथनं असारं, गुर्वग्रे निजदोषकथनं सारं। अप्रतिक्रमणं असारं, प्रतिक्रमणं सारं। विराधनं असारं, आराधनं सारं। अज्ञानं असारं, सम्यग्ज्ञानं सारं। मिथ्यादर्शनं असारं, सम्यग्दर्शनं सारं। कुचरित्रं असारं, सच्चरित्रं सारं। कुतपः असारं, सुतपः सारं। अकृत्यं असारं, कृत्यं सारं। प्राणातिपातोऽसारं, अभयदानं सारं। मृषावादोऽसारं, सत्यं सारं। अदत्तादानं असारं, दत्तं कल्प्यं च सारं। मैथुनं असारं, ब्रह्मचर्यं सारं। परिग्रहोऽसारं,

१ अस्थिरेण स्थिरमलिना निर्मलं निर्गुणेन गुणसारा।
कायेन या विधीयते सा क्रिया किं न कर्तव्या॥

२ थिरामलेण ख।

नैर्ग्रन्थ्यं सारं। रात्रिभोजनमसार, दिवाभोजनमेकभक्तं प्रत्युत्पन्नं प्रासुकं सारं। आर्तरौद्रध्यानमसार, धर्म्यं शुक्लध्यानं सारं। कृष्णनीलकपोतलेश्या असार, तेज पद्मशुक्लेश्या सार। आरंभोऽसार, अनारंभ सार। असंयमोऽसारं, संयम सार। सग्रंथोऽसारं, निग्रन्थ सारं। सचेलोऽसार, निश्चेल सार। अलोचोऽसारं, लोच सार। स्नानं असार, अस्नान मलधारण सार। अभूमिशयनं असारं, भूमिशयन सारं। दन्तधावनं असार, अदन्तघर्षण सार। उपविश्य भोजनं असार, ऊर्ध्वभोजनं सार। भाजने भोजन असारं, पाणिपात्रे भोजन सार। क्रोधोऽसारं, क्षमा सार। मानोऽसार, मार्दवं सार। मायाऽसारं, आर्जवं सारं। लोभोऽसारं, सन्तोष सार। अतपोऽसारं, द्वादशविधं तप सारं। मिथ्यात्वं असार, सम्यक्त्वं सार। अशील असार, शील सार। सशल्योऽसार, निःशल्य सारं। अविनयोऽसारं, विनय सारं। अनाचाराऽसार, आचार सारं। उन्मार्गोऽसार जिनमार्ग सार। अक्षमा असार, क्षमा सार। अगुप्ति असारं, गुप्ति सार। अमुक्ति असारं, मुक्ति सार। असमाधि असारं, समाधि सार। ममत्वं असारं, निर्ममत्वं सार। यद्भावितं तदसारं, यन्न भावितं तत्सारं। इति सारासाराणि ज्ञातव्यानि।

सेवहि चउविहलिंगं अब्भंतरलिंगसुद्धिमावण्णो।
बाहिरलिंगमकज्जं होइ फुडं भावरहियाणं॥ १०९॥

सेवस्व चतुर्विधलिङ्गं अभ्यन्तरलिङ्गशुद्धिमापन्नः।
बाह्यलिङ्गमकार्यं भवति स्फुटं भावरहितानां॥

सेवहि चउविहलिंगं सेवस्व हे मुने! चतुर्विधं लिंगं शिरकेशमुखश्मश्रुलोचाऽध केशरक्षण चतुर्विधमिदं लिंग पिच्छकुण्डीद्वयग्रह। अब्भंतरलिंगसुद्धिमावण्णो अभ्यन्तरलिंग जिनसम्यक्त्वं

तस्य शुद्धिमापन्न प्राप्त । बाहिरलिंगमकज्जं बहिर्लिंगं पूर्वोक्तं चतुर्विधलिंगमकार्यं मोक्षदायकं न भवति । होइ फुडं भावरहियाणं अकार्यं भवति स्फुटमिति निश्चयेन भावरहितानां मिथ्यादृष्टीनां दिगम्बराणां ।

आहारभयपरिग्गहमेहुणसण्णाहि मोहिओसि तुमं ।
भमिओ संसारवणे अणाइकालं अणप्पवसो ॥ ११० ॥

आहारभयपरिग्रहमैथुनसंज्ञाभिः मोहितोऽसि त्वम् ।
भ्रमितः संसारवने अनादिकालमनात्मवशः ॥

आहारभयपरिग्गहमेहुणसण्णाहि मोहिओसि तुमं आहारभयपरिग्रहमैथुनसंज्ञाभिर्मोहितः आत्मस्वरूपाच्चालितः प्रचलितः प्रच्युतः, असि-भवसि, तुमं-त्वं हे जीव ! । भमिओ संसारवणे भ्रान्तः पर्यटितस्त्वं संसारवने नरकतिर्यङ्मनुष्यकुत्सितदेवगहने । अणाइकालं अनादिकालं पूर्वकाले । अणप्पवसो अनात्मवशः, न आत्मा वशो यस्य सोऽनात्मवशः निग्रयकषायान्यापरजितहृदय इत्यर्थः ।

बाहिरसयणत्तावणतरमूलाईणि उत्तरगुणाणि ।
पालहि भावविसुद्धो पूयालाहं ण ईहंतो ॥ १११ ॥

बहिःशयनातपनतरुमूलादीन् उत्तरगुणान् ।
पालय भावविशुद्धः पूजालाभं अनीहमानः ॥

बाहिरसयणत्तावणतरमूलाईणि उत्तरगुणाणि बहिःशयनातपनतरुमूलादीन् उत्तरगुणान् पालयेति सम्बन्धः । शीतकालेऽनाहतस्थाने स्थितिं कुरु । उष्णकाले आतपनयोगं धर । वर्षाकाले तरुमूले तिष्ठ । वृक्षपर्णोपरि पतित्वा यज्जलं यत्युपरि पतति तस्य प्रासुकत्वाद्विराधनाऽप्काधिकानां जीवानां न भवति द्विगुणं वर्षाफलं च भवतीति कारणात् वर्षाकाले तरुमूलस्थितिरुपयोगः, अन्यथा वानरत्वप्रसक्ते । एते त्रयोऽपि

योगा उत्तरगुणा कथ्यन्ते। **पालहि भावविसुद्धो** (पालय भावविशुद्ध) तत्र भावनानिर्मलमना सन्निति भाव । **पूयालाह नहँहतो** पूजालाभख्यात्यादिकमनाहमानाऽनिच्छन्निति शेष ।

भावहि पढम तच्च विदिय तदिय चउत्थपचमय ।
तियरणसुद्धो अप्प अणाइणिहण तिवग्गहर ॥ ११२ ॥

भावय प्रथम तत्त्व द्वितीय तृतीय चतुर्थपञ्चमकम् ।
त्रिकरणशुद्ध आत्मान अनादिनिधन त्रिवर्गहरम् ॥

भावहि पढम तच्च भावय हे जीव ! त्व श्रद्धेहि, किं तत् ? प्रथमं तत्वं जीवतत्वं । **विदिय** द्वितीय तत्त्वमजीवसज्ञ पुद्गलधर्माधर्मकालाकाशलक्षण । **तदिय** तृतीय तत्वं आस्रवनामधेय । **चउत्थपचमय** चतुर्थं बन्धनामधेय, पंचमक तत्व सवराभिधान, निर्जरा षष्ठ तत्व, मोक्ष सप्तम तत्व । **तियरणसुद्धो अप्प** त्रिकरणशुद्ध सन्नात्मान भावय, अल्प वा स्तोककालं अन्तर्मुहूर्तकाल । कथभूतमात्मानं, **अणाइणिहण** अनादिनिधनं आद्यन्तरहित । **तिवग्गहर** धर्मार्थकामवर्गत्रयवर्जित सर्वकर्मक्षयलक्षणमोक्षसहित निश्चयात् ।

जाव ण भावइ तच्च जाव ण चिंतेइ चिंतणीयाइ ।
ताव ण पावइ जीवो जरमरणविवज्जिय ठाण ॥११३॥

यावन्न भावयति तत्त्व यावन्न चिन्तयति चिन्तनीयानि ।
तावन्न प्राप्नोति जीव जरामरणविवर्जित स्थानम् ॥

जाव ण भावइ तच्च यावत्काल न भावयति, किं ? तत्व सप्ततत्त्व जीवाजीवास्रवबन्धसवरनिर्जरामोक्षलक्षण,तन्मय निजात्मतत्त्व मोक्षकारण अपरे जीवा शुद्धबुद्धैकस्वभावा निजा मा च। अजीवतत्त्व पुद्गलो धर्मोऽधर्म काल आकाशश्च । तत्रष्टस्पर्शनितादिरूप पुद्गलपर्याया माहापादको

रागजनक, शस्त्रविषकण्टकशत्रुप्रभृतिद्वेषकारकपुद्गलपर्याय । सोऽप्यास्रवनिमित्त कर्मबन्धकारणं शुद्ध आहारादिर्गृहीत शुद्धध्यानाध्ययनकारणत्वात् संवरनिर्जराकारणत्वात् सोऽपि मोक्षप्रत्यय, अशुद्ध आहारो गृहीत चर्मादिस्पृष्टतया दुर्ध्यानोत्पादकत्वादास्रवबन्धकारण। इत्यादि पुद्गलस्य हेयोपादेययुक्तितया विचारो ज्ञातव्य । अथवा पुद्गलद्रव्यमेव जीवस्य बन्धकारणत्वात् खकारण परमार्थतया हेय एव। धर्मस्तु नरकादिगतिसहायकारकत्वाद्धेय स्वर्गमोक्षगतिकारकत्वादुपादेय । अधर्मस्तु स्वर्गमोक्षस्थानादौ मुनीना ध्यानाध्ययनादिकाले स्थितिहेतुत्वादुपादेय । नरकनिकोतादिस्थितिकारणत्वे हेय । कालस्तु स्वर्गमोक्षादौ वर्तनाप्रत्ययत्वादुपादेय, नरकादिपर्यायवर्तनाकारणत्वाद्धेय। आकाश समवशरणस्वर्गमोक्षाद्यवकाशदायकगुणत्वादुपादेय । नरकनिगोदादिस्थानावकाशदानदायकत्वाद्धेय । निर्निदानविशिष्टतीर्थंकरनामकर्मास्रव उपादेयो मोक्षहेतुत्वात्। नरकादिगर्तादिनिपातहेतुत्वादन्य आस्रवो हेय । तीर्थंकरनामकर्महेतुश्चतुर्विधोऽपि बन्ध उपादेय, ससारपर्यटनकारीतरो बन्धो हेय । सवर उपादेय । निर्जरा चोपादेया मुनीना सम्बन्धिनी। मोक्ष सवर्थाप्युपादेयोऽनन्तज्ञानादिचतुष्टयकारणत्वादिति सप्तत यानि यावन्न भावयति। जाव ण चिंतेइ चिंतणीयाइं यावन्न चिन्तयति चिन्तनीयानि धर्म्यशुक्लध्यानानि अनुप्रेक्षादीनि च। ताव ण पावइ जीवो तावन्न प्राप्नोति जीव आत्मा। जरमरणविवज्जियं ठाणं जरामरणविवर्जित स्थान परमनिर्वाणपदमिति शेष ।

पावं पयंइ असेसं पुण्णमसेसं च पयइ परिणामो।
परिणामादो बंधो मुक्खो जिणसासणे दिट्ठो ॥ ११४॥

१ हवइ इति पाठा तरं क्वचित्स्थाने।

पाप पचति अशेष पुण्यमशेष च पचति परिणाम ।
परिणामाद्बन्ध मोक्षो जिनशासने दृष्ट ॥

पाव पयइ असेस पाप पचति अशेष, सर्वं पाप परिणाम पचति निर्जरयति निजात्मपरिणामो भावना नि शेष पाप दूरीकरोति। उक्तं च —

नाममात्रकथया परात्मनो भूरिजन्मकृतपापसक्षय ।
बोधवृत्तरुचयस्तु तद्गता कुर्वते हि जगता पति नरम् ॥ १ ॥

पुण्णमसेस च पयइ परिणामो पुण्य अशेष सर्वं च सर्वमपि पचति विस्तारयति मेलयति, योऽसौ[1] परिणाम निजशुद्धबुद्धैकस्व भावात्मभावना जिनसम्यक्त्व च। तथा चोक्त—

एकापि समर्थेय जिनभक्तिर्दुर्गतिं निवारयितुम्।
पुण्यानि च पूरयितु दातु मुक्तिश्रिय कृतिन ॥ १ ॥

सद्वेद्यशुभायुर्नामगोत्रलक्षण तीर्थकरनामकर्मासाधारणपुण्य परिणामै नैवोपार्ज्यत इत्यर्थ । तथा चोक्तं—

परिणाममेव कारणमाहु खलु पुण्यपापयोर्निपुणा ।
तस्मात्पुण्योपचय पापापचयश्च सुविधेय ॥ १ ॥

तथा च समयसारे —

जीवकृत परिणाम निमित्तमात्र प्रपद्य पुनरन्ये ।
स्वयमेव परिणमन्तेऽत्र पुद्गला कर्मभावेन ॥ १ ॥

परिणामादो बधो परिणामाद्बन्ध प्रकृतिस्थित्यनुभागप्रदेशलक्षणश्चतुर्विधो बन्ध —पुण्यसम्बन्धी पापसम्बन्धी च बन्ध सजायते। उक्तं च—

पयडिट्ठिदिअणुभागप्पदेसबधा दु चदुविधो बधो।
जोगा पयडिपदेसा ठिदिअणुभागा कसायदो होंति ॥ १ ॥

---

१ पुरुषार्थसिद्ध्युपायस्यैतत्पद्यमन्तरं।
२ प्रकृतिस्थित्यनुभागप्रदेशाख्यास्तु चतुर्विधो बन्ध ।
योगात् प्रकृतिप्रदेशौ स्थित्यनुभागौ कषायतो भवत ॥

मुक्खो जिणसासणे दिट्ठो मोक्षः सर्वकर्मप्रक्षयलक्षणोपलक्षित परमनिर्वाणं जिनशासने श्रीमद्भगवदर्हत्सर्वज्ञवीतरागमते दृष्ट प्रतिपादित परिणामादेवेति निश्चयः, स मोक्षकारणभूत परिणाम आत्मन्येकलोलीभाव इति भावार्थ ।

मिच्छत्त तह कसायाऽसंजमजोगेहिं असुहलेसेहिं ।
बंधइ असुहं कम्मं जिणवयणपरम्मुहो जीवो ॥ ११५ ॥

मिथ्यात्व तथा कषया असयमयोगैरशुभलेश्यैः ।
बध्नाति अशुभ कर्म जिनवचनपराङ्मुखो जीव ॥

मिच्छत्त तह कसाया मिथ्यात्व पंचविध तथा तेनैव पंचप्रकारमिथ्यात्वप्रकारेण कषाया पंचविंशतिभेदा । **असंजमजोगेहिं असुहलेसेहिं** असंयमो द्वादशविध, योगा पचदशभेदा, एव सप्तपंचाशत्कर्मबन्धप्रत्यया कारणानि आस्रवभेदा भवन्तीति सक्षेपार्थ । कथंभूतैरेतैरास्रवैः, अशुभलेश्यैः कृष्णनीलकापोतलेश्याबलेन सजातैः । **बंधइ असुहं कम्मं** बध्नाति अशुभं कर्म । **जिणवयणपरम्मुहो जीवो** जिनवचनपराङ्मुखो जीवो मिथ्यादृष्टिरात्मा ।

तं विवरीओ बंधइ सुहकम्मं भावसुद्धिमावण्णो ।
दुविहपयारं बंधइ संखेवेणेव वज्जरियं ॥ ११६ ॥

तद्विपरीत बध्नाति शुभकर्म भावशुद्धिमापन्न ।
द्विविधप्रकारं बध्नाति संक्षेपेणैव कथित ॥

तं विवरीओ बंधइ तस्माज्जिनवचनपराङ्मुखान्मिथ्यादृष्टिजीवाद्विपरीत सम्यग्दृष्टिजीव बध्नाति, किं [२] शुभकर्म पुण्यकर्म-सद्वेद्यशुभायु-

---

१ संखेवेण जिणेण वज्जरिय घ पुस्तके पाठ । सखेवें जिणेण वज्जरिय घ पुस्तके पाठ । २ "कथेर्वज्जर-पज्जर-सम्ब-साल-साह-चव-जम्प-पिसुण-बोल्लोन्दाला ।" इत्यनेन एतेषु दशादेशेषु कथयतेर्वज्जरादेशो जात ।

र्नामगोत्रलक्षण तीर्थंकरत्वं । कथंभूतो जीव , भावसुद्धिमावण्णो भाव शुद्धिमापन्न परिणामशुद्धि प्राप्त सद्दृष्टिजीव इत्यर्थ । दुविहपयार वधइ द्विविधप्रकार द्वयोर्भेदयो प्रकार निस्तारं बध्नाति । सखे वेणेव वज्जरियं संक्षेपणैव कथित प्रतिपादितम् ।

णाणावरणादीहि य अट्ठविकम्मेहि वेढिओ य अह ।
डहिऊण इण्हि पयडमि अणतणाणाइगुणचिंता ॥ ११७॥

ज्ञानावरणादिभिश्च अष्टभि कर्मभि वेष्टितश्चाहम् ।
दग्ध्वेदानीं प्रकटयामि अनन्तज्ञानादिगुणचेतनां ।

णाणावरणादीहि य ज्ञानावरणादिभिश्च ज्ञानावरणमादिर्येषां दर्शनावरणवेदनीयमोहनीयायुर्नामगोत्रान्तरायाणा तानि ज्ञानावरणादीनि तै र्ज्ञानावरणादिभि । चकारादुत्तरप्रकृतिभिरष्टचत्वारिंशदधिकशतप्रकृतिभि । तथा उत्तरोत्तरप्रकृतिभिरसंख्याताभिरह वष्टित इति सम्बन्ध । अट्ठविकम्मेहि वेढिओ य अह अष्टभिरपि कर्मभिर्वेष्टितश्चाहं । अपिचशब्दादनन्तानन्तकर्मभिरहं वष्टितो वर्ते । डहिऊण इण्हि पयडमि दग्ध्वा भस्मीकृत्य तानि कर्माणि इत्युपस्कार । इण्हि इदानीं, प्रकटयामि । अणतणाणाइगुणचिंता अनन्तज्ञानादिगुणचेतनामिति तात्पर्यम् ।

सीलसहस्सट्ठारस चउरासीगुणगणाण लक्खाइं ।
भावहि अणुदिणु णिहिल असप्पलावेण किं बहुणा ॥११८॥

शीलसहस्राष्टादश चतुरशीतिगुणगणानां लक्षाणि ।
भावय अनुदिन निखिल असत्प्रलापेन किं बहुना ॥

१ अट्ठविह इति क पुस्तके मूलगाथापाठ । ग पुस्तके, क ग पुस्तकद्वय टीकायां च अट्ठवे इति पाठ । ग घ पुस्तके गु थाइ हे इति पाठ ।

सीलसहस्सट्टारस शीलसहस्राष्टादश शीलाना सहस्राणि अष्टादश भवन्ति तानि त्व भावयेति सम्बन्ध । चतुरशीतिगुणगणाना लक्षाणि । **भावहि अणुदिणु णिहिलं** भावय अनुदिनं अहर्निश निखिलं समग्र। **असप्पलावेण किं बहुणा** असत्प्रलापन मिथ्यानर्थकरवचनेन बहुना बहुतरेण किं—न किमपि ।

अष्टादशशीलसहस्राणा विवरण यथा—अशुभमनोवचनकाययोगा शुभेन मनसा हन्यन्ते इति त्रीणि शीलानि । अशुभमनोवचनकाययोगा शुभेन वचसा हन्य ते इति षट् शीलानि । अशुभमनोवचनकाययोगा शुभेन काययोगेन हन्यन्ते इति नव शीलानि । तानि चतसृभि सज्ञाभिर्गुणितानि षट्त्रिंशच्छीलानि भवन्ति । तानि पचभिरिन्द्रियजयैर्गुणितानि अशीत्यग्रशत भवन्ति । पृथ्व्यप्तेजोवायुवनस्पतिद्वीन्द्रियत्रीन्द्रियचतुरिन्द्रियपचन्द्रियसत्वसज्ञिदयाभिर्दशभिर्गुणितानि अष्टादशशतानि भवन्ति । उत्तमक्षमादिभिर्दशभिर्गुणितानि अष्टादशसहस्राणि भवन्ति । अथवा अशीत्यग्रद्विशताधिकसप्तदशसहस्राणि चैत यसम्बन्धीनि भ व ति । विंश त्यधिकसप्तशतानि अचेतनसम्बन्धीनि भवन्ति । तत्राचेतनकृतभेदा कथ्य ते—काष्ठ पाषाण-लेप कृता स्त्रियो मन कायकृतगुणिता षट् । कृतकारितानुमतगुणिता अष्टादश। स्पर्शादिपचगुणिता नवति । द्रव्यभावगुणिता अशीत्यग्र शत । कषायैश्चतुर्भिगुणिता विंशत्यधिकानि सप्तशतानि । चैतन्यसम्बन्धीनि अशीत्यधिकद्विशताग्रसप्तदशसहस्राणि, तद्यथा—देवी मानुषी तिरश्ची चेति स्त्रियस्तिस्र कृतकारितानुमतगुणिता नव भवन्ति । मनोवचनकायगुणिता सप्तविंशतिर्भवन्ति । स्पर्शरसग धवर्णशब्दैर्गुणिता पंचत्रिंशदधिक शत । द्रव्यभाव

१ असप्पलावेहिं ॥ घ पुस्तके पाठ ।

धर्म्यं ध्यानमित्युमास्वामिसूत्रेनात्[1]। तथा श्रीगौतमस्वामिवचनाद्धर्म्यं ध्यानं दशविधं। तद्यथा। अपायविचयः १ उपायविचयः २ विपाकविचयः ३ विरागविचयः ४ लोकविचयः ५ भवविचयः ६ जीवविचयः ७ आज्ञाविचयः ८ संस्थानविचयः ९ संसारविचयश्चेति १०। तथा शुक्लध्यानं ध्याय पृथक्त्ववितर्कवीचारं १ एकत्ववितर्कवीचारं २ सूक्ष्मक्रियाप्रतिपाति ३ व्युपरतक्रियानिवर्ति ४ चेति। **अट्ट रउद्दं च झाणं मुत्तूण** आर्तं रौद्रं च ध्यानद्वयं मुक्त्वा परित्यज्य। तत्रार्तध्यानं चतुर्विधं इष्टवियोगः १ अनिष्टसंयोगः २ पीडाचिन्तनं ३ निदानं चेति ४। रौद्रध्यानं चतुर्विधं हिंसानन्दः १ अनृतानन्दः २ स्तेयानन्दः ३ संरक्षणानन्दश्चेति ४। **रुद्दट्ट झाइयाइं** रौद्रार्ते द्वे ध्याने ध्यातानि (ध्याते)। **इमेण जीवेण चिरकालं** इमेन प्रत्यक्षीभूतेन जीवेनात्मना चिरकालं अनादिकालं। धर्म्यं शुक्लं च ध्यानद्वयं न ध्यातमिति भावार्थः।

जे के वि दव्वसवणा इंदियसुहआउला ण छिंदंति।
छिंदंति भावसवणा झाणकुढारेहिं भवरुक्खं[2] ॥१२०॥

ये केपि द्रव्यश्रवणा इन्द्रियसुखाकुला न छिन्दन्ति।
छिन्दन्ति भावश्रवणा ध्यानकुठारेण भववृक्षम्॥

जे के वि दव्वसवणा ये केऽपि द्रव्यश्रवणाः शरीरमात्रेण दिगम्बरा अन्तर्जिनसम्यक्त्वशून्याः। **इंदियसुहआउला ण छिंदंति** इन्द्रियाणां स्पर्शनरसनघ्राणचक्षुःश्रोत्रलक्षणानां विषयाणां सुखेषु आकुलाः। कदा उर्वोरुपरि विवक्षितवनिताया पादौ विन्यस्य स्तन-

---

१ "आज्ञापायविपाकसंस्थानविचयाय धर्म्यं" इति सूत्रसूचनात्। २ वच- नात् ख. पुस्तके पाठः। ३ भवरुक्खं, ख.।

कनककलशोपरि करपल्लवौ विधृत्य मुखचुम्बनमधरपानमहं करिष्यामीति स्पर्शनेन्द्रियसुखलम्पट, घृतपानपक्वान्नव्यञ्जनशाल्यन्नादिस्वादमहं ग्रहीष्यामि, कर्पूरकस्तूरीचन्दनागुरुपुष्पादिपरिमलपानं विधास्यामि, स्तनजघनवदनविलोचनविलोकनं प्रणेष्यामि, वीणावंशस्वरमण्डलनवयौवनकामिनीगीतमिश्रं एवं श्रोष्यामीति पंचेन्द्रियविषयमाकांक्षन् व्याकुलोऽयं जीवो भवति। तत्सर्वं पूर्वमनन्तशोऽनुभूतमेव संसारे, न किमपि दुर्लभं वर्तते अन्यत्रात्मस्वरूपसमुत्पन्नसुखामृतपानात्। तथा चोक्तं—

> अदृष्टं किं किमस्पृष्टं किमनाघ्रातमश्रुतं।
> किमनास्वादितं येन पुनर्नवमिवेक्ष्यते ॥ १ ॥

तथा च—

> अङ्गं यद्यपि योषितां प्रविलसत्तारुण्यलावण्यव-
> द्रूपावत्तदपि प्रमोदजनकं मूढात्मनां नो सताम्।
> उच्छूनैर्बहुभिः शवैरतितरां कीर्णं श्मशानस्थलं
> लब्ध्वा तुष्यति कृष्णकाकनिकरो नो राजहंसव्रजः ॥ १ ॥

तथा च—

> समसुखशीलितमनसामशनमपि द्वेषमेति किमु कामाः।
> स्थलमपि दहति झषाणां किमङ्ग ! पुनरङ्गमङ्गाराः ॥ १ ॥

इत्यमृतचन्द्रः। तथा च शुभचन्द्रभगवान्—

> वरमालिङ्गिता क्रुद्धा चलल्लोलात्र सर्पिणी।
> न पुनः कौतुकेनापि नारी नरकपद्धतिः ॥ १ ॥

तथा च शुभचन्द्रः—

> मालतीव मृदून्यासां विद्धि चाङ्गानि योषितां।
> दारयिष्यन्ति मर्माणि विपाके ज्ञास्यसि स्वयं ॥ १ ॥

१ तथा चोक्तं क.। २ उच्छूनैः ख.। ३ विद्धयङ्गानि च योषितां ख.।

काकः कृमिकुलाकीर्णे करङ्के कुरुते रतिम् ।
यथा तद्वद्वराकोऽयं कामी स्त्रीगुह्यमन्थने ॥ २ ॥

तथा च सोमदेवस्वामी चूर्णिगद्येन वैराग्यभावनामाह—

युवजनमृगाणां बन्धनायानाय इव वनितासु कुन्तलकलापः । पुनर्भवमहीरुहारोहणोपाय इव भ्रूलतोल्लासः । संसारसागरपरिभ्रमाय नौयुग्ममिव लोचनयुगलम् । दुःपातशिलाविनिपातनमिव वाचि माधुर्यम् । मृत्युगजप्रलोभनकवल इवायमधरपल्लवः । स्पर्शविषकन्दाङ्कुर इव पयोधरविनिवेशः । यमपाशायतनमिव भुजलतालिङ्गनम् । उत्पत्तिजरामरणत्रयमेव वलीनां त्रयम् । मोहमज्जनकुण्डमिव नाभिमण्डलम् । अखिलगुणविलोपनकरेखेव रोमराजीविनिर्गमः । कालव्यालनिवासभूमिरिव मदनालयस्थानम् । व्यसनागमनतोरणमिवोरुनिर्माणम् । अपि च—

भ्रूधनुर्दृष्टयो बाणास्त्रिशूलं च वलित्रयम् ।
हृदयं कर्तरी यासां ताः कथं न नु घातिकाः ॥ १ ॥
गुणग्रामविलोपेषु साक्षाद्दुर्नीतयः स्त्रियः ।
स्वर्गापवर्गमार्गस्य निसर्गादर्गला इव ॥ २ ॥
गूथकीटो यथा गूथे रतिं कुरुते परं हि ।
तथा ह्यमेध्यसंजाने कामी स्त्रीयोनिना भवेत् ॥ ३ ॥

एवमिन्द्रियसुखाकुला इन्द्रियसुखविमूढा न छिन्दन्ति भववृक्षमिति सम्बन्धः । छिंदति भावसमणा छिन्दन्ति द्विधाकुर्वन्ति खण्डयन्ति भववृक्षमिति सम्बन्धः । के छिन्दन्ति ? भावश्रमणा जिनसम्यक्त्वरत्नमण्डितहृदयस्थलाः । झाणकुडारेण भववृक्षं ध्यानं धर्म्यध्यानं शुक्लध्यानं च तदेव कुठारः कुठारः परशुः इत्यनेन गृह्णातीति कुठारः, ध्यानमेव कुठारो ध्यानकुठारः कर्मकन्दच्छेदनसमर्थस्तेन । भववृक्षं संसारतरुमिति शेषः ।

१ भववृक्षं । २ अत्र हकारभेदस्वनव्यया । द । ३ मु न घ
४ विशारत ।

जह दीवो गब्भहरे मारुयवाहाविवज्जिओ जलइ।
तह रायानिलरहिओ झाणपईवो वि पज्जलइ ॥ १२१ ॥

यथा दीपः गर्भगृहे मारुतबाधाविवर्जितो ज्वलति।
तथा रागानिलरहितो ध्यानप्रदीपोऽपि प्रज्वलति ॥

जह दीवो गब्भहरे यथा दीपो ज्योतिः गर्भगृहेऽपवरके स्थितः सन्। **मारुयवाहाविवज्जिओ जलइ** मारुतस्य सम्बन्धिनी मारुती पक्षाघाये सञ्जाता, बाधा प्रचलाचि करणलक्षणा पीडा तस्या विवर्जितो ज्वलति ज्वलनक्रियां कुर्वाण उद्योतं करोति। **तह रायानिलरहिओ** तथा रागानिलरहितो वनितालिंगनादिप्रीतिलक्षणरागानिलरहितो रागझंझावातविवर्जितो मुनेर्ध्यानप्रदीपः प्रज्वलति उद्योतं करोति। उक्तं च—

जसु हिरणच्छी हियवडइ तासु न बम्भु वियारि।
एक्कहिं केम समंति वढ ! बे खंडा पडियारि ॥ १ ॥

उक्तं च—

यूथपाकुलखण्डमरज्झझावातः प्रकीर्तितः ॥ २ ॥

झायहि पंच वि गुरवे मंगलचउसरणलोयपरियरिए।
णरसुरखेयरमहिए आराहणणायगे वीरे ॥ १२२ ॥

ध्याय पञ्चापि गुरून् मङ्गलचतुःशरणलोकपरिकरितान्।
नरसुरखेचरमहितान् आराधनानायकान् ॥

झायहि पंच वि गुरवे ध्याय त्वं हे मुने! हे आत्मन्! पञ्चापि अर्हत्सिद्धाचार्योपाध्यायसर्वसाधून् पंचपरमेष्ठिनः। कथंभूतान् पञ्चापि गुरून्, **मंगलचउसरणलोयपरियरिए** मंगललोकोत्तमशरणभूतानि त्यर्थः। मलं पापं गालयन्ति मूलादुन्मूलयन्ति निर्मूलकाषं कषन्तीति मंगलं। अथवा मंग सुखं परमानन्दलक्षणं लाति ददतीति मंगलं।

१ इयं गाथा पूर्वं एकोनचत्वारिंशत्तमे पृष्ठे आगता। तत्रैवास्या छाया वर्तते।

एते पचपरमेष्ठिनो मगलमित्युच्यन्ते। लोकेषु भूर्भुव स्वर्लक्षणेषु उत्तमा उत्कृष्टा लोकोत्तमा। एते पचगुरव सर्वेभ्योऽपि वर्या उच्यन्ते। तथा शरण—आर्तिमथनसमर्था इमे पचगुरवो जीवाना शरण प्रतिपाद्यन्ते, चउसरणशब्देनामी, अर्हन्मगल अर्हल्लोकोत्तमा अर्हच्छरण। सिद्धमगल सिद्धलोकोत्तमा सिद्धशरण। साधुमगल साधुलोकोत्तमा साधुशरण। साधुशब्देनाचार्योपाध्यायसर्वसाधवो लभ्यन्ते। तथा केवलिप्रणीतधर्ममगल धर्मलोकोत्तमा धर्मशरण चेति द्वादशमत्रा सूचिता चतु शब्देनेति ज्ञातव्य। एते द्वादशमत्रा प्रणवपूर्वमायाबीजप्रसश्रुतबीजाक्षरपूर्वा ललाटपट्टे गोक्षीरवर्णा लिखिताश्चिन्त्यन्ते। तथा चोक्त—

नेत्रद्वन्द्वे श्रवणयुगले नासिकाग्रे ललाटे
वक्त्रे नाभौ शिरसि हृदये तालुनि भ्रूयुगान्ते।
ध्यानस्थानान्यमलमतिभि कीर्तितान्यत्र देहे
तेष्वेकस्मिन् विगतविषय चित्तमालम्बनीयम्॥ १॥

लोयपरियरिए—लोकोत्तममत्रसहितानित्यर्थ। तथा चानादिसिद्धमत्रो गुरूपदेशान्मन्तव्य। सूरिणा तु सूरिमत्र तिलकमत्रो बृहल्लघुश्च निजगुरुसमीपादुपदेशात् ध्यातव्य इति भावार्थ। णरसुरखेयरमहिए कथभूतान् पचगुरून्, नरसुरखेचरमहितान् नराणा नृपादीना, सुराणा सौधर्मेन्द्रादीना, खेचराणा विद्याधरचक्रवर्तिना, महितान् अष्टविधपूजाद्रव्यैर्भावपूजाभिश्च पूजितान्। पुन कथभूतान् पचगुरून्, आराहणणायगे आराधनाया नायकान् स्वामिन इत्यर्थ। वीरे वीरान् कर्मशत्रुक्षयकरणसमर्थानिति भावार्थ।

णाणमयविमलसीयलसलिलं पाऊण भविय भावेण।
वाहिजरमरणवेयणडाहविमुक्का सिवा होंति॥ १२३॥

ज्ञानमयविमलशीतलसलिलं प्राप्य भव्या भावेन।
व्याधिजरामरणवेदनादाहविमुक्ताः शिवा भवन्ति॥

णाणमयविमलसीयलसलिलं ज्ञानेन निर्वृत्तं ज्ञानमयं सम्यग्ज्ञानमेव विमलं कर्ममलकलङ्करहितं शीतलं परमाह्लादलक्षणसुखोत्पादकं एतद्विशेषणत्रयविशिष्टं सलिलं जलमिति रूपकं। **पाऊण** ज्ञानपानीयं प्राप्य लब्ध्वा। के ते, **भविय** रत्नत्रययोग्या भव्यजीवाः। **भावेण** भावेन जिनभक्त्या। उक्तं च—

सुखयतु सुखभूमिः कामिनं कामिनीव
सुतमिव जननी मां शुद्धशीला भुनक्तु।
कुलमिव गुणभूषा कन्यका संपुनीता-
जिनपतिपदपद्मप्रेक्षिणी दृष्टिलक्ष्मीः॥ १॥

वाहिजरमरणवेयणडाहविमुक्का सिवा होंति व्याधिजरामरणवेदनादाहविमुक्ताः शिवा भवन्ति। ज्ञानजलं पीत्वा ज्ञानजलमाकण्ठं तन्मध्ये मुडित्वा तदवगाह्य परममङ्गलभूताः शिवाः सिद्धा भवन्ति। इति सम्यग्ज्ञानमाहात्म्यं भगवता श्रीकुन्दकुन्दाचार्येण सूरिणोद्भावितं भवतीति भावार्थः।

जह बीयम्मि य दड्ढे ण वि रोहइ अंकुरो य महिवीढे।
तह कम्मबीयदड्ढे भवंकुरो भावसवणाणं॥ १२४॥

यथा बीजे दग्धे नैव रोहति अङ्कुरश्च महीपीठे।
तथा कर्मबीजे दग्धे भवाङ्कुरो भावश्रवणानां॥

जह बीयम्मि य दड्ढे यथा येनप्रकारेण बीजे दग्धे भस्मीकृते। **ण वि रोहइ अंकुरो य महिवीढे** नापि नैव रोहति प्रादुर्भवति। कोऽसौ? अङ्कुरः अभिनव उद्भिज्ज उद्भिद्, महीपीठे भूमितले। चकार उक्तसमुच्चयार्थः, तेन रागद्वेषमोहादयो भावकर्मशाखादयोऽपि न रोहन्ति

तह कम्मबीयदड्ढे तथा कर्मबीजे दग्धे भस्मीकृते। भवंकुरो भावसवणाणं भवाङ्कुरः संसाराङ्कुरो जन्मलक्षणो नापि रोहति न प्रादुर्भवति। केषां, भावसवणाणं-सम्यग्दृष्टिनिरम्बराणां दुर्लक्ष्यपरमात्मभावनाभाविताना भेदज्ञानवतां। उक्तं च—

दुर्लक्ष्यं जयति परं ज्योतिर्वाचां गणः कवीन्द्राणां।
जलमिव वज्रे यस्मिन्नलब्धमध्यो बहिर्लुठति ॥ १ ॥

भावसवणो वि पावइ सुक्खाइं दुहाइं दव्वसवणो य।
इय णाउं गुणदोसे भावेण य संजुदो होह ॥ १२५ ॥

भावश्रवणोपि प्राप्नोति सुखानि दुःखानि द्रव्यश्रवणश्च।
इति ज्ञात्वा गुणदोषान् भावेन च संयुतो भव ॥

भावसवणो वि पावइ भावश्रवणः सम्यग्दृष्टिदिगम्बरोऽपि निश्चयेन प्राप्नोति लभते। कानि प्राप्नोति, **सुक्खाइं** निजात्मोत्थपरमानन्दलक्षणनिराकुलतासहितपरमानन्तसौख्यानि। **दुहाइं दव्वसवणो य** प्राप्नोतीति दीपकोद्योतात् दुःखानि शारीरमानसागन्तुकलक्षणोपलक्षितान्यसातानि द्रव्यश्रवणो मिथ्यादृष्टिदिगम्बरः प्राप्नोति। चशब्दाद्गृहस्थोऽपि सावद्यसंयुक्तो दानपूजास्नपनरहितः पर्वोपवासकातरः चलमलिनागाढरहितसम्यग्दर्शनदुर्विधो व्रतातिचारभग्नपुण्यपादो दूरभव्यतया गुरुचरणनिन्दक आत्महितो न भवति। लौंकस्तु महापापी जिनप्रतिमोच्छेदको नारको भवति। तथा चोक्तं—

सर्वं धर्ममयं क्वचित्क्वचिदपि प्रायेण पापात्मकं
क्वाप्येतद्द्वयवत् करोति चरितं प्रज्ञाधनानामपि।
तस्मादेतदिहान्धरज्जुवलनं स्नानं गजस्याथवा
मत्तोन्मत्तविचेष्टितं न हि हितो गेहाश्रमः सर्वथा ॥ १ ॥

इय णाउं गुणदोसे इति ज्ञात्वा गुणदोषान्। भावेण य संजुदो होहे भावेन जिनभक्तिनिजात्मभावनापचगुरुचरणरेणुरजितभालस्थल-सयुतो भव । एव सति श सुख तेन युक्तो भव हे मुने । हे जीवेति सम्बोधन ।

तित्थयरगणहराइं अब्भुदयपरपराइं सोक्खाइं ।
पावंति भावसहिया संखेवि जिणेहिं वज्जरियं ॥ १२६

तीर्थकरगणधरादीनि अभ्युदयपरम्पराणि सौख्यानि ।
प्राप्नुवन्ति भावसहिता सक्षेपन जिनै कथित ॥

तित्थयरगणहराइं तीर्थकरगणधरादीनि सौख्यानीति सम्बन्ध । तीर्थकराणां धर्मोपदेशकाले तीर्थकरा कमलोपरि पादौ न्यस्यन्ति, अशोकवृक्षच्छायायामुपविशन्ति, तेषामुपरि द्वादशयोजनमभिव्याप्य देवा पुष्पवर्षण विरचयन्ति, तानि तु पुष्पाणि उपरि मुखानि अधोवृन्तानि अवतिष्ठन्ते, जानुपर्यन्त पतन्ति, मुनीनामागमने मुनिपुगवा मार्गं लभन्ते, भ्रमरपरीतानि कमलोत्पलकैरवेन्दीवरराजचपकजातिमुक्तस्वनाङ्हासबकुलकेतकमन्दारमुचकुन्दनमेरुपारिजातसन्तानककल्हारकुरुरक्तसेवन्तकसुकुन्दवृन्दानि पतन्ति, पचाशल्लक्षद्वादशकोटिपटहा अपराणि च वादित्राणि वेणुवल्लकिपणवमृदंगत्रिवलितालकाहलकम्बुप्रभृतीनि सख्यातीतानि भ्रमरचरकुमारकराग्रस्फलितानि समुर्वन्तरिक्षलक्षाणि ध्वनन्ति, सजलजलधरगर्जितमिव स्वामिनो योजनैक यावद्ध्वनिर्भव्यजनैराकर्ण्यते, हसांसोज्ज्वलानि चतु षष्टिचामराणि पतन्त्युत्पतन्ति च, पचशतधनुरुन्नतं सिंहविष्टरं भवति, योजनैकप्रमाण सभामभिव्याप्य कोटिभास्करयुगपदुद्योतिशरीरतेजो भवति, तच्च शारदेन्दुपरिपूर्णमण्डलमिव लोचनाना प्रियतमं भवति, एकदण्डानि उपर्युपरि त्रीणि छत्राणि मस्तकोपरि सभ-

१ होइ ख ।

वति, इत्यादीनि चतुस्त्रिंशदतिशयपञ्चकल्याणादीनि जिनोत्तमाना सु खानि बाह्यानि भवन्ति, अनन्तज्ञानानन्तदर्शनानन्तवीर्यानन्तसुखानि चाभ्यन्तरसुखानि भगवता भवन्ति। तथा भावश्रवणा (ना) गणधरदेवाना तीर्थकरयुवराज्यसौख्यानि भवन्ति। **अब्भुदयपरंपराइं सोक्खाइं** इन्द्रपदतीर्थकरकल्याणत्रयलक्षणानि कल्याणपरम्पराणि सौख्यानि भावश्रवणा अभ्यन्तरमहामुनयो भुञ्जत इति भावार्थ । **पावंति भावसहिया** प्राप्नुवन्ति लभन्ते, के ते ? भावसहिता सम्यक्त्वचिन्तामणिमण्डितमनस्कत्वं खलु दिगम्बरा । **संखेवि जिणेहिं वज्जरियं** सक्षेपेण समासेनोक्तमिद वचन जिनै कथितमिति भावार्थ ।

ते धण्णा ताण णमो दंसणवरणाणचरणसुद्धाणं ।
भावसहियाण णिच्च तिविहेण पणट्ठमायाण ॥ १२७ ॥

ते धन्यास्तेभ्यो नम दर्शनवरज्ञानचरणशुद्धेभ्य ।
भावसहितेभ्यो नित्य त्रिविधेन प्रनष्टमायेभ्यः

ते धण्णा ताण णमो ते मुनिपुगवा धन्या पुण्यवन्त तेभ्योऽस्माक श्रीकुन्दकुन्दाचार्याणा नम नमस्कारो भवतु नमोऽस्तु स्तात् । **दंसणवरणाणचरणसुद्धाणं** सम्यग्दर्शनसम्यग्ज्ञानसम्यक्चरणानि शुद्धानि निरतिचाराणि येषा, सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रैर्वा ये शुद्धा कर्ममलकलङ्करहिता दर्शनवरज्ञानचरणशुद्धा ये मुनिपुगवा तेभ्यो नम । कथभूतेभ्यस्तेभ्य , **भावसहियाण** भावन शुद्धात्मपरिणामेन जिनसम्यक्त्वेन च सहिताना सयुक्तेभ्य इत्यर्थ । ननु नम स्वस्तिस्वाहास्वधालंवषड्योगे चतुर्थी भवति तत्कथमत्र षष्ठीनिर्देश ? सत्य, संस्कृते तद्योग चतुर्थी प्रोक्ता, न तु प्राकृते । कथ ? नित्य-सर्वकाल-नमोनमोस्तु इत्यस्य विशेषणमिद । केन कृत्वा नम , **तिविहेण** मनोवाका

यल्लक्षणेन नमस्कारेण नमो न तु हास्येन। कथंभूतानां तेषां, **पणट्ठमायाणं** प्रणष्टा विनाशं प्राप्ता माया परवंचना येषां ते प्रणष्टमायास्तेषां।

इड्डिमतुलं विउव्विय किण्णरकिंपुरिसअमरखयरेहिं।
तेहिं वि ण जाइ मोहं जिणभावणभाविओ धीरो ॥१२८॥

ऋद्धिमतुलां विकृतां किंनरकिम्पुरुषामरखचरैः।
तैरपि न याति मोहं जिनभावनाभावितो धीरः ॥

इड्डिमतुलं विउव्विय ऋद्धिः पूर्वोक्तलक्षणा, अतुला अनुपमा, विकुर्विता विक्रियाकृता निजतद्भवान्यभवतपोमहिमसंजाता। तथा **किण्णरकिंपुरिसअमरखयरेहिं** किन्नरैः, किम्पुरुषैः, अमरैः कल्पवासिप्रभृतिभिश्च निहिता ऋद्धिः। **तेहिं वि ण जाइ मोहं** तैरपि किन्नरकिम्पुरुषामरखचरैरपि मोहं न याति लोभं न गच्छति। कोऽसौ, **जिणभावणभाविओ धीरो** जिनभावनया निर्मलसम्यक्त्वेन भावितो वासितो धीरो योगीश्वरः। ध्येयं प्रति धियमीरयतीति धीरः।

किं पुण गच्छइ मोहं णरसुरसुक्खाण अप्पसाराणं
जाणंतो पस्संतो चिंतंतो मोक्ख मुणिधवलो ॥१२९॥

किं पुन गच्छति मोहं नरसुरसुखानामल्पसाराणाम्।
जानन् पश्यन् चिन्तयन् मोक्षं मुनिधवलः ॥

किं पुण गच्छइ मोहं किं पुनर्गच्छति मोहं लोभं। **णरसुरसुक्खाण अप्पसाराणं** नराणां नृपादीनां सम्बन्धिनां, सुराणामिन्द्रादीनां देवानां सम्बन्धिनां सौख्यानां मोहं लोभं किं गच्छति—अपि तु न गच्छति। कथंभूतानां सौख्यानां, अल्पसाराणां स्तोकप्रशस्यानां वा अल्पस्वादानामित्यर्थः। **जाणंतो पस्संतो** जानन्नपि अनुभूय दृष्ट्वा

१ न. टी.। २ धीराः क.।

जानन्नपि, पस्सतो—पश्यन् प्रत्यक्ष चक्षुर्भ्यां निरीक्षमाणोऽपि। **चिंततो मोक्ख मुणिधवलो** चिन्तयन्नपि विचारयन्नपि, किं [१] मोक्ष सर्वकर्म क्षयलक्षणं मोक्ष परमनिर्वाणसुख अनन्तसौख्यदायक परमनिर्वाणसुखं जानन्नपीत्यादिसम्बन्ध, मुनिधवल मुनीना मुनिषु वा धवलो निर्मल चारित्रभरोद्धरणधुरधरो वृषभ श्रेष्ठ इत्यर्थ।

उत्थरइ जा ण जरओ रोयग्गी जा ण डहइ देहउडिं।
इंदियबलं न वियलइ ताव तुमं कुणहि अप्पहियं ॥१३०॥

आक्रमते यावन्न जरा रोगाग्नि यावन्न दहति देहकुटिम्।
इन्द्रियबल न विगलति तावत् त्व कुरु आत्महितम्॥

उत्थरइ जा ण जरओ आक्रमते यावन्न जरा। "छुंदोत्थारोहात्रा आक्रमे" इति प्राकृतव्याकरणसूत्रेण आक्रमधातोरुत्थार इत्यादेश। तर्हि उत्थारइ इतीदृशं रूप स्यात् [१] प्राकृते ह्रस्वदीर्घौ मिथ भवत "अचामच प्रायेण" इति सूत्रेण, तत्र नास्ति दोष "आङो ज्योतिरुद्गमे" इति रचादिपाठादाक्रमे पदं। अथवा **उत्थारइ जा ण जरा** इति च क्वचित् पाठ। **रोयग्गी जा ण डहइ देहउडिं** रोगाग्नि-र्यावन्न दहति न भस्मीकरोति, का [२] देहकुटिं शरीरपर्णशाला। **इंदिय बलं न वियलइ** इन्द्रियाणा चक्षुरादीनां बल सामर्थ्यं यावत्काल न विगलति। इंदियबल न वियलं इति पाठे इन्द्रियबलं यावद्विकलं हीन न भवति। **ताव तुमं कुणहि अप्पहियं** तावत्त्वं हे मुनिपुङ्गव! कुरु विधेहि, किं [२] आत्महितं मोक्षं साधयेत्यर्थ। उक्तं च—

पलितच्छलेन देहान्निर्गच्छति शुद्धिरेव तव बुद्धेः।
कथमिव परलोकार्थं जरी वराकस्तदा स्मरसि॥ १॥

१ स्मरति पाठान्तरमन्यत्र।

आतङ्कशोकभयभोगकलत्रपुत्रै-
यः खेदयेन्मनुजजन्म मनोरथासं ।
नूनं स भस्मकृतधीरिह रत्नराशि-
मुद्दीपयेत्तनुमोहमलीमसात्मा ॥ २ ॥
अधोग्रीव तिरस्कृता परतिरस्कारश्रुतीनां श्रुति-
श्चक्षुर्वीक्षितुमक्षम तव दशां दूष्यामिवान्ध्यं गतं ।
भीत्येवाभिमुखान्तकादतितरां कायोऽप्ययं कंपते
निष्कंपस्त्वमहो प्रदीप्तभवनेऽप्यासे जराजर्जरः ॥३॥

छज्जीवछडायदणं णिच्चं मणवयणकायजोएहिं ।
कुरु दय परिहर मुणिवर भावि अपुव्वं महासत्त ॥१३१॥

षड्जीवषडायतनानां नित्य मनोवचनकाययोगैः ।
कुरु दयां परिहर मुनिवर ! भावय अपूर्वं महासत्व ! ॥

छज्जीवछडायदणं षड्जीवानां दयां कुरु, षडायतनानि परिहर। कथं, **णिच्चं** सर्वकालं । **मणवयणकायजोएहिं** मनोवचनकाययोगैः । **कुरु दय परिहर मुणिवर** हे मुनिवर मुनीनां श्रेष्ठ [1]। **भावि अपुव्वं महासत्त** भावय अपूर्वं आत्मभावनं हे महासत्व महाप्रसन्नधर्मपरिणाम ! ।

" अभावियं भावेमि भाविय ॥ भावेमि। "

इति श्रीगौतमोक्तत्वात् ।

दसविहपाणाहारो अणंतभवसायरे भमंतेण ।
भोयसुहकारणट्ठं कदो य तिविहेण सयलजीवाणं ॥१३२॥

दशविधप्राणाहारः अनन्तभवसागरे भ्रमता ।
भोगसुखकारणार्थं कृतश्च त्रिविधेन सकलजीवानाम् ॥

दसविहपाणाहारो दशविधानां प्राणानामाहारः पंचेन्द्रियाणि मानवानां तिरश्चां च त्वया कवलितानि, मनोवचनकायलक्षणास्त्रयो बलप्राणास्त्वया हे जीव ! भक्षिताः, उच्छ्वासप्राणोऽपि त्वया चर्वितः, आयुःप्राणश्चोदराग्निभाजनं कृतः । **अणंतभवसायरे भमंतेण** अनन्तानन्त-

१ नि शक. ख । २ जर्जरे अन्यत्र ।

ससारसमुद्रे भ्रमता पर्यटता । **भोयसुहकारणट्ठं** भोगसुखकारणार्थं जिन्होपस्थसंजातसुखहेतवे । **कद्दो य तिविहेण सयलजीनाणं** दशप्राणाना त्वया आहार कृत त्रिविधेन मनसा वाचा वपुषा चेति सकलजीवाना चातुर्गतिकप्राणिना ।

पाणिवहेहि महाजस चउरासीलक्खजोणिमज्झम्मि ।
उप्पज्जंतमरंतो पत्तोसि निरतर दुक्खं ॥ १३३ ॥

प्राणिवधै महायश ! चतुरशीतिलक्षयोनिमध्ये ।
उत्पद्यमानम्रियमाण प्राप्तासि निरन्तरं दुःखम् ॥

पाणिवहेहि महाजस प्राणिना वधै कृत्वा हे महायश ! । **चउरासीलक्खजोणिमज्झम्मि** चतुरशीतिलक्षयोनीना मध्ये । **उप्पज्जंत मरंतो** उत्पद्यमाना म्रियमाणश्च । **पत्तोसि निरतर दुक्खं** प्राप्तोऽसि लब्धवानसि निरन्तरमविच्छिन्न दु ख शारीरमानसागन्तुकलक्षण । चतुरशीतिलक्षयोनीना विवरणनिर्देश पूर्वोक्त एव ज्ञातव्य ।

जीवाणमभयदाणं देह मुणी पाणभूदसत्ताणं ।
कल्लाणसुहनिमित्तं परपरा तिविहसुद्धीए ॥ १३४ ॥

जीवानामभयदान देहि मुने ! प्राणभूतसत्त्वानाम् ।
कल्याणसुखनिमित्त परम्परा त्रिविधशुद्धया ॥

जीवाणमभयदाणं जीवानामभयदान । **देह मुणी पाणभूदसत्ताणं** हे मुने ! त्व देहि प्रयच्छ न केवल जीवाना अभयदान देहि—अपि तु प्राणभूतसत्त्वाना । किमर्थमभयदानं देहि ? **कल्लाणसुहनिमित्तं** तीर्थकरनामकर्मबन्धनार्थं गर्भावतारजन्माभिषेकनिष्क्रमणज्ञाननिर्वाणपचकल्याणसुखपरपरानिमित्त सुखश्रेणिकारण अभयदानमित्यर्थः । **तिविहसुद्धीए** त्रिविधशुद्धया मनोवचनकायनिर्मलतया अभयदान देहि । उक्त च—

अभयदाणु भयभीरुह जीवह दिण्णु ण आसि ।
वारवारमरणह डरहि केम्ब चिराउ सुहोसि ॥ १ ॥

तथा चोक्तं—

एका जीवदयैकत्र परत्र सकला क्रिया ।
परं फलं तु सर्वत्र कृषेश्चिन्तामणेरिव ॥ १ ॥
आयुष्मान् सुभगः श्रीमान् सुरूपः कीर्तिमान्नरः ।
अहिंसाव्रतमाहात्म्यादेकस्मादेव जायते ॥ २ ॥

उक्तं च—

द्वित्रिचतुरिन्द्रियाः प्राणा भूतास्ते तरवः स्मृताः ।
जीवाः पञ्चेन्द्रिया ज्ञेयाः शेषाः सत्त्वाः प्रकीर्तिताः ॥ १ ॥

असियसय किरियवाई अकिरियाण च होइ चुलसीदी ।
सत्तट्ठी अण्णाणी वेणैया होंति बत्तीसा ॥ १३५ ॥

अशीतिशतं क्रियावादिनाम् अक्रियाणां च भवति चतुरशीतिः ।
सप्तषष्टिरज्ञानिनां वैनयिकानां भवन्ति द्वात्रिंशत् ॥

असियसय किरियवाई अशीत्यग्रं शतं क्रियावादिनां श्राद्धादिक्रियामन्यमानानां ब्राह्मणानां भवति। **अक्किरियाण च होइ चुलसीदी** अक्रियावादिनां दुग्धदधिमण्डगोरसोत्पन्नानां तन्दुलोदककाथोदकादिसमाचारासमाश्रयिणां श्वेतपटानां प्रायः कपटानां मायाबाहुलानां चतुरशीतिः सशयिनां मिथ्यात्वभेदा भवन्ति। **सत्तट्ठी अण्णाणी** सप्तषष्टिरज्ञानेन मोक्षं [illegible]नानां मस्करपूरणमतानुसारिणां भवति। **वेणैया होंति बत्तीसा** विनयात् मातृपितृनृपलोकादिविनयेन मोक्षक्षेपिणां तापसानुसारिणां द्वात्रिंशन्मतानि भवन्ति । एवं त्रिषष्ट्यग्राणि त्रीणि शतानि

१ अभयदानं भयभीतानां जीवानां दत्तो नासि ।
वारंवारमरणात् बिभेषि कथं चिरायुः सुभवसि ॥

२ नरः पुण्यधनेश्वरः ख । ३ द्विनानां ख । ४ शा टी । ५ मोक्षापिणा ख ।

मिथ्यावादिना भवन्ति तानि त्याज्यानीत्यर्थः । १८०+८४+६७+३२=३६३[1]।

ण मुयइ पयडि अभव्वो सुट्ठु वि आयण्णिऊण जिणधम्मं ।
गुडदुद्धं पि पिबंता ण पण्णया णिव्विसा होंति ॥ १३६ ॥

न मुञ्चति प्रकृतिमभव्यः सुष्ठु अपि आकर्ण्य जिनधर्मम् ।
गुडदुग्धमपि पिबन्तः न पन्नगा निर्विषा भवन्ति ॥

ण मुयइ पयडि अभव्वो न मुञ्चति प्रकृतिं मिथ्यात्वं अभव्यो दूरभव्यो वा लौंकादिमिथ्यादृष्टिः पापिष्ठः । **सट्ठु वि आयण्णिऊण जिणधम्मं** सुष्ठु अपि आकर्ण्य श्रुत्वा जिनधर्मं दिगम्बरशास्त्रं । **गुडदुद्धं पि पिबंता** गुडेन मिश्रं दुग्धं गुडदुग्धं पिबन्तोऽपि । **ण पण्णया णिव्विसा होंति** न पन्नगाः सर्पाः निर्विषा विषरहिता भवन्ति संजायन्ते ।

तथा चोक्तं—

बहुसत्थइं जाणियइं धम्मु ण चरइ मुयोवि ।
दिणयर सउअइ उग्गमइ घूहड्ड अधउ तो वि ॥ १ ॥

मिच्छत्तछण्णादिट्ठी दुद्धी रागगहगहियचित्तेहिं ।
धम्मं जिणपण्णत्तं अभव्वजीवो ण रोचेदि ॥ १३७ ॥

मिथ्यात्वछन्नदृष्टिः दुर्धीः रागग्रहगृहीतचित्तैः ।
धर्मं जिनप्रणीतं अभव्यजीवो न रोचयति ॥

मिच्छत्तछण्णादिट्ठी मिथ्यात्वेन छन्ना आवृता दृष्टिर्ज्ञानलोचनं यस्य स मिथ्यात्वच्छन्नदृष्टिः अज्ञानो मिथ्यादृष्टिः । **दुद्धी** दुष्टा धीर्बुद्धिर्यस्य स दुर्धीः दुर्बुद्धिः । **रागगहगहियचित्तेहिं** रागग्रहगृहीतचित्तैः रागो दुर्मार्गाश्रिता प्रीतिः स एव ग्रहः पिशाचः तेन गृहीतानि चित्तानि अभिप्राया रागग्रहगृहीतचित्तानि तैः रागग्रहगृहीतचित्तैः करणभूतैः

---

1 १८० । ८४ । ६७ । ३२ एकत्रकृते ३६३ स । २६ टी ।३ तद्गु क ।

नानानयदुष्टपरिणामैरित्यर्थः । धम्मं जिणपण्णत्तं धर्मं जिनेन केवलिना प्रणीतं । अभव्वजीवो ण रोचेदि अभव्यजीवो रत्नत्रयायोग्यो जीव आत्मा न रोचयति न श्रद्दधाति ।

कुच्छियधम्मम्मि रओ कुच्छियपासंडिभत्तिसंजुत्तो ।
कुच्छियतवं कुणंतो कुच्छियगइभायणो होइ ॥ १३८ ॥

कुत्सितधर्मे रतः कुत्सितपाषण्डिभक्तिसंयुक्तः ।
कुत्सिततपः कुर्वन् कुत्सितगतिभाजनं भवति ॥

कुच्छियधम्मम्मि रओ कुत्सितधर्मे हिंसाधर्मे रतस्तत्परोऽनुरागवान्। कुच्छियपासंडिभत्तिसंजुत्तो कुत्सिता ऋषिपत्नीपादपद्मसरस्वमस्तका ये पाषण्डिनो वशिष्ठदुर्वासपाराशरयाज्ञवल्क्यजमदग्निविश्वामित्रभरद्वाजगौतमगर्गभार्गवप्रभृतय उपनिषत्प्रान्ते उक्ताश्च अतीता वर्तमानाश्च तेषां पाषण्डिनां भक्तिसंयुक्ताः करयोटनपादपतनभोजनदानादिसस्पृहमनाः । कुच्छियतवं कुणंतो कुत्सितं तप एकपादेनोर्द्धीभूतोर्ध्वहस्तजटाधारणत्रिकालजलस्नानपञ्चाग्निसाधनादिकुत्सितं तपः कुर्वन् । कुच्छियगइभायणो होइ कुत्सितगतेर्नारकतिर्यग्योनिमध्यिनासुरव्यन्तरज्योतिष्ककिल्बिषिकवाहनदेवादिगतेर्भाजनं स्थानं भवति—अनन्तसंसारी च स्यात् । "ब्रह्मणे ब्राह्मणमालभेत" इत्यादि कुत्सितो धर्मो ज्ञातव्यः ।

इय मिच्छत्तावासे कुणयकुसत्थेहि मोहिओ जीवो ।
भमिओ अणाइकालं संसारे धीर चिंतेहि ॥ १३९ ॥

इति मिथ्यात्वावासे कुनयकुशास्त्रैः मोहितो जीवः ।
भ्रान्तः अनादिकालं संसारे धीर ! चिन्तय ॥

इय मिच्छत्तावासे इति अमुना प्रकारेण मिथ्यात्वावासे मिथ्यात्वास्पदे प्रायेण मिथ्यात्वभूते संसारे इति सम्बन्धः । कुणयकुसत्थेहि

मोहिओ जीवो कुनयै कुत्सितनयैः सर्वथैकान्तरूपैः, कुशास्त्रैः चतुर्वेदाष्टादशपुराणाष्टादशस्मृत्युभयमीमांसादिशास्त्रैः मोहितो भ्रान्तिं प्राप्तो जीव आत्मा। **भमिओ अणाइकालं** भ्रान्तोऽयं पर्यटितो जीवोऽनादिकाले उत्सर्पिण्यवसर्पिणीकालबहुलं। **संसारे धीर चिंतेहि** हे धीर ! हे योगीश्वर ! संसारे भवे भ्रान्त इति चिन्तय विचारय।

पासंडी तिण्णि सया तिसट्ठिभेया उमग्ग मुत्तूण।
रुंभहि मणु जिणमग्गे असप्पलावेण किं बहुणा ॥१४०॥

पाषण्डिनः त्रीणि शतानि त्रिषष्टिभेदा उन्मार्गं मुक्त्वा।
रुन्द्धि मनो जिनमार्गे असत्प्रलापेन किं बहुना ॥

पासंडी तिण्णि सया पाषण्डिनस्त्रीणि शतानि। **तिसट्ठिभेया उम्मग्ग मुत्तूण** तथा त्रिषष्टिभेदा उन्मार्गं मुक्त्वा। **रुंभहि मणु जिणमग्गे** रुन्द्धि मनो जिनमार्गे जिनधर्मे त्वं स्थापय। **असप्पलावेण किं बहुणा** असत्प्रलापेनानर्थकेन वचसा बहुना प्रचुरतरेण किं ? न किमपीत्याक्षेपः।

जीवविमुक्को सवओ दंसणमुक्को य होइ चलसवओ।
सवओ लोयअपुज्जो लोउत्तरयम्मि चलसवओ ॥१४१॥

जीवविमुक्तः शवः दर्शनमुक्तश्च भवति चलशवकः॥
शवको लोकापूज्यः लोकोत्तरे चलशवकः॥

जीवविमुक्को सवओ जीवविमुक्तो जीवेन रहितः कायो लोके शव उच्यते। **दंसणमुक्को य होइ चलसवओ** दर्शनमुक्तः पुमान् सम्यक्त्वहीनो जीवश्च भवति चलशवकः चलितः मृतकः। **सवओ लोयअपुज्जो** जीवरहितः शवको लोकानामपूज्यः, अपूज्यत्वादेव भूमौ निखन्यते, अग्निना भस्मीक्रियते वा। **लोउत्तरयम्मि चलसवओ** लोकोत्तरे लोके

जैनलोके चलसवओ–सचेष्टितमृतकं मिथ्यादृष्टिर्मुनि लोकोत्तराणां सम्यग्दृष्टिलोकाना अपूज्योऽमाननीयो भवति । इति भावप्राभृतस्य गोप्यत्वं यत्सद्दृष्टिना जीवेन भवितव्यमिति । लौकास्तु पापिष्टा मिथ्यादृष्टयो जिनस्नपनपूजनप्रतिबन्धकत्वात् तेषां समापण न कर्तव्य तत्समापणे महापापमुत्पद्यते । तथा चोक्तं कालिदासेन महाकविना—

निवार्यतामालि ! किमप्ययं वटु
पुनर्विवक्षुः स्फुरितोत्तराधरः ।
न केवलं यो महतां विभाषते
शृणोति तस्मादपि यः स पापभाक् ॥ १ ॥

तेन जिनमुनिनिन्दका लौंका परिहर्तव्या । तथा चोक्तं—

खलानां कण्टकानां च द्विधैव प्रतिक्रिया ।
उपानन्मुखभंगो वा दूरतः परिवर्जनम् ॥ १॥

जह तारयाण चंदो मयराओ मयउलाण सव्वाणं ।
अहिओ तह सम्मत्तो रिसिसावयदुविहधम्माणं ॥१४२॥

यथा तारकाणां चन्द्रः मृगराजो मृगकुलानां सर्वेषाम् ।
अधिकं तथा सम्यक्त्वं ऋषिश्रावकद्विविधधर्माणाम् ॥

जह तारयाण चंदो यथा तारकाणां ताराणां मध्ये चन्द्रोऽधिक इति सम्बन्धः । **मयराओ मयउलाण सव्वाणं** मृगराजः सिंहः मृगकुलानां मध्ये सर्वेषामपि अधिकः प्रधानभूतः । **अहिओ तह सम्मत्तो** अधिकं तथा सम्यक्त्वं । केषां मध्ये सम्यक्त्वमधिकं, **रिसिसावयदुविहधम्माणं** ऋषीणां दिगम्बराणां श्रावकाणां च देशयतीनां द्विविधधर्माणां मध्ये सम्यक्त्वमधिकं प्रधानभूतमित्यर्थः । अस्य षट्प्राभृतग्रन्थस्य प्रारम्भपरिसमाप्तिपर्यन्तं सम्यक्त्वमेव प्रशंसितमिति तात्पर्यार्थो ज्ञातव्य इति भावः ।

जह फणिराओ रेहइ फणमणिमाणिक्ककिरणविप्फुरिओ ।
तह विमलदंसणधरो जिणभत्तीपवयणो जीवो ॥ १४३ ॥

यथा फणिराजो राजते फणमणिमाणिक्यकिरणविस्फुरितः ।
तथा विमलदर्शनधरः जिनभक्तिप्रवचनो जीवः ॥

जह फणिराओ रेहइ यथा फणिराजा धरणेन्द्रो राजते शोभते । कथंभूतः सन् राजते, **फणमणिमाणिक्ककिरणविप्फुरिओ** फणानां सहस्रसंख्यफणानां सम्बन्धिनो ये मणयस्तेषु मध्ये यन्माणिक्यं पद्मरागमणिः मध्यफणाया उपरि स्थितं यच्छ्रेष्ठरत्नं तस्य सर्वोत्तमरत्नस्य ये किरणाः रश्मयस्तैर्विस्फुरितो धरणेन्द्रः शेषनागनामा पद्मावतीदेवी-प्राणवल्लभः पातालस्वर्गलोकस्वामी यथा शोभते । **तह विमलदंसणधरो** तथा तेन प्रकारेण विमलदर्शनधरो निर्मलसम्यक्त्वमंडितो मुनिः श्रावको वा । **जिणभत्तीपवयणो जीवो** जिनभक्तिरेव प्रवचनं गोप्य-तत्त्वसिद्धान्तं, जीव आत्मा चातुर्गतिकोऽपि पंचेन्द्रियसंज्ञिजीवः शोभते । तथा चोक्तं—

सम्यग्दर्शनसम्पन्नमपि मातङ्गदेहजं ।
देवा देवं विदुर्भस्मगूढाङ्गारान्तरौजसं ॥ १ ॥

जह तारायणसहियं ससहरबिंबं खमंडले विमले ।
भाविय तह वयविमलं जिणलिंगं दंसणविसुद्धं ॥१४४॥

यथा तारागणसहितं शशधरबिम्बं खमण्डले विमले ।
भावितं तथा व्रतविमलं जिनलिङ्गं दर्शनविशुद्धम् ॥

जह तारायणसहियं यथा येन प्रकारेण तारागणसहितं । **ससहरबिंबं खमंडले विमले** शशधरबिंबं चन्द्रमण्डलं खमण्डले गगनमण्डले । कथंभूते, विमलेऽभ्रपटलादिरहिते । **भाविय तह वयविमलं** तथा तेन

प्रकारेण भावितव्रत व्रतैर्मण्डितं निरतिचारव्रतसहितं । **जिणलिंगं दंसणविसुद्धं** जिनलिंग निग्रन्थमुनिपुंगवरूप दर्शनेन सम्यक्त्वेन विशुद्धं निर्मलं जिनशासने शोभते इति शेष ।

इय णाउं गुणदोसं दंसणरयणं धरेह भावेण ।
सारं गुणरयणाणं सोवाणं पढम मोक्खस्स ॥ १४५ ॥

इति ज्ञात्वा गुणदोष दर्शनरत्न धरत भावेन ।
सारं गुणरत्नानां सोपान प्रथम मोक्षस्य ॥

इय णाउं गुणदोसं इत्यमुना प्रकारेण ज्ञात्वा सम्यग्विचार्य गुणदोष, सम्यक्त्वगुणरत्नमण्डित पुमान् गुणवान् मिथ्यात्वेन दूषितो जीवो महापातकीति विज्ञाय । **दंसणरयणं धरेह भावेण** दर्शनरत्न सम्यक्त्वरत्नं धरत यूयं भावेन शुद्धपरिणामेन कपट परित्यज्येत्यर्थ । **सारं गुणरयणाणं** सारं उत्तमं गुणरत्नानां मध्ये व्रतसमितिगुप्त्यादीनां मध्ये दानपूजोपवासशीलव्रतादीनां च मध्ये सम्यक्त्वरत्नं सारं उत्तमं धरत यूयं हे भव्या ! । कथंभूतं, **सोवाणं पढम मोक्खस्स** सोपान आरोहण पादारोपणस्थानं पढमं प्रथमं । कस्य, मोक्षस्य सर्वकर्मक्षयलक्षणोपलक्षितस्य मोक्षप्रासादस्योपरितनभूम्युपरिगमने, सिद्धपर्यायप्रापणमित्यर्थ ।

कत्ता भोइ अमुत्तो सरीरमित्तो अणाइणिहणो य ।
दंसणणाणुवओगो णिद्दिट्ठो जिणवरिंदेहिं ॥ १४६ ॥

कर्ता भोगी अमूर्त शरीरमात्र अनादिनिधनश्च ।
दर्शनज्ञानोपयोग निर्दिष्टो जिनवरेन्द्रै ॥

कत्ता भोइ अमुत्तो जीवशब्द पूर्वोक्त एव प्राप्य । तेन जीव आत्मा कर्ता वर्तते । न केवलं कर्ता पुण्यस्य पापस्य च अपि तु भोगी पुण्यस्य पापस्य च फलस्य भोक्ता आस्वादक इति व्यवहार, निश्चयेन

तु केवलज्ञानस्य केवलदर्शनस्य च कर्ता वर्तते। तथा अनन्तसुखस्य भोक्ता अनन्तवीर्यस्य च। अमूर्तो मूर्ते शरीराद्रहित इति निश्चय, व्यवहारेण तु कर्मबन्धप्रबन्धात् शरीरसयुक्तत्वाच्च मूर्त इत्युच्यते। **शरीरमित्तो अणाइणिहणो य** शरीरमात्र शरीरप्रमाण आत्मा वर्तत इति व्यवहार तत्सुखदु खाद्यावेदकत्वात, निश्चयेन तु असख्यातप्रदेशो लोकप्रमाण। अनादिनिधनश्च जीवस्यादिर्नास्ति निधन विनाशश्च न वर्तते। **दंसणणाणुवओगो** दर्शनज्ञानोपयोग व्यवहारेण चत्वारि दर्शनानि अष्टज्ञानानि उभयाभ्या द्विविधोपयोग, निश्चयेन तु केवलज्ञानकेवलदर्शनाभ्या द्विविधोपयोग परमनिश्चयेन तु आत्मा केवलज्ञानमेव तन्मयत्वात्। **णिद्दिट्ठो जिणवरिंदेहि** निर्दिष्ट प्रतिपादित कथित आत्मा जिनवरेन्द्रै सर्वज्ञवीतरागैरिति तात्पर्यार्थ।

> दंसणणाणावरणं मोहणियं अंतराइयं कम्मं।
> णिट्ठवइ भवियजीवो सम्मं जिणभावणाजुत्तो ॥ १४७॥

> दर्शनज्ञानावरण मोहनीयमन्तरायं कर्म।
> निष्ठापयति भव्यजीव सम्यग्जिनभावनायुक्त ॥

दंसणणाणावरणं दर्शनावरण नवविध, तत्र चक्षुर्दर्शनावरण अचक्षुर्दर्शनावरणं अवधिदर्शनावरण केवदर्शनावरण चेति चतुर्विध दर्शनावरण निद्रा निद्रानिद्रा प्रचला-प्रचलाप्रचला-स्त्यानगृद्धिश्चेति पचविधा निद्रा एवं नवविध दर्शनावरणं। मतिज्ञानावरण श्रुतज्ञानावरणं अवधिज्ञानावरण मन पर्ययज्ञानावरण केवलज्ञानावरणं चेति पचविधं ज्ञानावरणं। **मोहणियं अंतराइयं कम्मं** मोहनीयं कर्म अष्टाविंशतिभेदं, अन्तरायं कर्म पंचभेदं। तत्राष्टाविंशतिभेदं मोहनीय कर्म यथा–तत्र त्रिविधं दर्शनमोहनीयं सम्यक्त्व मिथ्यात्व सम्यग्मिथ्यात्वं चेति। चारि-

त्रमोहनीय पञ्चविंशतिभेदं, अकपायभेदा नव हास्यं रति अरति शोको भय जुगुप्सा स्त्रीवेद पुंवेदो नपुंसकवेदश्चेति नव नोकषाया अकषाया उच्यन्ते यथाख्यातचारित्रघातकत्वात्। षोडशकषाया । तथाहि-अनन्तानुबन्धी क्रोधोऽनन्तानुबन्धी मानोऽनन्तानुबन्धिनी मायाऽनन्तानुबन्धिनो लोभश्चेति चत्वार कषाया सम्यक्त्वघातका पूर्वोक्त त्रिविधं दर्शनमोहनीयं च । अप्रत्याख्यानक्रोधोऽप्रत्याख्यानमानोऽप्रत्याख्यानमायाऽप्रत्याख्यानलोभश्चेति चत्वार कषाया श्रावकव्रतघातका । प्रत्याख्यानक्रोध प्रत्याख्यानमान प्रत्याख्यानमाया प्रत्याख्यानलोभश्चेति चत्वार कषाया महाव्रतघातका । संज्वलनक्रोध संज्वलनमान संज्वलनमाया संज्वलनलोभश्चेति चत्वार कषाया यथाख्यातचारित्रघातका । अन्तराय पंचविधो दानान्तरायो लाभान्तरायो भोगान्तराय उपभोगान्तरायो वीर्यान्तरायश्चेति । एतत्सर्वं कर्म णिट्ठवइ भवियजीवो निष्ठापयति क्षयं नयति, कोऽसौ ? भविकजीवो भव्यजन । सम्मं जिणभावणाजुत्तो सम्यग्जिनभावनायुक्तो जिनसम्यक्त्वाराधक इत्यर्थ ।

बलसोक्खणाणदंसण चत्तारि वि पायडा गुणा होंति ।
णट्ठे घाइचउक्के लोयालोयं पयासेदि ॥ १४८ ॥

बलसौख्यज्ञानदर्शनं चत्वारोपि प्रकटा गुणा भवन्ति ।
नष्टे घातिचतुष्के लोकालोकं प्रकाशयति ॥

बलसोक्खणाणदंसण बलं चानन्तवीर्यं केवलज्ञानदर्शनाभ्यामनन्तानन्तद्रव्यपर्यायस्वरूपपरिच्छेदकत्वलक्षणा शक्तिरनन्तवीर्यमुच्यते न तु कस्यचिद्घातकरणे भगवान् बलं निदधाति सूक्ष्मगुणाभावप्रसक्ते । तथा चोक्तमाशाधरेण महाकविना—

यद्व्याहति न जातु किंचिदपि न व्याहन्यते केनचिद्
यद्विष्पीतसमस्तवस्त्वपि सदा केनापि न स्पृश्यते ।

यत्सर्वज्ञसमक्षमप्यविषयस्तस्यापि चार्थोद्गिरा
तच्च सूक्ष्मतमं स्वतत्त्वमभवा भाव्यं भवोच्छित्तये ॥१॥

तथा अनन्तसौख्यं भगवतः सिद्धस्य भवति तदप्यनन्तज्ञानगुणसद्भावात् परमानन्दाद्यविलक्षणं वस्तुस्वरूपपरिच्छेदकत्वमत्र ज्ञातव्यं । तथा चोक्तं निमानपत्युपाख्यानपर्यन्ते । तथा हि—

शास्त्रं शास्त्राणि वा ज्ञात्वा तत्र तुष्यन्ति साधवः ।
सर्वतत्त्वार्थविज्ञानात् सिद्धाः सुखिनः कथं ॥ ॥
चक्रिणां कुरुजातानां नागेन्द्राणां मरुत्वताम् ।
अनन्तगुणितं सौख्यमुत्तरोत्तरवर्तिनां ॥ २ ॥
तत्त्रिकालभवात् सौख्यात् तद्गुणितं सुखं ।
सिद्धानां तु क्षणार्धेन तद्यो यच्छतु तच्छिवं ॥ ॥

तथा ज्ञानं केवलज्ञानं लोकालोकवस्तुपरिज्ञापकं दर्शनं चानन्तदर्शनं ज्ञानलक्षणं एव वस्तुसत्तास्वरूपेण ग्रहणलक्षणं बोद्धव्यं । **चत्तारि वि पायडा गुणा होंति** चत्वारोऽपि गुणाः प्रकटा भवन्ति । कस्मिन् सति, **णट्ठे घाइचउक्के** नष्टे विनाशं प्राप्ते घाइचउक्के–मोहज्ञानावरणदर्शनावरणान्तरायात्मके केवलज्ञानसाम्राज्यविघ्नसत्कारके कर्मशत्रुचतुष्टये । **लोयालोयं पयासेदि** लोकालोकं प्रकाशयति । लोक्यन्ते दृश्यन्ते जीवपुद्गलधर्माधर्मकालाकाशा यस्मिन्निति लोकः । ते न लोक्यन्ते न दृश्यन्ते यस्मिन् सोऽलोकः सर्वतोऽनन्तानन्तजीवाद्यपदार्थोऽलोकः । लोकश्चालोकश्च लोकालोकस्तं लोकालोकं प्रकाशयति जानाति पश्यति चेत्यर्थः ।

णाणी सिव परमेट्ठी सव्वण्हू विण्हु चउमुहो बुद्धो ।
अप्पो वि य परमप्पो कम्मविमुक्को य होइ फुडं ॥ १४९ ॥

---

१ श्लोका इमे अशीतितमे पृष्ठे उद्धृताः लोकसारगाथाद्वयमनुवर्तते ।
२ बुधिरे ख ।

ज्ञानी शिव परमेष्ठी सर्वज्ञो विष्णुः चतुर्मुखो बुद्धः ।
आत्मापि च परमात्मा कर्मविमुक्तश्च भवति स्फुटम् ॥

सम्यग्दर्शनप्रभावेणायं संसारी जीवः सिद्धो भवतीति-न केवलं सर्वज्ञो भवतीत्यपिशब्दस्यार्थः । स सिद्धः कथंभूतः तस्य नाममालां प्रतिपादयन्नाह भगवान् कुन्दकुन्दाचार्यः—**णाणी सिव परमेट्ठी** ज्ञानी ज्ञानमनन्तकेवलज्ञानं विद्यते यस्य स भवति ज्ञानी । शिवः परमकल्याणभूतः शिवति लोकाग्रे गच्छतीति शिवः । " नाम्युपधप्रीकृगृज्ञो कः " । परमेष्ठी परमे इन्द्रचन्द्रधरणेन्द्रवंदिते पदे तिष्ठतीति परमेष्ठी । औणादिकोऽयं प्रयोगः । **सव्वण्हू विण्हू चउमुहो बुद्धो** सर्वं लोकालोकं जानाति वेत्तीति सर्वज्ञः । वेवेष्टि केवलज्ञानेन लोकालोकं व्याप्नोतीति विष्णुः " विषे किच्च " इत्यनेन नुप्रत्ययः स च किन् कानुबन्धत्वात् गुणः । चतुर्मुखः भूतपूर्वनयापेक्षया चतुर्मुखः चतुर्दिक्षुसर्वसभ्यानां सम्मुखस्य दृश्यमानत्वात् सिद्धावस्थायां तु सर्वत्रावलोकनशीलत्वात् चतुर्मुखः । बुद्ध्यते सर्वं जानातीति बुद्धः । " व्यनुबन्धमतिबुद्धिपूजार्थेभ्यः क्तः " इत्यनेन सूत्रेण वर्तमानकाले क्तप्रत्ययः । **अप्पो वि य परमप्पो** आत्मापि च संसारी जीवोऽपि च परमात्मा अर्हन् सिद्धश्च भवति । कथंभूतः सिद्धः, **कम्मविमुक्को य होइ फुडं** कर्मभ्यो विमुक्तो रहितो भवति सजायते स्फुटं निश्चयेनेति शेषः । एतत् सम्यग्दर्शनस्य महान् महिमा ज्ञातव्य इति भावार्थः ।

इय घाइकम्ममुक्को अट्ठारहदोसवज्जिओ सयलो ।
तिहुवणभवणपईवो देउ मम उत्तमं बोहं ॥ १५० ॥

इति घातिकर्ममुक्तः अष्टादशदोषवर्जितः सकलः ।
त्रिभुवनभवनप्रदीपः ददातु मह्यमुत्तमं बोधम् ॥

१ इत्यनेन नाम्युपधलिखधातोः कप्रत्ययः ।

इय धाइकम्ममुक्को इति पूर्वोक्तलक्षणघातिकर्मभ्यो मुक्त । **अट्ठा-रहदोसवज्जिओ सयलो** अष्टादशदोषवर्जितो रहित, सकल सह कलया शरीरेण वर्तते इति सकल तेन तस्य धर्मोपदेशोऽपि घटते शरीरसयुक्तपरमात्मत्वात् । एतेनेद वचन प्रत्युक्त भवति—

अदेहविग्रहाच्छान्ताच्छिवात्परमकारणात् ।
नादरूप समुत्पन्न शास्त्र परमदुर्लभ ॥ १ ॥

अशरीरस्य शास्त्रोत्पत्तिर्न सगच्छते कूर्मरोमवत् वन्ध्यास्तनन्धयवत् शशविषाणवत् विष्णुपदकैतालवत् मरमरीचिकोदकवत् "अष्टौ स्थानानि वर्णानां" इति शब्दाना करणकारणत्वात्। **तिहुवणभवणपईवो** त्रैलोक्यगृहस्य दीप प्रद्योतक त्रिभुवनभवनप्रदीप । **देउ मम उत्तमं बोहं** ददातु मम मह्य उत्तम बोध केवलज्ञान । इतीष्टप्रार्थना श्रीकुन्दकुन्दाचार्याणा शास्त्रकरणस्य फलाभिलाषित्वात् । अथ के ते अष्टादश दोषा इति चेदुक्ता अप्युच्यन्ते—

क्षुत्पिपासाजरातङ्कजन्मान्तकभयस्मया ।
न रागद्वेषमोहाश्च यस्याप्त स प्रकीर्त्यते ॥ १ ॥

चकाराच्चिन्ताऽरतिनिद्राविषादस्वेदखेदविस्मया गृह्यन्ते । निर्दोषपरमात्मविचारोऽष्टसहस्रीन्यायकुमुदचन्द्रोदयप्रमेयकमलमार्तण्डाप्तपरीक्षातत्त्वार्थराजवार्तिकतत्त्वार्थश्लोकवार्तिकन्यायविनिश्चयालङ्कारादिषु महाशास्त्रेषु विस्तरेण ज्ञातव्य ।

जिणवरचरणंबुरुहं णमंति जे परमभत्तिराएण ।
ते जम्मवेल्लिमूलं खणंति वरभावसत्थेण ॥ १५१ ॥

१ नि ख । २ नादरूपकञ्चत्र ख । ३ मलीतवत् ख । ४ करणशब्दो नास्ति ख पुस्तके । ५ न्यायविनिश्चयेति विश्रुतिरन्यत्र ।

जिनवरचरणाम्बुरुहं नमन्ति ये परमभक्तिरागेण ।
ते जन्मवल्लीमूलं खनन्ति वरभावशस्त्रेण ॥

जिणवरचरणंबुरुहं जिनोऽनेकविषमभवगहनव्यसनप्रापणहेतून् कर्मारातीन् जयतीति जिनः "इण्जिकृषिभ्यो नक्"। जिनश्चासौ वरः श्रेष्ठो जिनवरः। अथवा जिनानां गणधरदेवादीनां मध्ये वरः श्रेयस्करो जिनवरस्तस्य चरणावेवाम्बुरुहं जिनवरचरणाम्बुरुहं श्रीमद्भगवदर्हत्सर्वज्ञवीतरागपादपद्मं। **णमंति जे परमभत्तिराएण** नमन्ति नमस्कुर्वन्ति ये आसन्नभव्याः परमभक्तिरागेण परमभक्त्यनुरागेणाकृत्रिमस्नेहेन। **ते जम्मवेल्लिमूलं** ते पुरुषा जन्मवल्लीमूलं खनन्तीति सम्बन्धः, जन्मैव वल्ली संसारवीरुत् अनन्तानन्तप्रसारत्वात् तस्या मूलं कन्दं खनन्ति उत्पाटयन्ति उद्धरन्ति समूलकाषं कषन्तीत्यर्थं मोहस्य विच्छेदकत्वात्, संसारवल्लीमूलं मिथ्यात्वमोहः तस्य मूलं खनन्ति सम्यग्दृष्टयो भवन्ति। उक्तं च श्रीभोजराजमहाराजेन—

> सुमेरुस्थितेन सुमुखेन सुमंगलाय
> द्रष्टव्यमस्ति यदि मंगलमेव वस्तु।
> अन्येन किं तदिह नाथ! तवैव वक्त्रं
> त्रैलोक्यमंगलनिकेतनमीक्षणीय ॥ १ ॥

खणंति वरभावसत्थेण खनन्ति निर्मूलकाषं कषन्ति, केन कृत्वा? वरभावशस्त्रेण विशिष्टभावनाकुद्दालेन दात्रादिना वा।

जह सलिलेण ण लिप्पइ कमलिणिपत्तं सहावपयडीए।
तह भावेण ण लिप्पइ कसायविसएहिं सप्पुरिसो ॥१५२॥

यथा सलिलेन न लिप्यते कमलिनीपत्रं स्वभावप्रकृत्या।
तथा भावेन न लिप्यते कषायविषयैः सत्पुरुषः ॥

---

१ इत्यनेन जि जये इत्यस्य धातोर्नगादेशः क इत् कित्वान्नेट्। २ न. मू.।

जह सलिलेण ण लिप्पइ यथा येन प्रकारेण (सलिलेन) न लिप्यते न स्पृश्यते । किं तत्कर्मतापन्नं, **कमलिणिपत्तं सहावपयडीए** कमलिनीपत्रं पद्मिनीच्छदं स्वभावप्रकृत्या निजस्वभावेन । **तह भावेण ण लिप्पइ** तथा तेन प्रकारेण भावेन जिनचरणकमलभक्तिलक्षणसम्यक्त्वेन करणभूतेन कृत्वा । कैः कर्तृभूतैः न लिप्यते, **कसायविसएहिं सप्पुरिसो** कषायैः क्रोधमानमायालोभैः, विषयैः विषयसुखैः स्पर्शरसगन्धवर्णशब्दैः सत्पुरुषः सम्यग्दृष्टिजीवः । तथा चोक्तं—

धात्रीबालाऽसतीनाथपद्मिनीदलवारिवत् ।
दग्धरज्जुवदाभासं भुञ्जन् राज्यं न पापभाक् ॥ १ ॥

ते चिय भणामिहं जे सयलकलासीलसंजमगुणेहिं ।
बहुदोसाणावासो सुमलिणचित्तो ण सावयसमो सो ॥१५३॥

तानेव भणामि अहं ये सकलकलाशीलसंयमगुणैः ।
बहुदोषाणामावासः सुमलिनचित्तः न श्रावकसमः सः ॥

ते चिय भणामिहं जे तानेव सत्पुरुषानहं कुन्दकुन्दाचार्यो भणामि कथयामि । तान् कान्, ये पुरुषाः **सकलकलासीलसंजमगुणेहिं** सकलकला परिपूर्णकलना सम्यक्परीक्षादायिनः, कैः ? शीलसंयमगुणैः शीलनिकषक्षमाः संयमनिकषक्षमाः गुणनिकषक्षमा भवन्ति । तथा चोक्तं—

यथा चतुर्भिः कनकं परीक्ष्यते निघर्षणच्छेदनतापताडनैः ।
तथैव धर्मो विदुषा परीक्ष्यते श्रुतेन शीलेन तपोदयागुणैः ॥१॥

तथा चोक्तं—

---

१ अस्मादग्रे अयं पाठोऽधिकः ख पुस्तके । सलिलेन जलेन न लिप्पइ कमलिनीदल इति सम्बन्धः । २ भुञ्जानोऽपि न पापभाक् इत्यपि क्वचित्पाठः ।

सजंमु सीलु सउच्चु तवु ज्सु सूरिहि गुरु सोइ ।
दाहछेदकसघायसमुं उत्तमु कचणु होइ॥ १ ॥

बहुदोसाणावासो बहूना दोषाणामतीचारादीनामावासो गृह, अथवा वधूना स्त्रीणा दोष्णां बाहूना आवास आलिंगरो मुनि । **सुमलिणचित्तो ण सावयसमो सो** सुष्ठु अतीव मलिनचित्तो राग-द्वेषमोहग्रस्तचित्तः मुनि मुनिर्न भवत्यय, तर्हि किं भवति ? ण सावयसमो सो न श्रावकसम श्रावकेणापि गृहस्थेनापि सम सदृश स न भवति । तस्य दानपूजादिलाभसयुक्तत्वादुत्तमत्व । तथा चोक्त—

घर गार्हस्थ्यमेवाद्य तपसो भाविजन्मन ।
श्व. स्त्रीकटाक्षलुटाकलोप्यवैराग्यसम्पद ॥ १ ॥

" चिअ चअ अस्मदीयस्यानस्थाणुमूकतूष्णीकदवैकमृदुकसेवानख-नीडनिहितहूतस्याहतकुतूहलस्थूलव्याकुलेपु वा " इत्यनेन प्राकृत-व्याकरणसूत्रेण चिअँ इत्यस्य वा द्वित्व। चिअ इति कोऽर्थ " अवधा रणे णई च चिअ चेओं । "

अन्यच्च—

ते च्चिय धण्णा ते चिय साउरिसा ते जियति जियलोए।
वोद्दहदहम्मि पडिया तरति जे च्चिय लीलाए ॥ १ ॥

वोद्दह इति कोऽर्थो यौवनम् ।

---

१ सयम शील शौचं तप यस्य सूरे गुरु स ।
दाहच्छेदकषघातक्षम उत्तम कचन भवति ॥
२ कमु मूले । कम्मु ख ।
३ य क ख । ४ एते चत्वार शब्दा अवधारणार्थे वर्तन्त इत्यर्थ ।
५ ते एव धन्या ॥ एव सत्पुरुषा त जीवन्ति जीवलोक ।
यौवनद्रह पतितास्तरन्ति ये चैव लीलया ॥

ते धीरवीरपुरिसा खमदमखग्गेण विप्फुरतेण ।
दुज्जयपबलबलुद्धरकसायभड णिज्जिया जेहिं ॥१५४॥

ते धीरवीरपुरुषा क्षमादमखड्गेन विस्फुरता ।
दुर्जयप्रबलबलोद्धरकषायभटा निर्जिता यैः ॥

ते धीरवीरपुरिसा ते पुरुषा धीरा अनिवर्तका संयमसंग्रामात् कर्मशत्रूणां घातमकृत्वा न पश्चाद्व्याघुटति, वीरा विशिष्टां केवलज्ञानसाम्राज्यलक्ष्मीं राति स्वीकुर्वन्तीति वीरा । **खमदमखग्गेण विप्फुरतेण** क्षमा प्रकृष्टप्रशम, दमो जितेन्द्रियत्व क्षमयोपलक्षितो दम क्षमदम स एव खड्ग कौक्षेय करवालोऽसिर्निस्त्रिंश घातिकर्मशत्रुसंघातघातकत्वात् तेन क्षमादमखड्गेन । किं कुर्वता ? विस्फुरता अप्रतिहतव्यापार तया चमत्कुर्वता । **दुज्जयपबलबलुद्धर** दु खेन महता कष्टेन जेतुम शक्या दुर्जया, प्रबल प्रचुर, बल सामर्थ्यं तेन उद्धरा उत्कटा ये कषायभटा क्रोधमानमायालोभसुभग्गा । **कसायभड णिज्जिया जेहिं** एवंविधा कषायभटा यैर्निर्जिता मारिता भूमौ पातिता ।

धण्णा ते भयवंता दंसणणाणग्गपवरहत्थेहिं ।
विसयमयरहरपडिया भविया उत्तारिया जेहिं ॥ १५५ ॥

धन्यास्ते भगवन्तो दर्शनज्ञानाग्रप्रवरहस्ताभ्याम्[१] ।
विषयमकरधरपतिता भव्या उत्तारिता यैः ॥

धण्णा ते भयवंता धन्या पुण्यवन्त त भगवन्त इन्द्रादिपूजिता अथवा भय वात त्यक्त यैस्ते भयवन्ता निर्भया सप्तभयरहिता । **दंसणणाणग्गपवरहत्थेहिं** दर्शनज्ञाने एव प्रवरौ बलवत्तरौ हस्तौ करौ दर्शनज्ञानप्रवराग्रहस्तौ ताभ्यां द्वाभ्यां हस्ताभ्यां करणभूताभ्यां । विस-

१ इत आरभ्य नेहिं पर्यन्त पाठ पुस्तके एतावान् एव ।
२ न मा मूलगाथापाठ । २ दशनज्ञातो (ना) प्र एव क ।

यमयरहरपडिया विषय एव मकरधर समुद्र तत्र पतिता ऐहिता । **भविया उत्तारिया जेहिं** भव्यजीवा उत्तारिता हस्तावलम्बन दत्त्वा उत्तारिता ससारसुखक्षारसमुद्रस्य पार नीता, यैर्वीरवर्धमानश्रीगौतम-स्वाम्यादिभिरिति मगलाभिप्राय ।

मायावेल्लि असेसा मोहमहातरुवरम्मि आरूढा ।
विसयविसपुप्फफुल्लिय लुणंति मुणि णाणसत्थेहिं ॥१५६॥

मायावल्लीमशेषां मोहमहातरुवरे आरूढाम् ।
विषयविषपुष्पपुष्पितां लुनन्ति मुनय ज्ञानशस्त्रैः ॥

मायावेल्लि असेसा माया परवञ्चनस्वभावा सैव वल्ली प्रतानिनी ता मायावल्लीं, अशेषां अनन्तानुबन्धिप्रभृतिचतुर्भेदसमग्रा । **मोहमहातरुवरम्मि आरूढा** मोह एव तरुवर पुत्रकलत्रमित्रादिस्नेहमहावृक्षस्त-मारूढा चटिता । **विसयविसपुप्फफुल्लिय** विषया एव विषपुष्पाणि तै पुष्पिता विषयविषपुष्पपुष्पिता ता । **लुणंति मुणि णाणसत्थेहिं** लुनन्ति छिन्दन्ति, के ते ? मुनय सम्यग्ज्ञानसमुपेता दिगम्बरगुरव इत्यर्थ । केन, ज्ञानशस्त्रेण सम्यग्ज्ञानशस्त्रेण परशुना इति शेष ।

मोहमयगारवेहिं य मुक्का जे करुणभावसंजुत्ता ।
ते सव्वदुरियखंभं हणंति चारित्तखग्गेण ॥ १५७ ॥

मोहमदगारवै च मुक्ता ये करुणभावसंयुक्ता ।
ते सर्वदुरितस्तम्भ घ्नन्ति चारित्रखड्गेन ॥

मोहमयगारवेहिं य मोह कलत्रपुत्रमित्रादिषु स्नेह, मदो ज्ञानादिरष्टप्रकारो निजौन्नत्य, गारव शब्दगारवर्द्धिगारवसातगारवभेदेन त्रिविधं । तत्र शब्दगारव वर्णोच्चारगर्व, ऋद्धिगारव शिष्यपुस्तककमण्डलुपिच्छपट्टादिभिरात्मोद्भावन, सातगारव भोजनपानादिसमुत्पन्नसौख्यलीलामदस्तैर्मोहमदगारवै । चकार उक्तसमुच्चयार्थस्तेन निजपक्षीयसधन-

राजमायश्रावकादिभिरभिमान । मुक्का जे करुणभावसंजुत्ता पूर्वो क्तैर्मोहादिभिर्ये मुक्ता, करुणभाव कारुण्य दयापरिणामस्तेन सयुक्ता । ते सव्वदुरियखंभं त मुनय सर्वदुरितस्तभ समस्तमलातिचारादिसमुत्पन्न पापस्तभ । हणति चारित्तखग्गेण घ्नति चारित्रखड्गन छिन्दन्ति निजनिर्मलसद्वृत्तनिस्त्रिंशेनेति शेष ।

गुणगणमणिमालाए जिणमयगयणे णिसायरमुणिंदो ।
तारावलिपरियरिओ पुण्णिमइंदुव्व पवणवहे ॥ १५८॥

गुणगणमणिमालया जिनमतगगने निशाकरमुनीन्द्र ।
तारावलिपरिकलित पूर्णिमेन्दुरिव पवनपथे ॥

गुणगणमणिमालाए गुणा अष्टाविंशतिमूलगुणा दश धर्मा तिस्रो गुप्तय अष्टादशशीलसहस्राणि द्वाविंशतिपरीषहाणा जय एते उत्तर गुणा, गुणानां गणा समूहा गुणगणास्त एव मणयो रत्नानि तेषा माला मुक्ताफलहारस्तया गुणगणमालया मुनि शोभते इत्युपस्कार । जिणमयगयणे णिसायरमुणिंदो जिनमतमार्हतशासन तदेव गगन आकाश पापलेपरहितत्वात् जिनमतगगन तस्मिन् जिनमतगगने सर्वज्ञ शासनाकाशे, निशाकरश्चन्द्र निशा करोति उद्योतयति निशाकरो मुनीन्द्र, तत्र मुनीन्द्रो दिगम्बर निशाकर पापान्धकारविच्छेदकत्वात्। तारावलिपरियरिओ तारावलिपरिकलितो नक्षत्रमालापरिवेष्टितो नक्ष त्रमण्डलोपेत । पुण्णिमइंदुव्व पवणवहे पूर्णिमेन्दुरिव पूर्णिमाचन्द्र इव शोभते, पवनपथे गगनमार्गे इति शेष ।

चक्कहररामकेसवसुरवरजिणगणहराइसोक्खाइं ।
चारणमुणिरिद्धीओ विसुद्धभावा णरा पत्ता ॥ १५९ ॥

चक्रधररामकेशवसुरवरजिनगणधरादिसौख्यानि ।
चारणमु यृद्धी विशुद्धभावा नरा प्राप्ता ॥

चक्कहररामकेसवसुरवरजिणगणहराइसोक्खाइं चक्रधराश्च भरतादय सकलचक्रवर्तिन, रामाश्च बलदेवा, केशवाश्चार्धचक्रवर्तिन, सुरवराश्च सौधर्मेन्द्राद्यच्युतेन्द्रपर्यन्ता अहमिन्द्रान्ता, जिनाश्च वृषभादिवीरान्ता, गणधरादयश्च वृषभसेनादय श्रीगौतमान्तास्तेषा सौख्यानि महापुराणादिशास्त्रवर्णितानि। **चारणमुणिरिद्धीओ** चारणमुनीना आकाशगामिनामृद्धीणा ऋद्धी अक्षीणमहानसाद्यप्रभृती। विशुद्धभावा नरा जीवा प्राप्ता लभन्ते स्म।

सिवमजरामरलिंगमणोवममुत्तमपरमविमलमतुलं।
पत्ता वरसिद्धिसुहं जिणभावणभाविया जीवा ॥१६०॥

शिवमजरामरलिङ्गमनुपममुत्तम परमविमलमतुलम्।
प्राप्ता वरसिद्धिसुख जिनभावनाभाविता जीवा ॥

शिवमजरामरलिंगं शिव परमकल्याण परममङ्गलभूत कर्ममलकलंकरहितत्वात्, अजरामरलिंग जरामरणरहितचिन्ह। **अणोवमं** उपमारहित। **उत्तमं** परममुख्य। **परमविमलं** द्रव्यकर्मभावकर्मनोकर्मरहित। **अतुलं** अनन्तमित्यर्थ। **पत्ता वरसिद्धिसुहं** एतद्विशेषणावशिष्ट वरं श्रेष्ठ सिद्धिसुख परमनिर्वाणसौख्य प्राप्ता लभन्त स्म। **जिणभावणभाविया जीवा** जिनभावनया निर्मलसम्यक्त्वेन भाविता वासिता जीवा आसन्नभव्या।

ते मे तिहुवणमहिया सिद्धा सुद्धा णिरंजणा णिच्चा।
दिंतु वरभावसुद्धिं दंसणणाणे चरित्ते य ॥ १६१ ॥

ते मे त्रिभुवनमहिता सिद्धा शुद्धा निरजना नित्या।
ददतु वरभावशुद्धि दर्शनज्ञाने चरित्रे च ॥

ते मे तिहुवणमहिया ते जगत्प्रसिद्धा, मे मम श्रीकुन्दकुन्दाचार्यस्य, त्रिभुवनमहितास्त्रैलोक्यपूजिता। **सिद्धा सुद्धा णिरंजणा**

णिचा। सिद्धा मुक्तिस्त्रीवल्लभा, शुद्धा कर्ममलकलङ्करहिता, निरञ्जना निरुपलेपा, नित्या शाश्वता । दिंतु वरभावसुद्धिं ददतु प्रयच्छन्तु, वरभावशुद्धिं विशिष्टपरिणामशुद्धिं । कस्मिन्, दंसणणाणे चरित्ते य सम्यग्दर्शने सम्यग्ज्ञाने सम्यक्चारित्रे चेत्यर्थ ।

किं जंपिएण बहुणा अत्थो धम्मो य काममोक्खो य ।
अण्णे वि अ वावारा भावम्मि परिट्ठिया सव्वे ॥ १६२ ॥

किं जल्पितेन बहुना अर्थो धर्मश्च काममोक्षश्च ।
अन्येपि च व्यापारा भावे परिस्थिता सर्वे ॥

किं जंपिएण बहुणा बहुना प्रचुरतरेण, जल्पितेन किं १ न किमपि । **अत्थो धम्मो य काममोक्खो य** अर्थो धन, धर्मो यतिश्रावकगोचर, काम पचेंद्रियसुखदायिनी इष्टवनिता तस्या भोग, मोक्ष सर्वकर्मक्षयलक्षण । **अण्णे वि अ वावारा** अन्येऽपि च व्यापारा विद्यादेवता साधनादय । **भावम्मि परिट्ठिया सव्वे** भावे शुद्धपरिणाम परिस्थिता भावाधीना भवन्तीति भावार्थ । उक्त च—

न देवो विद्यते काष्ठे न पाषाणे न मृन्मये ।
भावेषु विद्यते देवस्तस्माद्भावो हि कारण ॥ १ ॥
भावविहूणउ जीव तुह जइ जिणु वहहि सिरेण ।
पत्थरि कमलु कि निप्पजइ जइ सिंचहि अमिएण ॥ २ ॥
सीसु नमतह कवणु गुणु भाउ कुसुद्धउ जाह ।
पारद्धीदूणउ नमइ दुक्तउ हरिणाह ॥ ३ ॥
अघ्नन्नपि भवेत् पापी निघ्नन्नपि न पापभाक् ।
परिणामविशेषेण यथा धीवरकर्षकौ ॥ ४ ॥

---

१ भावविहीन जीव ! त्व यदि जिन वहति शिरसा ।
प्रस्तरे किं कमल निष्पद्यते यदि सिंचेत् अमृतेन ॥

इय भावपाहुडमिणं सव्वं बुद्धेहि देसियं सम्मं ।
जो पढइ सुणइ भावइ सो पावइ अविचलं ठाणं॥१६३॥

इति भावप्राभृतमिदं सर्वं बुद्धैः देशितं सम्यक् ।
य पठति शृणोति भावयति स प्राप्नोति अविचलं स्थानम् ॥

इय भावपाहुडमिणं इति-एवं प्रकारं, भावप्राभृतमिदं भावप्राभृतनाम शास्त्रं। **सव्वं बुद्धेहि देसियं सम्मं** सर्वं बुद्धैः सर्वज्ञैः, देशितं कथितं सम्यङ्निश्चयेन। यथा मया कथितं सर्वं बुद्धैरप्येवमेवोक्तमिति भावार्थः। **जो पढइ सुणइ भावइ** य आसन्नभव्यो जीवः पठति गुरोरग्रेऽनुशीलयति अभ्यस्यति, सुणइ-एतदर्थमाकर्णयति, भावइ-श्रुत्वा श्रद्दधाति। **सो पावइ अविचलं ठाणं** स आसन्नभव्यो मुनिपुंगवः, प्राप्नोति लभते, अविचलं निश्चलं, स्थानं मोक्षपदमिति सिद्धम्।

इति श्रीपद्मनन्दिकुन्दकुन्दाचार्यवक्रग्रीवाचार्यैलाचार्यगृध्रपिच्छाचार्यनामपञ्चकविराजितेन श्रीसीमन्धरस्वामिसम्यग्बोधसंबोधितभव्यजनेन श्रीजिनचन्द्रसूरिभट्टारकपट्टाभरणभूतेन कलिकालसर्वज्ञेन विरचिते षट्प्राभृतभावनाग्रन्थे सर्वमुनिमण्डलीमण्डितेन कलिकालगौतमस्वामिना श्रीमल्लिभूषणेन भट्टारकेणानुमतेन सकलविद्वज्जनसमाजसन्मानितेनोभयभाषाकविचक्रवर्तिना श्रीविद्यानन्दिगुर्वन्तेवासिना श्रीदेवेन्द्रकीर्तिप्रशिष्येण सूरिवरश्रीश्रुतसागरेण विरचिता भावप्राभृतटीका—

परिसमाप्ता ।



मोक्षप्राभृतं ।

अथ देवेन्द्रयशोगुरुविद्यानन्दीश्वरस्य शिष्येण ।
मुक्तिप्रियामुखाम्बुजदिदृक्षुणा शिक्षितेन गुणे ॥ १ ॥
श्रुतसागरेण कविना विनापि बुद्धया विरच्यते रचिदा ।
मोक्षप्राभृतविवृतिर्टीकाऽलीकप्रमुक्तेन ॥ २ ॥
याचकजनकल्पतरु स्वैररपि मिथ्यामताद्रिशृङ्गेषु ।
भव्यजनजनकतुल्यो विवेकवान् मल्लिभूषणो जयति ॥ ३ ॥

गीतिरार्या ।

णाणमयं अप्पाणं उवलद्धं जेण झडियकम्मेण ।
चइऊण य परदव्वं णमो णमो तस्स देवस्स ॥ १ ॥

ज्ञानमय आत्मा उपलब्धो येन क्षरितकर्मणा ।
त्यक्त्वा च परद्रव्य नमो नमस्तस्मै देवाय ॥

णाणमयं अप्पाणं ज्ञानमय आत्मा । उवलद्ध जेण झडियकम्मेण उपलब्धो येन क्षरितकर्मणा । चइऊण य परदव्वं त्यक्त्वा च परद्रव्यं शरीर कर्म च परित्यज्य नमो नम –पुन पुनर्नम । तस्य देवस्य–तस्मै देवायेति भावार्थ ।

णमिऊण य तं देवं अणतवरणाणदंसण सुद्ध ।
वोच्छं[3] परमप्पाणं परमपयं परमजोईणं ॥ २ ॥

नत्वा च त देव अनन्तवरज्ञानदर्शन शुद्धम् ।
वक्ष्ये परमात्मान परमपद परमयोगिनाम् ॥

---

१ ह्रादिनी वज्रमस्त्री स्यात् कुलिश भिदुर पवि ।
शतकोटि स्वरु शम्बो दम्भोलिरशनिर्द्वयो ॥

२ अस्मादग्रे ॐ नम सिद्धेभ्य इति पाठ । ख पुस्तके नास्ति ।

३ वुच्छ क्वचित् ।

णमिऊण य **तं देवं** नत्वा च तं देवं सर्वज्ञवीतरागं । कथंभूतं देवं, **अणंतवरणाणदंसणं सुद्धं** अनन्तवरज्ञानदर्शनं शुद्धं अनन्तज्ञानमनन्तदर्शनमनन्तवीर्यमनन्तसौख्यमित्यर्थः, शुद्ध घातिकर्मसंघातनेन निर्मलस्वरूप अष्टादशदोषरहितमित्यर्थः । **वोच्छं परमप्पाणं** वक्ष्यामि कथयिष्यामि । कः कर्ता ? अहं श्रीकुन्दकुन्दाचार्यः, कं वक्ष्ये ? परमात्मानं शुद्धनयेन परमात्मानं अर्हत्सिद्धसमानं । कथंभूतं परमात्मानं, **परमपयं** परमपदं परम उत्कृष्ट इन्द्रादिदेव-नरेन्द्रादिमानव-गणधरादिमहामुनीश्वरसंयुक्तसमवशरणस्थानमण्डितं । अथ केषां परमात्मानं वक्ष्यामि ? **परमजोईणं** परमयोगिनां दिगम्बरगुरूणां । इत्यनेन मुनीनामेव परमात्मध्यानं घटते । तप्तलोहगोलकसमानगृहिणां परमात्मध्यानं न संगच्छते । तेषां दानपूजापर्वोपवाससम्यक्त्वप्रतिपालनशीलव्रतरक्षणादिकं गृहस्थधर्म एवोपदिष्टं भवतीति भावार्थः । ये गृहस्था अपि सन्तो मनागात्मभावनामासाद्य वयं ध्यानिन इति ब्रुवते ते जिनधर्मविराधका मिथ्यादृष्टयो ज्ञातव्याः । अध्यात्माचारा गृहस्थधर्मादपि पतिता उभयभ्रष्टा वेदितव्याः । ते लोकाः, तन्नामग्रहणं तन्मुखदर्शनं प्रभातकाले न कर्तव्यं इष्टवस्तुभोजनादिविघ्नहेतुत्वात् । ते जिनस्नपनपूजादानादिसद्धर्मघातका ज्ञातव्याः ।

जं जाणिऊण जोई जो अत्थो जोइऊण अणवरयं ।
अव्वाबाहमणंतं अणोवमं हवइ णिव्वाणं ॥ २ ॥

यद्ज्ञात्वा योगी यमर्थं दृष्ट्वाऽनवरतम् ।
अव्याबाधमनन्तं अनुपमं भवति निर्वाणम् ॥

जं जाणिऊण जोई यं अर्थं आत्मतत्वं ज्ञात्वा हे योगिन् ! **जो अत्थो जोइऊण अणवरयं** (य) अर्थं तत्वं, जोइऊण–दृष्ट्वा ज्ञानेन

१ जोयत्थो ग. । योगस्थो ध्यानस्थ इत्यर्थः । २ लहइ. ग. ।

साक्षाद्दक्ष्य योगी ध्यानवान् मुनि । अव्वाबाहमणंतं अव्याबाधं बाधा-रहित, अन तमविनश्वर । अणोवमं हवइ णिव्वाण अनुपम उपमारहित, भवत प्राप्नोति । "भूप्राप्तावात्मनेपदं" इति वचनात् । कि? निर्वाण शुद्धसुख मोक्षस्थान । उक्त च—

अजमजरामयमरणं शौर्मेर्द्रु दैभवैश्व परिमुक्त ।
निय ण शुद्धसुख नि श्रेयसमिष्यते नित्य ॥ १ ॥

तिपयारो सो अप्पा परमिंतरबाहिरो हु हेऊणं।
तत्थ परो झाइज्जइ अंतोवाएण चयहि बहिरप्पा ॥४॥

त्रिप्रकार स आत्मा परमन्तो बहि तु हित्वा।
तत्र परं ध्यायते अन्तरुपायेन त्यज बहिरात्मानम् ॥

तिपयारो सो अप्पा त्रिप्रकार स आत्मा त्रिविध । **परमिंतरबाहिरो दु हेउणं** परमात्मा अन्तरात्मा बहिरात्मा चेति। तत्र बाहिरो दु हेउण-बहिरात्मान हित्वा परित्यज्य। **तत्थ परो झाइज्जइ** तत्र परमात्मा ध्यायते। कथ परमात्मा ध्यायते? **अंतोवाएण** अन्तरात्मोपायेन भेदज्ञानरत्नेनेत्यर्थ । **चयहि बहिरप्पा** त्यज परिहर त्वं हे मुने। बहिरप्पा बहिरात्मान—शरीरमेवात्मेति मत मन्यते बहिरात्मा तमभिप्रायं त्यजेति तात्पर्यार्थ ।

अक्खाणि बाहिरप्पा अंतरअप्पा हु अप्पसंकप्पो ।
कम्मकलंकविमुक्को परमप्पा भण्णए देवो ॥ ५ ॥

अक्षाणि बहिरात्मा अन्तरात्मा स्फुट आत्मसङ्कल्प ।
कर्मकलङ्कविमुक्त परमात्मा भण्यते देव ॥

अक्खाणि बाहिरप्पा अक्षाणि इन्द्रियाणि बहिरात्मा भवति। **अंतरअप्पा हु अप्पसंकप्पो** अन्तरात्मा हु-स्फुट आत्मसङ्कल्प शरीरकर्मरागद्वेषमोहादिदु खपरिणामरहितोऽय ममात्मा वर्तते शरीरे तिष्ठ-

१ मतर. घ। २ देहीण घ मु ।

शुद्धनिश्चयनयेन शरीरं न स्पृशति, कर्मबन्धनबद्धोऽपि सन् कर्मबन्धनैर्बद्धो न भवति नलिनीदलस्थितजलवदितीदृशं भेदज्ञानं आत्मस्वरूपं उच्यते स आत्मस्वरूपो यस्य जीवस्य वर्तते सोऽन्तरात्मा वदितव्यः । **कम्मकलंकविमुक्को परमप्पा भण्णए देवो** कर्मकलङ्कविमुक्तो द्रव्यकर्मभावकर्मनोकर्मरहितः सिद्धपरमेश्वरो देवः परमात्मा भण्यते–अर्हन् परमेश्वरः सामान्यकेवली च परमात्मा कथ्यते तस्य जीवन्मुक्तत्वात् ।
उक्तं च—

आत्मज्ञात्मविलोपनात्मचरितैरासीर्दुरात्मा चिरं
स्वात्मा स्याः परमात्मनीनचरितैरात्मीकृतैरात्मनः ।
आत्मेत्थं परमात्मतां प्रतिपतन् प्रत्यात्मविद्यात्मकः
स्वात्मोत्थात्मसुखो निषीदसि लसन्नध्यात्ममध्यात्मना ॥१॥

मलरहिओ कलचत्तो अणिंदिओ केवलो विसुद्धप्पा ।
परमेट्ठी परमजिणो सिवंकरो सासओ सिद्धो ॥ ६ ॥

मलरहितः कलत्यक्तः अनिन्द्रियः केवलो विशुद्धात्मा ।
परमेष्ठी परमजिनः शिवङ्करः शाश्वतः सिद्धः ॥

मलरहिओ कलचत्तो मलरहितः कर्ममलकलङ्करहितः, कलया शरीरेण त्यक्तः कलत्यक्तः । यौ कारौ खाकृती ह्रस्वौ क्वचित् यथा इष्टकचितं इषीकतूलमिति । **अणिंदिओ केवलो विसुद्धप्पा** अनिन्द्रियः इन्द्रियज्ञानरहितः केवलज्ञानेन द्रव्यपर्यायस्वरूपं जानन्नित्यर्थः ।
उक्तं च पुष्पदन्तेन महाकविना—

सव्वंहु अणिंदिओ णाणमओ जो मयमुढु ण पत्तियइ ।
सो णिंदिओ पंचिंदियणिरओ वइतरणिहि पाणिउ पियइ ॥१॥

---

१ चित्तो मू० क० । २ ई+आ इति छेदोत्र ज्ञातव्यः ।
३ सर्वज्ञं अनिन्द्रियं ज्ञानमयो यो मदमूढो न प्रत्येति ।
स निन्दकः पञ्चेन्द्रियनिरतः वैतरण्याः पानीयं पिबति ॥

अथवा—अणिदिओ—अनिंदित इन्द्रधरणेन्द्रनरेन्द्रखगेन्द्रादीनां स्तुत्य इत्यर्थः । उक्तं च मुलाचनाका तेन—

शमिताखिलविभ्रमसस्तवसत्ययि तुच्छोऽप्युपयात्यतुच्छता ।
शुचिशुक्तिपुटेऽम्बुनिधृतं ननु मुक्ताफलतां प्रपद्यते ॥ १ ॥
घटयन्ति न विघ्नकोटयो निकटे त्वत्क्रमयोर्निवासिना ।
पदचोऽपि पदं दवाग्निभिर्भयमस्त्यम्बुधिमध्यवर्तिना ॥ २ ॥
हृदये त्वयि संनिधापिते रिपवः केऽपि भयं विधित्सव ।
अमृतांशिपु सत्सु सन्ततं विषमेदार्पितविग्रहः कुतः ॥ ३ ॥
उपयान्ति समस्तसम्पदे विपदो विच्युतिमायुषन्यत ।
वृषभं वृषमागदर्शिनं भजते शुद्धिपमायुषा ॥ ४ ॥
इत्थं भवतमतिभक्तिपथं नितोपोः, प्रागेवयत्धरलय प्रलयं व्रजन्ति ।
पश्चादनश्वरमयाचितमप्ययत्य,सपद्यते ऽस्य निलसद्गुणमद्रभद्र॥

केवली—केवलोऽसहायः केवलज्ञानमयो वा, केवले परब्रह्मणि निजशुद्धबुद्धैकस्वभावे आत्मनि वलमनन्तवीर्यं यस्य स भवति केवल, अथवा केवते सेवते निजात्मनि एकलोलीभावेन तिष्ठतीति केवल । विसुद्धामा-विशेषेण शुद्धः कर्ममलकलङ्करहित आत्मा स्वभावो यस्य स विशुद्धात्मा । **परमेट्ठी परमजिणो** परमेष्ठी परमजिन, परमे इन्द्रधरणेन्द्रनरेन्द्रमुनीन्द्रादिवन्दिते पदे तिष्ठतीति परमेष्ठी पंचपरमेष्ठिरूप, परमजिणो—परा उत्कृष्टा प्रत्यक्षलक्षणोपलक्षिता मा प्रमाणं यस्येति परम, अथवा परेषां भव्यप्राणिनां उपकारिणी मा लक्ष्मी समवशरणविभूतिर्यस्येति परम, अनेकविषमभवगहनदुःखप्रापणहेतून् कर्मारातीन् जयति समूलकाषं कषतीति जिन परमश्चासौ जिन परमजिन तीर्थंकरपरमदेव । **सिवंकरो** शिवं परममंगलं करोति शिवंकर, अथवा शिवं मोक्षं करोति भक्तभव्यजीवानां मोक्षं विदधातीति शिवंकर शिवतातिरपरपर्याय । **सासओ**

१ अस्मादग्रे तथाहि इति पाठ स पुस्तके ।

शश्वद्भवः शाश्वतोऽविनश्वरः । **सासवो**-इति च क्वचित् पाठो दृश्यते तत्रायमर्थः—साशयः भक्तभव्यानां आशापूरणसमर्थ इत्यर्थः । **सिद्धो** सिद्धिः स्वात्मोपलब्धिर्विद्यते यस्य स सिद्धः परमनिर्वाणपदमारूढ इत्यर्थः ।

तदुक्तं—तस्य त्रिविधस्यात्मनः स्वरूपं शास्त्रान्तरेऽपि प्रोक्तमस्तीति श्रीकुन्दकुन्दाचार्या निरूपयन्ति—

आरुहवि अंतरप्पा बहिरप्पा छंडिऊण तिविहेण ।
झाइज्जइ परमप्पा उवइट्टं जिणवरिंदेहिं ॥ ७ ॥

आरुह्य अन्तरात्मानं बहिरात्मानं त्यक्त्वा त्रिविधेन ।
ध्यायते परमात्मा उपदिष्टं जिनवरेन्द्रैः ॥

आरुहवि अंतरप्पा आरुह्य प्रादुर्भाव्य आश्रित्येति, किं ? अन्तरप्पा—अन्तरात्मानं भेदज्ञानावलम्बनं कृत्वेत्यर्थः । **बहिरप्पा छंडिऊण तिविहेण** त्रिविधेन मनोवचनकायैर्बहिरात्मानं त्यक्त्वा । **झाइज्जइ परमप्पा** ध्यायते अहर्निशं चिन्त्यते, कोऽसौ ? परमात्मा निश्चयनयेन कर्ममलकलङ्करहितः सिद्धस्वरूपः निजपरमात्मा ध्यायते अर्हत्सिद्धस्वरूपोऽवलोक्यते द्विविधमभ्यासं कुर्वाणो मुनिः परमात्मानमेव प्राप्नोति—अर्हत्सिद्धसदृशो भवति । तथा चोक्तं—

> आत्मा मनीषिभिरयं त्वदभेदबुद्ध्या
> ध्यातो जिनेन्द्र ! भवतीह भवत्प्रभावः ।
> पानीयमप्यमृतमित्यनुचिन्त्यमानं
> किं नाम नो विषविकारमपाकरोति ॥ १ ॥

उवइट्टं जिणवरिंदेहिं उपदिष्टं प्रतिपादितं । कैः, जिनवरेन्द्रैः श्रीमद्भगवदर्हत्सर्वज्ञवीतरागैरिति शेषः ।

बहिरत्थे फुरियमणो इंदियदारेण णियसरूवचुओ।
णियदेहं अप्पाणं अज्झवसदि मूढदिट्ठी ओ ॥ ८ ॥

बहिरर्थे स्फुरितमना इन्द्रियद्वारेण निजस्वरूपच्युत ।
निजदेह आत्मानमध्यवस्यति मूढदृष्टिस्तु ॥

बहिरत्थे फुरियमणो बहिरर्थे इष्टवनितासुतस्वापतेयादौ स्फुरितं चमत्कृतं मनो यस्य स इत्थंर्थे स्फुरितमना । **इंदियदारेण णियसरूवचुओ** इन्द्रियद्वारेण इन्द्रियेषु प्रविश्य, निजस्वरूपच्युत आत्मभावनाया. प्रभ्रष्ट । **णियदेहं अप्पाणं** निजदेहं स्वकीयशरीरं आत्मानमध्यवस्यतीति सम्बन्ध —शरीरमात्मानं जानातीत्यर्थ । **अज्झवसदि मूढदिट्ठी ओ** अध्यवस्यति मूढदृष्टिस्तु ममायं कायं आत्मेति जानाति मूढदृष्टिर्बहिरात्मेति भावार्थ ।

णियदेहसरिस्सं पिच्छिऊण परविग्गहं पयत्तेण।
अचेयणं पि गहियं झाइज्जइ परमभाएण ॥ ९ ॥

निजदेहसदृक्षं दृष्ट्वा परविग्रहं प्रयत्नेन ।
अचेतनमपि गृहीतं ध्यायते परमभागेन ॥

णियदेहसरिस्सं पिच्छिऊण निजदेहसदृक्षं सदृशं पिच्छिऊण-दृष्ट्वा । **परविग्गहं पयत्तेण** परविग्रहं इष्टवनितादिशरीरं, पयत्तेण—प्रयत्नेन मलमूत्रशुक्ररुधिरमांसकीकसचर्मरोमादिदुर्गन्धापवित्रादिपरिणामभावेन । **अचेयणं पि गहियं** अचेतनमपि आत्मना गृहीतं जीवेन स्वीकृतं । **झाइज्जइ परमभाएण** ध्यायते शरीरस्वरूपं चिन्त्यते परमभागेन पृथक्तया भेदज्ञानेन—शरीरं भिन्नं आत्मा भिन्नो वर्तते इति भेदं कृत्वेत्यर्थ । तथा चोक्तं—

---

१ चआ मूले । २ मिच्छभावेण. ग घ अन्यत्र च ।

आत्मा भिन्नस्तदनुगतिमत् कर्म भिन्नं तयोर्या
प्रत्यासत्तेर्भवति विकृतिः सापि भिन्ना तथैव।
कालक्षेत्रप्रमुखमपि यत्तच्च भिन्नं मतं मे
भिन्नं भिन्नं निजगुणकलालङ्कृतं सर्वमेतत् ॥ १ ॥

सपरज्झवसाएणं देहेसु य अविदिदत्थमप्पाणं।
सुयदाराईविसए मणुयाणं वड्ढए मोहो ॥ १० ॥

स्वपराध्यवसायेन देहेषु च अविदितार्थमात्मनम्।
सुतदारादिविषये मनुजानां वर्धते मोहः ॥

सपरज्झवसाएणं स्वपराध्यवसायेन परवस्तुशरीरादिकं स्वमात्मानं मन्यते स्वपराध्यवसायः। केषु पदार्थेषु, **देहेसु य** शरीरेषु च, चकाराद्वनितादिषु च, शरीरं वनितापुत्रस्वापतेयादिकं वस्तु खलु परकीयं वर्तते तत्र। **अविदिदत्थं** अविदितार्थं यथावत्स्वरूपपरिज्ञानरहितार्थं यथा भवत्येवं वर्तमानं आत्मा। **अप्पाणं** इति जीवं आत्मानं जानीते तच्च देहादिकं वस्तु आत्मा न भवति। तेन विपरीताभिनिवेशेन **सुयदाराईविसए** सुतदारादिविषये पुत्रकलत्रादिषु। **मणुयाणं वड्ढए मोहो** मनुजानां मानवानां वर्धते मोहः—स्नेहेनाज्ञानमूलं मोहो वैचित्र्यं वृद्धिं याति, मोहेन परिणतो जीवो बहिरात्मा पुनः कर्माणि बध्नाति। उक्तं च—

जीवकृतं परिणामं निमित्तमात्रं प्रपद्य पुनरन्ये।
स्वयमेव परिणमन्तेऽत्र पुद्गलाः कर्मभावेन ॥ १ ॥

मिच्छाणाणेसु रओ मिच्छाभावेण भाविओ संतो।
मोहोदएण पुणरवि अंगं सं मण्णए मणुओ ॥ ११ ॥

मिथ्याज्ञानेषु रतः मिथ्याभावेन भावितः सन्।
मोहोदयेन पुनरपि अङ्गं स्वं मन्यते मनुजः ॥

मिच्छाणाणेसु रओ मिथ्याज्ञानेषु रतोऽयं मनुजो जीवः। **मिच्छाभावेण भाविओ संतो** मिथ्यापरिणामेन कुगुरुकुदेवभक्त्या भावितो

वासित सन्। **मोहोदएण पुणरवि** मोहोदयेन मिथ्यात्वस्य त्रिविधस्योदयेन विपाकेन, पुनरपि भूयोऽपि। **अंगं स मण्णए मणुओ** अगं शरीरं, स्वमात्मानं, मन्यते जानाति, मनुजो मनुष्यो मिथ्यादृष्टिजीव इत्यर्थः।

जो देहे णिरवेक्खो णिद्दो णिम्ममो णिरारम्भो।
आदसहावे सुरओ जोई सो लहइ णिव्वाणं॥ १२॥

यो देहे निरपेक्षः निर्द्वन्द्वः निर्ममः निरारम्भः।
आत्मस्वभावे सुरतः योगी स लभते निर्वाणम्॥

जो देहे णिरवेक्खो यो योगी देहे शरीरे निरपेक्षः उदासीनो ममत्वेन च्युतः। **णिद्दो णिम्ममो णिरारभो** निर्द्वन्द्वो निष्कलहः केनापि सह कलहरहितः। अथवा निर्द्वन्द्वो निर्युग्मः स्त्रीभोगरहितः "द्वन्द्वं कलहयुग्मयोः" इति वचनात्। निर्ममो ममत्वरहितः, ममेति अदन्तोऽव्ययशब्दः निर्गतं ममेति परिणामो यस्येति निर्ममः। उक्तं च—

अकिंचनोऽहमित्यास्व त्रैलोक्याधिपतिर्भवेः।
योगिगम्यं तव प्रोक्तं रहस्यं परमात्मनः॥ १॥

निरारम्भः सेवाकृषिवाणिज्यादिकर्मरहितः। उक्तं च—

आरंभे णत्थि दया महिलासंगेण णासए बंभं।
संकाए सम्मत्तं पव्वज्जा अत्थगहणेण॥ १॥

आदसहावे सुरओ आत्मस्वभावे टङ्कोत्कीर्णज्ञायकैकस्वभावचिच्चमत्कारलक्षणनिजशुद्धबुद्धैकपरिणामे जीवतत्त्वे सुष्ठु–अतिशयेन रतः एक-

---

१ नि मू। २ नि मू। ३ आस्स्व इत्यपि क्वचित्पाठः।
४ आरंभे नास्ति दया महिलासंगेन नाशयति ब्रह्म।
शंकया सम्यक्त्वं प्रव्रज्या अर्थग्रहणेन॥
५ ए टी।

लोलीभाव । जोई सो लहइ णिव्वाणं स एवंविधो योगी शुद्धोपयोगरतो मुनिः स लभते निर्वाणं, सर्वकर्मक्षयलक्षणोपलक्षितं मोक्षं लभते प्राप्नोति । अथवा जोईसो—योगा ध्यानं विद्यते यस्य स योगी योगिनामीशो योगीश इत्यनेन गृहस्थस्य स्त्रियाः परलिंगे च मुक्तिर्न भवतीति सूचितं ज्ञातव्यं । उक्तं च—

साम्यं स्वास्थ्यं समाधिश्च योगश्चित्तनिरोधनम् ।
शुद्धोपयोग इत्येते भवन्त्येकार्थवाचकाः ॥ १ ॥

कथं गृहस्थस्य मुक्तिर्न भवतीति चेत् ?—

खण्डनी पेषणी चुल्ली उदकुम्भः प्रमार्जनी ।
पंच सूना गृहस्थस्य तेन मोक्षं न गच्छति ॥ १ ॥

तथा स्त्रीणामपि मुक्तिर्न भवति महाव्रताभावात् । तदपि कस्मान्न भवति ? वक्षयोः स्तनयोरन्तरे नाभौ योनौ च जाघनामुत्पत्तिविनाशलक्षणहिंसासद्भावात्, निःशल्यत्वाभावात्, वस्त्रपरिग्रहायजनात्, अहमिन्द्रपदमपि न लभन्ते कथं निर्वाणमिति हेतोश्च । यदि च स्त्रियो मुक्ता भवन्ति तर्हि तत्पर्यायमूर्तयः कथं न पूज्यन्ते । सर्वथा दुर्मतं विहाय पुरुषस्यैव मुक्तिर्भवतीति भावः । परलिंगे च मुक्तिर्न भवति मिथ्यात्वदूषितत्वात्, दण्डकमण्डलुमृगचर्मकर्माशर्मकारणात् । तद्विस्तरः प्रमेयकमलमार्तण्डादिषु शास्त्रेषु ज्ञातव्यः । सज्जातिज्ञापनार्थं स्त्रीणां महाव्रतान्युपचर्यन्ते न परमार्थतस्तासां महाव्रतानि सन्ति तेन मुनेः जनस्य स्त्रियाश्च परस्परं वन्दनापि न युक्ता । यदि ता वन्दन्ते तदा मुनिभिर्नमोऽस्त्विति न वक्तव्यं, किं तर्हि वक्तव्यं ? समाधिकर्मक्षयोऽस्त्विति । ये तु परस्परं इच्छामि वदामीति आर्याः प्रतिवन्दन्ति तेऽप्यसंयमिनो ज्ञातव्याः । दिगम्बराणां मतं या नीतिं कृता सा प्रमाणमिति मन्तव्यं । उक्तं च—

वरिसंसयदिक्खियाए अज्जाए अज्ज दिक्खिओ साहू ।
अभिगमण वंदण नमसणेण विणएण सो पुज्जो ॥ १ ॥

इति गाथा अप्रमाणं भवति यदि स्त्रीणां मुक्तिः स्यात् ।

परदव्वरओ वज्झइ विरओ मुच्चेइ विविहकम्मेहिं ।
एसो जिणउवएसो समासओ बंधमोक्खस्स ॥ १३ ॥

परद्रव्यरतः बध्यते विरतः मुच्यते विविधकर्मभिः ।
एष जिनोपदेशः समासतः बन्धमोक्षस्य ॥

परदव्वरओ वज्झइ परद्रव्ये शरीरादिके रतः रतो बध्यते बन्धनं प्राप्नोति चौरवत्, यथा चौरः परद्रव्यं चोरयन् पुमान् राजलोकैर्बध्यते यो न परद्रव्यं चोरयति स न बध्यते । **विरओ मुच्चेइ विविहकम्मेहिं** विरतः परद्रव्यपराङ्मुखः पुमान् मुच्यते मुक्तो भवति विविधैर्नानाप्रकारैः कर्मभिर्ज्ञानावरणादिभिः । **एसो जिणउवएसो** एष जिनोपदेशः । **समासओ बंधमोक्खस्स** समासतः संक्षेपात्, बन्धमोक्षस्य बन्धेनोपलक्षितो मोक्षो बन्धमोक्षः तस्य बन्धमोक्षस्य । अथवा बन्धश्च मोक्षश्च बन्धमोक्षं समाहारद्वन्द्वस्तस्य ।

सद्दव्वरओ सवणो सम्माइट्ठी हवेइ णियमेण ।
सम्मत्तपरिणदो उण खवेइ दुट्ठट्ठकम्माणि ॥ १४ ॥

स्वद्रव्यरतः श्रमणः सम्यग्दृष्टिर्भवति नियमेन ।
सम्यक्त्वपरिणतः पुनः क्षिपते दुष्टाष्टकर्माणि ॥

---

१ वर्षशतदीक्षितया आर्यया अद्य दीक्षितः साधुः ।
अभिगमनवन्दनया नमस्कारेण विनयेन स पूज्यः ॥

२ अस्य स्थाने एषो जिनोपदेशः इति क पुस्तके । ख पुस्तके ॥ एष जिनोपदेश इति । अनेनैव पाठेन भवितव्यं लक्षणशास्त्राविरुद्धत्वात् ।

सद्दव्वरओ सवणो स्वद्रव्यरत श्रमण आत्मस्वरूपे [illegible] मयभूतो दिगम्बर । **सम्माइट्ठी हवेइ णियमेण** सम्यग्दृष्टिर्भवति नियमेन निश्चयेन, अत्र स देहो नास्ति। सम्यग्दर्शनस्य आत्मपरिणाम रेन सूक्ष्म त्वात्, चक्षुरादीन्द्रियाणामगोचरत्वात् । **सम्मत्तपरिणदो उण** सम्यक्त्वपरिणत पुन । **खवेइ दुट्ठट्ठकम्माणि** क्षिपते दुष्टा ने अष्टकर्माणि ज्ञानावरणादीनि ।

जो पुण परदव्वरओ मिच्छादिट्ठी हवेइ सो साहू ।
मिच्छत्तपरिणदो उण बज्झदि दुट्ठट्ठकम्मेहि ॥ १५ ॥

य पुन परद्रव्यरत मिथ्यादृष्टिर्भवति स साधु ।
मिथ्यात्वपरिणत पुन बध्यते दुष्टाष्टकर्मभि ॥

जो पुण परदव्वरओ य पुन साधु परद्रव्यरत इष्टवनितादिरत स्तनजघनवदनलोचनादिकायादिनिरीक्षणादिलम्पट । **मिच्छादिट्ठी हवेइ सो साहू** मिथ्यादृष्टिर्भवति सजायते साधु जिनलिंगोपजीवी । **मिच्छत्तपरिणदो उण** मिथ्यात्वपरिणत पुन मिथ्यादर्शनवासितो मुनि । **बज्झदि दुट्ठट्ठकम्मेहिं** बध्यते दुष्टाष्टकर्मभि । उक्तं च—

कम्माइ दिढघणचिक्कणाइ गरुयाइ वज्जसमाइ ।
णाणवियक्खणजीवउ उप्पहि पाडहि ताइ ॥ १ ॥

इति कारणात् कर्माणि दुष्टानिशपणादिशिष्ट व लभन्ते ।

परदव्वादो दुग्गई सद्दव्वादो हु सुग्गई हवइ ।
इय णाऊण सदव्वे कुणह रई विरइ इयरम्मि ॥ १६ ॥

परद्रव्यात् दुर्गति स्वद्रव्यात स्फुट सुगति भवति ।
इति [illegible] त्वा स्वद्रव्ये कुरुत रति विरतिमितरस्मिन् ॥

---

१ नि टी ।

२ कर्माणि दृढघनचिक्कणानि गुरुकाणि वज्रसमानानि ।
ज्ञानविचक्षण जीव उत्पथे पातयन्ति तानि ॥

परदव्वादो दुग्गई परद्रव्याद्दुर्गतिः परमात्मध्यानं परिहृत्य परद्रव्ये परिणमनान्नरकादिषु चतसृषु गतिषु पतनं हे जीव ! तव भवति। **सद्दव्वादो सुगई हवइ** स्वद्रव्यादात्मद्रव्ये एकलोलीभावात् सम्यक्श्रद्धानज्ञानानुचरणात् सुगतिर्भवति मुक्तिर्भवति। **इय णाऊण सदव्वे** इति ज्ञात्वा ईदृशमर्थं परिज्ञाय स्वद्रव्ये आत्मतत्त्वे। **कुणह रई विरइ इयरम्मि** कुरुत यूयं रतिं भावना, विरतिं विरमणं, इतरस्मिन् परद्रव्ये, मा रज्यत यूयमिति।

तं परदव्वं सद्दव्वं च केरिसं हवदि। तं जहा—

तत्परद्रव्यं स्वद्रव्यं च कीदृशं भवति। तद्यथा—तदेव निरूपयन्त्याचार्याः—

आदसहावादण्णं सच्चित्ताचित्तमिस्सियं हवदि।
तं परदव्वं भणियं अवितत्थं सव्वदरसीहिं॥ १७॥

आत्मस्वभावादन्यत् सचित्ताचित्तमिश्रितं भवति।
तत् परद्रव्यं भणितं-अवितथं सर्वदर्शिभिः॥

आदसहावादण्णं आत्मस्वभावादन्यत् पुद्गलादिद्रव्यं। **सच्चित्ताचित्तमिस्सियं हवदि** सचित्तं विद्यमानचेतनं इष्टवनितादिकं, अचित्तं अचेतनं धनकनकवसनादिकं, मिश्रितं आभरणवस्त्रादिसंयुक्तं कलत्रादिकं भवति। **तं परदव्वं भणियं** तत्परद्रव्यं भणितं—आगमे प्रतिपादितं। **अवितत्थं सव्वदरिसीहिं** अवितथं सत्यरूपं सर्वदर्शिभिः श्रीमद्भगवदर्हत्सर्वज्ञवीतरागैरिति शेषः।

दुट्ठट्ठकम्मरहियं अणोवमं णाणविग्गहं णिच्चं।
सुद्धं जिणेहिं कहियं अप्पाणं हवदि सद्दव्वं॥ १८॥

---

१ भवदि मूलगाथा पाठः। हवइ अन्यत्र।

दुष्टाष्टकर्मरहितं अनुपमं ज्ञानविग्रहं नित्यम् ।
शुद्धं जिनैः कथितं आत्मा भवति स्वद्रव्यम् ॥

दुट्ठट्ठकम्मरहियं दुष्टाष्टकर्मरहितं दुष्टानि पापिष्ठानि यानि अष्टकर्माणि दुर्गतिसपातहेतुत्वात् तैः रहितं वर्जितं । **अणोवमं णाणविग्गहं णिच्चं** अनुपमं उपमारहितं, ज्ञानविग्रहं ज्ञानशरीरं केवलज्ञानमयं, नित्यं शाश्वतं अविनश्वरं । **सुद्धं जिणेहि कहियं** शुद्धं निष्केवलं कर्ममलकलङ्करहितं रागद्वेषमोहादिविभावपरिणामविवर्जितं, जिनैः सर्वज्ञवीतरागैः, कथितं—आगमे प्रतिपादितं । **अप्पाणं हवदि सद्दव्वं** आत्मा भवति स्वद्रव्यं आत्मस्वरूपं स्वद्रव्यं निजद्रव्यं ज्ञातव्यमिति ।

जे झायंति सदव्वं परदव्वपरम्मुहा दु सुचरित्ता ।
ते जिणवराण मग्गं अणुलग्गा लहदि णिव्वाणं ॥ १९ ॥

ये ध्यायन्ति स्वद्रव्यं परद्रव्यपराङ्मुखास्तु सुचरित्राः ।
ते जिनवराणां मार्गमनुलग्ना लभन्ते निर्वाणम् ॥

जे झायंति सदव्वं ये मुनयो ध्यायन्ति चिन्तयन्ति स्वद्रव्यं आत्मतत्वं । **परदव्वपरम्मुहा दु सुचरित्ता** परद्रव्यात् पराङ्मुखा परद्रव्ये शरीरादौ रागरहिताः, तु पुनः, सुचरित्राः शोभनं चारित्रं अनतिचारचारित्रसहिताः । **ते जिणवराण मग्गं अणुलग्गा** ते मुनयो, जिनवराणां सर्वज्ञवीतरागाणां, मार्गं रत्नत्रयलक्षणं, अनुलग्नाः पृष्टतो लग्ना भवन्ति—जिनमार्गाराधका भवन्ति । **लहदि[1] णिव्वाणं** निर्वाणमनन्तसुखं परममोक्षं लभन्ते प्राप्नुवन्ति ।

जिणवरमएण जोई झाणे झाएइ सुद्धमप्पाणं ।
जेण लहइ णिव्वाणं ण लहइ किं तेण सुरलोयं ॥२०॥

---

१ हि टी. ।

जिनवरमतेन योगी ध्याने ध्यायति शुद्धमात्मानम् ।
येन लभते निर्वाणं न लभते किं तेन सुरलोकम् ॥

जिणवरमएण जोई जिनवरमतेन जिनशासनेन सम्यक्त्वश्रद्धानज्ञानानुभवनलक्षणेन रत्नत्रयेण योगी दिगम्बरो मुनिः । **झाणे झाएइ सुद्धम प्पाणं** ध्याने एकाग्रचिन्तानिरोधलक्षणे, ध्यायति चिंतयति, शुद्धं रागद्वेषमोहादिरहितं कर्ममलकलङ्करहितं टङ्कोत्कीर्णस्फटिकमणिबिम्बसदृशं ज्ञायकैकस्वभावं चिच्चमत्कारस्वरूपं, आत्मानं निजात्मतत्त्वं । **जेण लहइ णिव्वाणं** येनात्मध्यानेन लभते निर्वाणं सर्वकर्मक्षयलक्षणमक्षमनन्तसौख्यं । **ण लहइ किं तेण सुरलोयं** तेनात्मध्यानेन न लभते किं न प्राप्नोति सुरलोकं स्वर्गभोगं । तथा चोक्तं—

तृष्णा भोगेषु चेद्भिक्षो[१] सहस्वाल्पं स्वरेव ते ।
प्रतीक्ष्य पाकं किं पीत्वा पेयं भुक्तिं विनाशय ॥ १ ॥

जो जाइ जोयणसयं दियहेणेक्केण लेवि गुरुभारं ।
सो किं कोसद्धं पि हु ण सक्कए जाहु भुवणयले ॥ २१ ॥

यो याति योजनशतं दिनेनैकेन लात्वा गुरुभारम् ।
स किं क्रोशार्धमपि हु न शक्यते यातु भुवनतले ॥

जो जाइ जोयणसयं यो याति यः पुमान् याति गच्छति, किं[२] योजनशतं सहस्रयोजनदशमभागं । **दियहेणेक्केण लेवि गुरुभारं** दिवसेनैकेन लेवि-लात्वा गृहीत्वा, कं[२] गुरुभारं महाभारं । **सो किं कोसद्धं पि हु** स पुमान् (किं) क्रोशार्धमपि हु—स्फुटं । **ण सक्कए जाहु भुवणयले** न शक्नोति न समर्थो भवति यातुं भुवनतले पृथिवीमण्डले अपि तु गव्यूतिचतुर्थभागं यातुं शक्तो भवेत् ।

१ पथ पाठान्तरं । २ न टी ।

जो कोडिए ण जिप्पइ सुहडो संगामएहिं सव्वेहिं ।
सो किं जिप्पइ इक्किं णरेण संगामए सुहडो ॥ २२ ॥

य कोट्या न जीयते सुभट संग्रामकै सर्वै ।
स किं जीयते एकेन नरेण संग्रामे सुभट ॥

जो कोडिए ण जिप्पइ य सुभट सुभटाना कोट्या न जीयते न पराभूयते । **सुहडो संगामएहिं सव्वेहिं** सुभट संग्रामकै सर्वैरपि । **सो किं जिप्पइ इक्किं** स सुभट किं जायते एकेन सुभटन अपि तु न जीयते । **णरेण संगामए सुहडो** नरेण एकेन पुरुषेण संग्रामके एकस्मिन् संग्रामे ।

सग्गं तवेण सव्वो वि पावए तहि वि झाणजोएण ।
जो पावइ सो पावइ परलोए सासयं सोक्खं ॥ २३ ॥

स्वर्गं तपसा सर्वोऽपि प्राप्नोति तत्रापि ध्यानयोगेन ।
य प्राप्नोति स प्राप्नोति परलोके शाश्वत सौख्यम् ॥

सग्गं तवेण सव्वो वि पावए स्वर्गं तपसा कृत्वा उपवासादिना कायक्लेशेन सर्वोऽपि भव्यजीवोऽभव्यजीवोऽपि प्राप्नोति लभते । **तहि वि झाणजोएण** तत्रापि सर्वेष्वपि जीवेषु मध्ये ध्यानयोगेन कृत्वा । **जो पावइ सो पावइ** य प्राप्नोति स्वर्गं स पुमान् प्राप्नोति । **परलोए सासयं सोक्खं** परलोके आगामिनि भवे शाश्वतमविनश्वर सौख्यं परमनिर्वाणमिति शेष । परभावे इति च कश्चित्पाठ तत्रायमर्थ — परभावे भवने भावो जन्मोच्यते तस्मिन् परभावे परजन्मनीत्यर्थ ।

अइसोहणजोएणं सुद्धं हेमं हवेइ जह तह य ।
कालाईलद्धीए अप्पा परमप्पओ हवदि ॥ २४ ॥

अतिशोभनयोगेन शुद्ध हेम भवति यथा तथा च ।
कालादिलब्ध्या आत्मा परमात्मा भवति ॥

---

१ एक्कें टी । २ न टी ।

अइसोहणजोएणं अतिशोभनयोगेन सामग्र्या अनन्धपाषाणादिकं अग्निमध्ये पचित गुरूपदिष्टौषधयोगेन। **सुद्धं हेमं हवेइ जह तह य** शुद्धं षोडशवर्णिकं हेम सुवर्णं भवति यथा तह य–तथा च तथैव च **कालाईलद्धीए** कालादिलब्ध्या कृत्वा कालादिलब्ध्या सत्या वा। **अप्पा परमप्पओ हवदि** आत्मा संसारी जीवः परमात्मा भवति–अर्हन् सिद्धश्च संजायते। उक्तं च—

नागफणीए मूलं नागिणितोएण गब्भणाएण।
नागं होइ सुवण्णं धम्मतंद्धं पुण्णजोएण ॥ १ ॥

अस्या अयमर्थः–नागफणीए मूलं–नागौषधिः। नागिणितोएण–हस्तिनीमूत्रेण पिष्ट्वा। *गब्भणाएण–गर्भे नागः सीसको यस्य स गर्भनागः* सिन्दूरं सोऽपि मध्ये क्षिप्त्वा मर्द्यते। नागं होइ सुवण्णं–नागं सीसकं। एतत्सर्वं मृत्तिकाभाजने क्षिप्त्वा अधोऽग्निः क्रियते खदिराङ्गारैर्ध्मायते सुवर्णं भवति। पुण्ययोगेन पुण्ययोगं विना सुवर्णं न भवति ब्रह्मादिभ्रष्टस्येति भावः तथायमात्मा कालादिलब्धिं प्राप्य सिद्धपरमेष्ठी भवतीति भावार्थः।

वर वयतवेहि सग्गो मा दुक्खं होउ निरइ इयरेहिं।
छायातवट्ठियाणं पडिवालंताण गुरुभेयं ॥ २५ ॥

वरं व्रततपोभिः स्वर्गः मा दुःखं भवतु नरके इतरैः।
छायातपस्थितानां प्रतिपालयतां गुरुभेदः ॥

वर वयतवेहि सग्गो वरं ईषद्रुचौ वरं श्रेष्ठं *व्रतैस्तपोभिश्च* स्वर्गो भवति तच्चारु। **मा दुक्खं होउ निरइ इयरेहिं** मा दुःखं भवतु निरइ–नरकावासे, इतरैरव्रतैरतपोभिश्च। **छाया तवट्ठियाणं** छायातप-

---

१ नागेण टी। २ धमतां। ३ ए मूलगाथा पाठः।

स्थिताना ये छायाया स्थिता अनातपे वर्तन्ते ते सुखेन तिष्ठन्ति, ये आतपे घर्मे स्थिता वर्तन्ते ते दु खेन तिष्ठन्ति । **पडिवालंताण गुरुमेयं** प्रतिपालयता व्रतानि अनुतिष्ठता स्वर्गो भवति तद्वत् ससारेऽपि ते सुखिन । अव्रतानि प्रतिपालयता नरके दु खमनुभवता अतिनिन्दितमिति महान् भेदो वर्तते । तथा चोक्त पूज्यपादेनेष्टोपदशग्रन्थे—

वर व्रतैः पद दैव नाव्रतैर्वत नारक ।
छायातपस्थयोर्भेदः प्रतिपालयतोर्महान् ॥ १ ॥

जो इच्छइ णिस्सरिदुं संसारमहण्णवस्स रुंदस्स ।
कम्मिंधणाण डहणं सो झायइ अप्पयं सुद्धं ॥ २६ ॥

य इच्छति निस्सरितु ससारमहार्णवस्य रुद्रस्य ।
कर्मेन्धनानां दहन स ध्यायति आत्मान शुद्धम् ॥

जो इच्छइ णिस्सरिदुं यो मुनिवर इच्छति अभिलषति, किं कर्तु ? नि सरितुं पार यातु । कस्य, **संसारमहण्णवस्स रुंदस्स** ससारमहार्णवस्य ससारमहासमुद्रस्य । कथभूतस्य, रुन्द्रस्य अतिविस्तीर्णस्य । **कम्मिंधणाण डहणं** कर्मेन्धनाना दहन कर्मकाष्टाना भस्मीकरण । **सो झायइ अप्पयं सुद्धं** स मुनिर्ध्यायति चिन्तयति, आत्मान शुद्ध कर्ममलकलंकरहित रागद्वेषमोहादिविभाववर्जितमिति शेष ।

सव्वे कसाय मोत्तुं गारवमयरायदोसवामोहं ।
लोयववहारविरदो अप्पा झाएइ झाणत्थो ॥ २७ ॥

सर्वान् कषायान् मुक्त्वा गारवमदरागद्वेषव्यामोहम् ।
लोकव्यवहारविरत आत्मान ध्यायति ध्यानस्थ ॥

सव्वे कसाय मोत्तुं सर्वान् कषायान् क्रोधमानमायालोभान् मुक्त्वा परित्यज्य क्षीणकषायो मुनिर्भूत्वा । **गारवमयरायदोसवामोहं**

गारव च शब्दगारवं–अह वर्णोच्चारं रुचिरं जानामि न त्वेते यतयः, ऋद्धिगारवं-शिष्यादिसामग्री मम वर्ह्ही वर्तते न त्वमीषां यतीनां, सातगारव–अह यतिरपि सन् इन्द्रत्वसुखं चक्रिसुख तीर्थंकरसुखं भुंजानो वर्ते न त्विमे यतयस्तपस्विनो वराकाः। मदा अष्ट–अहं ज्ञानवान् सकलशास्त्रज्ञो वर्ते, अहं मान्यो महामंडलेश्वरा मत्पादसेवकाः। कुलमपि मम पितृपक्षोऽस्ती योज्वल. कोऽपि ब्रह्महत्या-ऋषिहत्यादिभिरदोषे। जातिः-मम माता संघस्य पत्युर्दुहिता–शीलेन सुलोचना-सीता-अनन्तमती–चन्दनादिका वर्तते। बलं–अहं सहस्रभटो लक्षभट' कोटीभटः। ऋद्धि.-ममानेकलक्षकोटिगणन धनमासीत् तदपि मया त्यक्त अन्ये मुनयोऽधमर्णा सतो दीक्षा जगृहुः। तप -अहं सिंहनिष्क्रीडितविमानपंक्तिसर्वतोभद्रशातकुंभसिंहनिष्क्रमितत्रिलोकसारवज्रमध्योष्टोर्णोल्लीलमृदगमध्यधर्मचक्रवालरुद्रोत्तरयसतमेरुनन्दीश्वरपक्तिपल्यविधानादिमहातपोविधिविधाता मम जन्मैव तपः कुर्वतो गत, एते तु यतयो नित्यभोजनरता। वपु.-ममरूपाग्रे कामदेवोऽपि दासत्वं करोतीत्यष्टमदाः। रागश्च प्रीतिलक्षणः। द्वेषश्चाप्रीतिलक्षण.। व्यामोहं पुत्रकलत्रमित्रादिस्नेहे'। वामाना स्त्रीणा वा ओहो वामोह. तत्त्वयोक्त समाहारो द्वन्द्व'। **लोयववहारविरदो** धर्मोपदेशादिकमपि न करोति लोकव्यवहारविरतः। **अप्पा झाएइ झाणत्थो** आत्मानं ध्यायति चिन्तयति, झाणत्थो– "उत्तमसंहननस्यैकाग्रचिन्तानिरोधो ध्यानमा-तर्मुहूर्तात्" इत्युक्तलक्षणे ध्याने तीष्ठतीति ध्यानस्थ.। "स्थेश्च" इति कप्रत्ययप्रयोगत्वात् ध्यानस्थ उच्यते।

---

१ अधमर्णा रा.। २ स्नेहं. रा.। ३ ओघो वामोह' क। ४ जैनेन्द्रस्येदं सूत्रं परिज्ञायते। अस्य स्थाने स्थ. क इति शाकटायनीयं सूत्रं।

मिच्छत्तं अण्णाण पावं पुण्णं चएवि तिविहेण ।
मोणव्वएण जोई जोयत्थो जोयए अप्पा ॥ २८ ॥

मिथ्यात्वमज्ञान पाप पुण्य च त्यक्त्वा त्रिविधेन ।
मौनव्रतेन योगी योगस्थो द्योतयति आत्मानम् ॥

मिच्छत्तं अण्णाणं मिथ्यात्व बौद्धनैयायिकचार्वाककणभक्षकापि लभट्टवेदान्तप्राभाकरश्वेतपटगौपुच्छिकयापनीयद्रामिलनिष्पिच्छाद्यनेकैकान्ताद्याश्रितमत, अज्ञान मस्करपूरणमत । **पावं पुण्णं चएवि तिविहेण** पाप पचप्रकार प्राणातिपातानृतचौर्यमैथुनपरिग्रहरात्रिभोजनादिक सप्त व्यसनादिलक्षण च, पुण्य शुभपुद्गलग्रहणलक्षण स्वद्यु खसहन इत्यादिक त्यक्त्वा परिहृत्य त्रिविधेन मनोवचनकाययोगप्रकारेण । **मोणव्वएण जोई** मौनव्रतेन वाग्व्यापाररहिततया योगी दिगम्बर । **जोयत्थो** योगस्थित शुद्धोपयोगतल्लीन । द्योतयति ध्यायत्यात्मान शरीरप्रमाण निजजीवस्वरूप ।

कथ मौनेन तिष्ठतीति प्राकृतसूत्रमाह—

जं मया दिस्सदे रूव तण्ण जाणादि सव्वहा ।
जाणगं दिस्सदे णंतं तम्हा जंपेमि केण हं ॥ २९ ॥

यन्मया दृश्यते रूप तन्न जानाति सर्वथा ।
ज्ञायको दृश्यतेऽनन्त तस्माज्जल्पामि केनाहम् ॥

जं मया दिस्सदे रूवं यन्मया दृश्यते रूप यद्रूप स्त्रीप्रभृतिशरीरादिक दृश्यतेऽवलोक्यते रूप रूपिपदार्थ तत् सर्वं पुद्गलद्रव्यपर्यायत्वात्परमार्थतोऽचेतन । **तण्ण जाणादि सव्वहा** तद्रूप सर्वथा निश्चयनयेन न जानाति, अचेतनेन सह कथ जल्पामि । **जाणगं दिस्सदे णंतं** ज्ञायकमात्मान रूपाश्रित वस्तु, अनन्तमात्मतत्त्वमनन्तकेवलज्ञानस्वभावत्वादनन्त यदह तेन सह जल्पामि स [illegible] जानात्येवात्मा । **तम्हा जंपेमि**

केण हं तस्मात्कारणात् केन सहाहं जल्पामि, अथवा केन कारणेन जल्पामि तेन मे मौनमेव शरणं ।

सव्वासवणिरोहेण कम्मं खवदि संचिदं ।
जोयत्थो जाणए जोई जिणदेवेण भासियं ॥३०॥

सर्वास्रवनिरोधेन कर्म क्षिपयति संचितम् ।
योगस्थो जानाति योगी जिनदेवेन भाषितम् ॥

सव्वासवणिरोहेण सर्वेषामास्रवाणां मिथ्यात्वाविरतिप्रमादकषाययोगलक्षणानां निरोधेन निषेधेन । **कम्मं खवदि संचिदं** कर्म क्षिपयति पूर्वोपार्जितं तडागेऽभिनवजलप्रवेशाभावे संचितपूर्वजलशोषवत् । **जोयत्थो जाणए जोई** योगस्थ ध्यानस्थितः आत्मैकलोलीभावमिलितो जानाति केवलज्ञानमुत्पादयति योगी शुक्लध्यानविशेषागमभावया केवली भवति । **जिणदेवेण भासियं** सिद्धार्थनृपनन्दनेन वीरेण कथितमिति भावः ।

जो सुत्तो ववहारे सो जोई जग्गए सकज्जम्मि ।
जो जग्गदि ववहारे सो सुत्तो अप्पणे कज्जे ॥३१॥

यः सुप्तो व्यवहारे स योगी जागर्ति स्वकार्ये ।
यो जागर्ति व्यवहारे स सुप्त आत्मनः कार्ये ॥

जो सुत्तो ववहारे यो मुनिः सुप्तः, क्व[१] व्यवहारे व्यवहारमध्ये न पतितः । **सो जोई जग्गए सकज्जम्मि** स योगी जागर्ति सावधानो भवति, स्वकार्ये आत्मकार्ये कर्मक्षयविधाने । **जो जग्गदि ववहारे** यो योगी जागर्ति सावधानो भवति, क्व[१] व्यवहारे लोकोपचारे । **सो सुत्तो अप्पणे कज्जे** स योगी मुनिः सुप्तो न वद्यतऽसावधानो भवति आत्मनः कार्ये आत्मस्वरूपे । उक्तं च—

१ सर्वेषामास्रवाणामिति पाठः क पुस्तके नास्ति । ख पुस्तकात् संयोजितः ।

जो निसि सयलह देहियहं जोग्गिउ तहिं जग्गेइ ।
जहिं पुणु जग्गइ सयलु जगु सा निसि मणेवि सुवइ ॥१॥

इय जाणिऊण जोई ववहारं चयइ सव्वहा सव्वं ।
झायइ परमप्पाणं जह भणियं जिणवरिंदेण ॥ ३२ ॥

इति ज्ञात्वा योगी व्यवहारं त्यजति सर्वथा सर्वम् ।
ध्यायति परमात्मानं यथा भणितं जिनवरेन्द्रेण ॥

इय जाणिऊण जोई इतीदृशमर्थं ज्ञात्वा, कोऽसौ ? योगी ध्यानवान् मुनिः ।**ववहारं चयइ सव्वहा सव्वं** व्यवहारं त्यजति सर्वथा सर्वं आत्मना सह एकलोलीभावं गते सति व्यवहारः स्वयमेव तिष्ठति । **झायइ परमप्पाणं** ध्यायति परमात्मानं—निजशुद्धबुद्धैकस्वभावे आत्मनि तल्लीनो भवति । **जह भणियं जिणवरिंदेण** यथा भणितं प्रतिपादितं जिनवरेन्द्रेण प्रियकारिणीप्रियपुत्रेण श्रीवीरवर्धमानस्वामिना ।

पंचमहव्वयजुत्तो पंचसु समिदीसु तीसु गुत्तीसु ।
रयणत्तयसंजुत्तो झाणज्झयणं सया कुणह ॥ ३३ ॥

पञ्चमहाव्रतयुक्तः पंचसु समितिषु तिसृषु गुप्तिषु ।
रत्नत्रयसंयुक्तः ध्यानाध्ययनं सदा कुरु ॥

पंचमहव्वयजुत्तो पञ्चमहाव्रतयुक्तो दयावान् सत्यवादी अदत्तादानविरतः सर्वस्त्रीसोदरः वस्त्रादिपरिग्रहरहित दिवा एकवारं प्रत्युत्पन्नं प्रासुकं मुक्तं शुद्धं शोधितं भुंजानः । **पंचसु समिदीसु तीसु गुत्तीसु** ईर्यापथ युगान्तरविलोकनगमनः, आगमोक्तभाषानिपुण, चर्मजलस्पृष्टभोजनपरित्यागी हिंगुसंवासितव्यंजनाभोजन. अजिनसंगघृततैलपरिहारी, दृष्टमृष्टोपकरणग्रहणनिक्षेपैः, प्रासुकारूढभूमिमलमूत्रव्युत्सर्जनकुशलैः, अपध्यानमनोनिषेधी, मौनवान्, कूर्मवत्संकोचितकरचरणादिकायैः । **रयण-**

१ या निशा सकलानां देहिना योगी तस्या जागर्ति ।
यस्यां पुनः जागर्ति सकलं जगत् सा निशां मणित्वा स्वपिति ॥

त्तयसंजुत्तो मिथ्यात्वकदुदुरात् सम्यग्ज्ञानानुशीलनशुश्रूषा सच्चरित्रपवित्रगात्र । झाणज्झयणं सया कुणह ध्यानाध्ययनं सदा सर्वकाले कुरु त्व हे जीव ! इति तात्पर्यार्थ ।

रयणत्तयमाराहं जीवो आराहओ मुणेयव्वो ॥
आराहणाविहाणं तस्स फलं केवलं णाणं ॥ ३४ ॥

रत्नत्रयमाराधयन् जीव आराधको मुनितव्य ।
आराधनाविधान तस्य फल केवल ज्ञानम् ॥

रयणत्तयमाराहं रत्नत्रयमाराधयन् । **जीवो आराहओ मुणेयव्वो** जीव आत्मा आराधको मुनितव्यो ज्ञातव्य । **आराहणाविहाणं** इदमाराधनाविधन विधि । **तस्स फलं केवलं णाणं** तस्याराधनाविधानस्य, किं फल केवल ज्ञान अनन्तकेवलज्ञानमिति अनन्तचतुष्टय ।

सिद्धो सुद्धो आदा सव्वण्हू सव्वलोयदरसी य ।
सो जिणवरेहि भणियो जाण तुमं केवलं णाणं ॥३५॥

सिद्ध शुद्ध आत्मा सर्वज्ञ सर्वलोकदर्शी च ।
स जिनवरै भणित जानीहि त्व केवल ज्ञानम् ॥

सिद्धो सुद्धो आदा सिद्ध आत्मोपलब्धिमान् । शुद्ध कर्ममलकलङ्करहित, ईदृग्विध आत्मा अतति समयैकेन ऊर्ध्वं व्रज्यास्वभावेन त्रिभुवनाग्र गच्छतीति आत्मा शुद्धबुद्धैकस्वभाव । **सव्वण्हू सव्वलोयदरिसी य** सर्वज्ञ त्रैलोक्यालोकस्वरूपज्ञायककेवलज्ञानसमुपेत , सर्वलोकदर्शी च सर्वशब्देनालोकाकाशो लभ्यते लोकशब्देन षड्द्रव्याधारवत्त्रिभुवनमुच्यते तद्द्वय दृष्टु अवलोकयितु शीलमस्येति सर्वलोकदर्शी । चकार उक्तविशेषणसमुच्चयार्थ तनानन्तवीर्यान तसौख्यानन्दादिरनन्त-

१ रयणत्तयमाराहं अय पाठ क पुस्तके नास्ति, ख पुस्तकात् सयोजित ।
२ सौख्यादादि इ ख पुस्तके पाठ ।

गुणोऽपि गृह्यते । **सो जिणवरेहिं भणिओ** स एव गुणविशिष्ट आत्मा जिनवरैस्तीर्थंकरपरमदेवैर्भणितः प्रतिपादितः । एवं गुणविशिष्टमात्मानं **जाण तुमं केवलं णाणं** जानीहि त्वं केवलं ज्ञानं, आत्मा खलु केवलज्ञान–अभेदनयत्वात् ज्ञानमेवात्मानं जानीहि ।

रयणत्तयं पि जोई आराहइ जो हु जिणवरमएण ।
सो झायदि अप्पाणं परिहरदि परं ण संदेहो ॥ ३६ ॥

रत्नत्रयमपि योगी आराधयति यः स्फुटं जिनवरमतेन ।
स ध्यायति आत्मानं परिहरति परं न सन्देहः ॥

रयणत्तयं पि जोई रत्नत्रयमपि योगी ध्यानवान् मुनिः, न केवलं गुणिनमात्मानं तद्गुणं रत्नत्रयमपीत्यपेरर्थः । **आराहइ जो हु जिणवरमएण** आराधयति यः संयमी हु स्फुटं जिनवरमतेन सर्वज्ञवीतरागकथितमार्गेण । **सो झायदि अप्पाणं** स योगी ध्यायति चिंतयति, कं? [1] आत्मानं सहजानन्दस्वभावं जीवतत्त्वं । चकाराद् आत्मा तद्रत्नत्रयं यद् रत्नत्रयं स आत्मा गुणगुणिनोरभेदनयात् । **परिहरदि परं णं संदेहो** परिहरति परित्यजति, परं पुद्गलाद्यचेतनद्रव्यं, न सन्देहोऽत्रार्थे संशयो नास्ति ।

कह ओदे रयणत्तयं हवदि तं जहा–

कथमात्मनि रत्नत्रयं भवतीति चेत्? [2] तद्यथा-तदेव निरूपयति—

जं जाणइ तं णाणं जं पिच्छइ तं च दंसणं णेयं ।
तं चारित्तं भणियं परिहारो पुण्णपावाणं ॥ ३७ ॥

यज्जानाति तज्ज्ञानं यत् पश्यति तच्च दर्शनं ज्ञेयम् ।
तच्चारित्रं भणितं परिहारः पुण्यपापानाम् ॥

१ न टी । २ आदा ग घ अन्यत्र च पाठः । अस्यार्थं आत्मेति ।

दंसणसुद्धो सुद्धो दंसणसुद्धो लहेइ णिव्वाणं ।
दंसणविहीणपुरिसो न लहइ तं इच्छियं लाहं ॥ ३९ ॥

दर्शनशुद्धः शुद्धः दर्शनशुद्धः लभते निर्वाणम् ।
दर्शनविहीनपुरुषः न लभते तं इष्टं लाभम् ॥

दंसणसुद्धो सुद्धो दर्शनेन सम्यग्दर्शनेन सम्यक्त्वेन शुद्धो निर्मलो निरतिचारः पंचविंशतिदोषरहितः पुमान् शुद्धः कथ्यते । उक्तं च—

सम्यग्दर्शनसम्पन्नमपि मातंगदेहजं ।
देवा देवं विदुर्भस्मगूढाङ्गारान्तरौजसं ॥ १ ॥

दंसणसुद्धो लहेइ णिव्वाणं दर्शनशुद्धः पुमाँल्लभते निर्वाणं मोक्षं । **दंसणविहीणपुरिसो** दर्शनविहीनः पुरुषः सम्यग्दर्शनरहितः पुमान् सम्यक्त्वविवर्जितो जीवः । **न लहइ तं इच्छियं लाहं** न लभते न प्राप्नोति तं जगत्प्रसिद्धं योगिनां प्रत्यक्षं इष्टं लाभं सर्वकर्मक्षयलक्षणं *मोक्षपदार्थं ।*

इय उवएसं सारं जरमरणहरं खु मण्णए जं तु ।
तं सम्मत्तं भणियं समणाणं सावयाणं पि ॥ ४० ॥

इति उपदेशः सारो जन्ममरणहरः स्फुटं मन्यते यत्तु ।
तत् सम्यक्त्वं भणितं श्रमणानां श्रावकाणामपि ।

इय उवएसं सारं इतीदृशं उपदेशं सबोधवचनं, सारं सारं श्रेष्ठतरं ।

श्रेष्ठे बले स्थिरस्यांते मज्जाया सार उच्यते ।
जले न्याय्ये धने विद्धि॰ सारमुक्तं नपुंसके[1] ॥ १ ॥

जरमरणहरं खु मण्णए जं तु जरामरणहरं जरामरणविनाशकं इमं उपदेशं मन्यते श्रद्दधाति यत्तु यत् श्रद्धत्ते तु पुनः । **तं सम्मत्तं भणियं** तत्सम्यक्त्वं भणितं प्रतिपादितं । **समणाणं सावयाणं पि**

---

१ अमरेऽप्युक्तम्—"सारो बले स्थिरांशे न्याय्ये क्लीबं वरे त्रिषु ।"

श्रवणाना दिगम्बराणा अनगारयतीना श्रावकाणामपि गृहस्थाना । अपिशब्दाच्चातुर्गतिकजीवानामपि ।

जीवाजीवविहत्ती जोई जाणेइ जिणवरमएणं ।
तं सण्णाणं भणियं अवियत्थं सव्वदरिसीहिं ॥ ४१ ॥

जीवाजीवविभक्ति योगी जानाति जिनवरमतेन ।
तत् संज्ञान भणित अवितथ सर्वदर्शिभि ॥

जीवाजीवविहत्ती जीवाजीवाना विभक्ति भेदस्ता जीवाजीवविभक्ति । **जोई जाणेइ जिणवरमएणं** योगी दिगम्बरो मुनि, जानाति वेत्ति यथावत्स्वरूपमवैति, जिनवरमतेन सर्वज्ञशासनेन । **तं सण्णाणं भणियं** तत्संज्ञान भणित तत्सम्यग्ज्ञान कथित । **अवियत्थं सव्वदरिसीहिं** अवितथं सत्यभूत, सर्वदर्शिभि सर्वज्ञैरिति शेष । उक्त च—

अन्यूनमनतिरिक्त याथातथ्य विना च विपरीतात् ।
नि सन्देह वेद यदाहुस्तज्ज्ञानमागमिन ॥ १ ॥

जं जाणिऊण जोई परिहारं कुणइ पुण्णपावाणं ।
तं चारित्तं भणियं अवियप्पं कम्मरहिएण ॥४२॥

यत् ज्ञात्वा योगी परिहार करोति पुण्यपापयो ।
तत् चारित्र भणित अविकल्पं कर्मरहितेन ॥

जं जाणिऊण जोई यज्ज्ञात्वा निश्चय योगी जैनो मुनि । **परिहारं कुणइ पुण्णपावाणं** परिहार परित्याग करोति पुण्यपापयो । **तं चारित्तं भणियं** तदात्मना सहैकलोलीभाव तन्मयत्व तत्परत्वं तन्निष्ठत्व तदेकतानत्व चारित्र परमोदासीनतालक्षण भणित प्रतिपादित । केन, **कम्मरहिएण** घातिकर्मविघ्नसकेन सर्वज्ञेन । तत्कथंभूतं चारित्र, **अवियप्पं** अविकल्प सकल्पविकल्परहित निर्विकल्पसमाधिलक्षणं यथाख्यातनामक ।

जो रयणत्तयजुत्तो कुणइ तवं संजदो ससत्तीए ।
सो पावइ परमपयं झायंतो अप्पयं सुद्धं ॥४३॥

यो रत्नत्रययुक्तः करोति तपः संयतः स्वशक्त्या ।
स प्राप्नोति परमपदं ध्यायन् आत्मानं शुद्धम् ॥

जो रणत्तयजुत्तो यो जैनो मुनी रत्नत्रययुक्तः सम्यग्दर्शनज्ञान चारित्रसहितः सम्यक्श्रद्धानज्ञानानुष्ठानसमुपेतः । **कुणइ तवं संजदो ससत्तीए** करोति विदधाति सम्यगनुतिष्ठति, किं तत् ? तपः इच्छा-निरोधलक्षणं आत्मनि ज्ञानवत्तया तपनं, संयतो जैनो मुनिः परमोदासी-नतालक्षणसंयमः सम्पन्नः, स्वशक्त्या आत्मशक्त्यनुसारेण । उक्तं च—

जं सक्कइ तं कीरइ जं च ण सक्केइ तं च सद्दहइ ।
सद्दहमाणो जीवो पावइ अजरामरं ठाणं ॥ १ ॥

" शक्तितस्त्यागतपसी " इति वचनात् । **सो पावइ परमपयं** स प्राप्नोति स मुनिर्लभते, किं तत् ? परमपदं इन्द्रधरणेन्द्रमुनीन्द्रनरेन्द्र वंदितं स्थानं परमनिर्वाणं । **झायंतो अप्पयं सुद्धं** ध्यायन् सन् एकाग्रतया चिन्तयन्, कं ? आत्मानं निजशुद्धबुद्धैकस्वभावात्मतत्वं, शुद्धं द्रव्यकर्मभावकर्मनोकर्मरहितं रागद्वेषमोहादिविवर्जितं कर्ममलकलङ्करहितं प्रत्यक्षतया प्राप्तमिति तात्पर्यार्थः ।

तिहि तिण्णि धरवि णिच्चं तियरहिओ तह तिण्ण परियरिओ ।
दोदोसविप्पमुक्को परमप्पा झायए जोई ॥ ४४ ॥

त्रिभिः त्रीन् धृत्वा नित्यं त्रिकरहितः तथा त्रिकेण परिकलितः ।
द्विदोषविप्रमुक्तः परमात्मानं ध्यायते योगी ॥

---

१ सशब्दोऽयं टीकायां नास्ति मूलात् सयोजितः ।
२ यच्छक्नोति तत्क्रियते यच्च न शक्नुयात् तच्च श्रद्धीयते ।
श्रद्दधानो जीवः प्राप्नोति अजरामरं स्थानं ॥

श्रवणानां दिगम्बराणां अनगारयतीना श्रावकाणामपि गृहस्थानां । अपिशब्दाचातुर्गतिकजीवानामपि ।

जीवाजीवविहत्ती जोई जाणेइ जिणवरमएणं ।
तं सण्णाणं भणियं अवियत्थं सव्वदरिसीहिं ॥ ४१ ॥

जीवाजीवविभक्ति योगी जानाति जिनवरमतेन ।
तत् संज्ञानं भणितं अवितथं सर्वदर्शिभिः ॥

जीवाजीवविहत्ती जीवाजीवाना विभक्तिः भेदस्तां जीवाजीवविभक्तिं । **जोई जाणेइ जिणवरमएणं** योगी दिगम्बरो मुनिः, जानाति वेत्ति यथावत्स्वरूपमवैति, जिनवरमतेन सर्वज्ञशासनेन । **तं सण्णाणं भणियं** तत्सज्ञानं भणित-तत्सम्यग्ज्ञानं कथित । **अवियत्थं सव्वदरिसीहिं** अवितथं सत्यभूतं, सर्वदर्शिभि. सर्वज्ञैरिति शेपः । उक्त च–

अन्यूनमनतिरिक्तं याथातथ्यं विना च विपरीतात् ।
निःसन्देहं वेद यदाहुस्तज्ज्ञानमागमिन ॥ १ ॥

जं जाणिऊण जोई परिहारं कुणइ पुण्णपावाणं ।
तं चारित्तं भणियं अवियप्पं कम्मरहिएण ॥४२॥

यत् ज्ञात्वा योगी परिहारं करोति पुण्यपापयो ।
तत् चारित्रं भणितं अविकल्पं कर्मरहितेन ॥

जं जाणिऊण जोई यज्ज्ञात्वा निश्चाय योगी जैनो मुनिः । **परिहारं कुणइ पुण्णपावाणं** परिहार परित्यागं करोति पुण्यपापयोः । **तं चारित्तं भणियं** तदात्मना सहैकलोलीभावः तन्मयत्वं तत्परत्वं तन्निष्ठत्वं तदेकतानत्वं चारित्रं परमोदासीनतालक्षणं भणितं प्रतिपादित । केन, **कम्मरहिएण** घातिकर्मविध्वंसकेन सर्वज्ञेन । तत्कथंभूतं चारित्र, **अवियप्पं** अविकल्पं संकल्पविकल्परहितं निर्विकल्पसमाधिलक्षणं यथाख्यातनामक ।

जो रयणत्तयजुत्तो कुणइ तवं संजदो ससतीए।
सो पावइ परमपयं झायंतो अप्पयं सुद्धं ॥४३॥

यो रत्नत्रययुक्तः करोति तपः संयतः स्वशक्त्या।
स प्राप्नोति परमपदं ध्यायन् आत्मानं शुद्धम् ॥

जो रयणत्तयजुत्तो यो जैनो मुनी रत्नत्रययुक्तः सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रसहितः सम्यक्श्रद्धानज्ञानानुष्ठानसमुपेतः। **कुणइ तवं संजदो ससत्तीए** करोति विदधाति सम्यगनुतिष्ठति, किं तत्? तपः इच्छानिरोधलक्षणं आत्मनि ज्ञानवत्तया तपनं, संयतो जैनो मुनिः परमोदासीनतालक्षणसंयमसम्पन्नः, स्वशक्त्या आत्मशक्त्यनुसारेण। उक्तं च—

जं सक्कइ तं कीरइ जं च ण सक्केइ तं च सद्दहइ।
सद्दहमाणो जीवो पावइ अजरामरं ठाणं ॥ १ ॥

"शक्तितस्त्यागतपसी" इति वचनात्। **सो पावइ परमपयं** स प्राप्नोति स मुनिर्लभते, किं तत्? परमपदं इन्द्रधरणेन्द्रमुनीन्द्रनरेन्द्रवदितं स्थानं परमनिर्वाणं। **झायंतो अप्पयं सुद्धं** ध्यायन् सन् एकाग्रतया चिन्तयन्, कं? आत्मानं निजशुद्धबुद्धैकस्वभावात्मतत्त्वं, शुद्धं द्रव्यकर्मभावकर्मनोकर्मरहितं रागद्वेषमोहादिविवर्जितं कर्ममलकलङ्करहितं प्रत्यक्षतया प्राप्तमिति तात्पर्यार्थः।

तिहि तिण्णि धरवि णिच्चं तियरहिओ तह तिएण परियरिओ।
दोदोसविप्पमुक्को परमप्पा झायए जोई ॥ ४४ ॥

त्रिभिः त्रीन् धृत्वा नित्यं त्रिकरहितः तथा त्रिकेण परिकलितः।
द्विदोषविप्रमुक्तः परमात्मानं ध्यायते योगी ॥

---

१ ससन्दोऽयं टीकायां नास्ति मूलात् सयोनिनः।
२ यच्छक्नोति तत्क्रियते यच्च न शक्नुयात् तच्च श्रद्धीयते।
श्रद्दधानो जीवः प्राप्नोति अजरामरं स्थानं ॥

तिहि त्रिभि मनोवचनकाये । **तिण्णि धरवि** त्रीन् वर्षाशीतोष्ण कालयोगान् धृत्वा । "तुआण तूणाउ तुम् च क्त्वाया" इति प्राकृत-व्याकरणसूत्रेण क्त्वाप्रत्ययस्य आदेश तेन धृत्वा इत्यस्य स्थाने धरवि इति प्रयोग साधु । **णिच्चं** सर्वदा सर्वस्मिन् दीक्षाकाले। **तियरहिओ** मायामिथ्यात्वनिदानशल्यत्रिकरहित । **तह तिएण परियरिओ** तथा तेनैव त्रिकरहितप्रकारेण, त्रिकेण सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रेण, परिकरितो मंडित । **दोदोसविप्पमुक्को** द्विदोषविप्रमुक्त विशेषेण प्रकर्षेण रागद्वेषदोषरहित । **परमप्पा झायए जोई** परमात्मानं सिद्धस्वरूपमात्मानं ध्यायति चिंतयति योगी ध्यानवान् मुनि । अथवा योगीति योगबलेन मनोवाक्काययोगावष्टम्भन ।

मयमायकोहरहिओ लोहेण विवज्जिओ य जो जीवो ।
णिम्मलसहावजुत्तो सो पावइ उत्तमं सोक्खं ॥ ४५ ॥

मदमायाक्रोधरहित लोभेन विवर्जितश्च यो जीव ।
निर्मलस्वभावयुक्त स प्राप्नोति उत्तमं सौख्यम् ॥

मयमायकोहरहिओ मदमायाक्रोधरहित । **लोहेण विवज्जिओ य जो जीवो** लोभेन विवर्जितश्च यो जीव आत्मा । **णिम्मलसहावजुत्तो** निर्मलस्वभाव रागादिरहित परिणामस्तेन संयुक्त । **सो पावइ उत्तम सोक्खं** स जीव प्राप्नोति लभते, किं[१] उत्तम सौख्यं कर्मक्षयसजात इन्द्रियसुखरहित इन्द्रादीनामपि दुर्लभं सौख्यं परमानन्दलक्षण ।

तथा चोक्त—

जं मुणि लहइ अणतसुहु णियअप्पा झायतु ।
त सुहु इदु वि न वि लहइ देविहिं कोडि रमतु ॥ १ ॥

---

१ नो क ।

२ यन्मुनि लभतेऽनन्तसुख निजात्मान ध्यायन् ।
तत् सुख इन्द्रोऽपि नैव लभते देवीनां कोटिं रममाण ॥

विसयकसाएहिं जुदो रुद्दो परमप्पभावरहियमणो ।
सो न लहइ सिद्धिसुहं जिणमुद्दपरम्मुहो जीवो ॥४६॥

विषयकषायैर्युक्त रुद्र परमात्मभावरहितमना ।
स न लभते सिद्धसुखं जिनमुद्रापराङ्मुखो जीव ॥

विसयकसाएहिं जुदो विषयै वनिताजनमालिंगनादिस्पर्शादिपञ्चेन्द्रियसुखै कषायैश्च क्रोधमानमायालोभै युक्त सहित । **रुद्दो परमप्पभावरहियमणो** रुद्र सत्यकिमहाराजपुत्र परमात्मभावरहितमना परमात्मभावनाया प्रभ्रष्ट । **सो न लहइ सिद्धिसुहं** स रुद्रो न लभते न प्राप्नोति, किं ? सिद्धिसुखं आत्मोपलब्धिसुखं । तर्हि किं लभते ? नरकदुःखं लभते इत्यर्थापत्ति । **जिणमुद्दपरम्मुहो जीवो** जिनमुद्रापराङ्मुखो जीव जिनमुद्रां परित्यज्य भ्रष्टो बभूवेति भावार्थ ।

रुद्रस्य कथा यथा—अथेह भरतक्षेत्रे विजयार्धपर्वते दक्षिणश्रेण्यां किन्नरगीतनगरे रत्नमाली खगनरेन्द्रो मनोहरीविद्याधरीकान्त, तत्पुत्रो रुद्रमाली । स एकस्मिन् दिने स्वच्छन्द वने विहरमाणो विद्या साधयन्तीं विद्याधरकुमारीं ददर्श । तद्रूपमोहितो विद्यया भ्रमरो बभूव । षण्मासपर्यन्तं तद्वदनकमले स्थितिं चकार । पुन सूक्ष्मो भूत्वा स्तनयोर्जघने च तस्थौ । पश्चात्प्रकटीकृतनिजशरीर स तया परिगलितधैर्यो भणित प्रतीक्षस्व कियत्कालं तावत् विघ्नं मा कार्षी । शिखिदुर्लभा विद्या सिद्धयति तस्यां सिद्धायां तव जाया भविष्यामि । हे सुभग ! बद्धानुरागाहं वर्ते । तदा तेन सा पृष्टा । भद्रे ! त्वं कस्य धूदा ?[1] । भणितं च तया । अत्रैव पर्वते उत्तरस्यां श्रेणौ गन्धर्वपुरपत्तनाधीशो मम पिता महानन्द । तस्य प्रभाकरी भार्या । तयोर्धीदा प्रसिद्धाहमर्चि-

---

१ कस्मात्त्वदाकस्मे सुता इत्यपि पाठ ख पुस्तके वर्तते । स च क पुस्तके टिप्पणरूपेण वर्तत । धूदा इ यस्यैव नामान्तरं सुतेति । ज्ञायते खलु लेखकस्य दोऽयं । यत् मूले क्षिप्तोऽयं सुतेति शब्द ।

मालिनी। तथापि पृष्ट त्व क [१]। स आह। अत्र गिरौ दक्षिणश्रेणौ किन्नरगीतपुरप्रभुरत्नमालिमनोहर्यो सुतोऽह रुद्रमाली नाम। बहुभिर्दिनै साधितविद्यार्चिमालिनी दुवदना सदन जगाम। मातरपितरौ द्वयोर्मनो निशाय तयोर्विवाह चक्रतु। तौ रतिरसरजितौ साधितप्रज्ञप्तिविद्यौ नन्दनवने शान्तिहेतवे जिनस्नपनपूजनस्तवनानि कृत्वा सुख स्थितौ। मनोजयचित्तवेगौ तस्या मैथुनिकावागत्य महाज्वालिनीविद्यया रुद्रमालिन बद्ध्वा प्रगृह्य गतौ। सोऽपि तौ निर्जित्य पुनरागत। अर्चिमालिन्या सह निजपुर प्रविवेश। सानुरागस्तस्यौ। एकदा वैराग्य प्राप्य चारणचरणमूले सभार्यो दिदीक्षे। तौ परस्पर ममाय कान्तो भविष्यति ममेय प्राणप्रिया भविष्यतीति सनिदानौ सौधर्मे सन्यासेन गतौ। तत्रापि दीर्घकाल रतिसुख भुक्त्वा गन्धारदेशे माहेश्वरपुरे स देव सत्यन्धरमहाराजसत्यवत्यो सुत सात्यकिर्जात। अर्चिमालिनीचरी देवी सौधर्माच्च्युत्वा सिन्धुदेशे विशालीपत्तने चेटकमहाराजसुप्रभादेव्यो सुता ज्येष्ठा जाता। सा सात्यके पूर्वमेव दत्ता। पर विवाहो न वर्तते। अत्रान्तरे श्रेणिकमहाराजपुत्र क ार्थं सार्थवाहो भूत्वा अभयकुमारो नाम धूर्तस्तत्रागत। तत्र राजपुत्र्यौ चेलना ज्येष्ठा च चालयित्वा उपाय कृत्वा सुरगया नि -सृत। तत्र चेलनया जेष्ठा आभरणादिमिषेण व्याघोटिता स्वय श्रेणिक आगता। यावज्ज्येष्ठा जिनप्रतिमा गृहीत्वा गच्छति तावत्तत्र कोऽपि न दृष्ट। जेष्ठा तु लज्जिता "अह वृद्धभगिन्या वचिता" इति वैराग्येण पितृष्वसुर्यशस्वत्यार्यैत्याख्ये स्थितायाश्चरणमूले दीक्षा जग्राह। कनत्काचनवर्णाया कन्याया वार्ता श्रुत्वा सात्यकिर्नाम कुमार ससाराद्विरक्तो राज्यलक्ष्मी परित्यज्य समाधिगुप्त नत्वा जिनदीक्षामग्रहीत्। त्रिगुप्तिगुप्त

१ आर्यकाया

सन् स तपस्तीव्रं कुर्वाण उत्तरगोकर्णमद्रिं मुक्त्वा कदाचित् राजगृह-नगरसमीपे उच्चग्रीवपर्वते स्थितः। एकस्मिन् दिने तद्गुणानुरागिण्यस्त-त्रत्यार्यास्तं वन्दितुमागताः। वन्दित्वा यावद्द्रिरेरवतरन्ति तावन्महामेघ-वृष्टिरागता। आर्यास्तु स्तिम्यन्त्यो विह्वलीभूता यत्र तत्र गताः। ज्येष्ठार्या सत्यकिमुनेर्गुहां प्रविष्टा। तत्र वस्त्रं निष्पीलयन्ती ज्येष्ठा सत्यकिना मुनिना दृष्टा। समुत्पन्नकामोद्रेकेण सा तेन भुक्ता। पुनरालोचनां निन्दां गर्हणं च कृत्वा श्रवणधर्मे स्थितः। सा सगर्भा शान्त्यार्यया ज्ञात्वा चेलन्याः समर्पिता। तत्र तिष्ठन्ती सा पुत्रमसूत। स पुत्रोऽभयकुमारेण स्वयंभूगुहायां क्षिप्तः। तत्र रात्रौ स्वप्नदर्शनाच्चेलनया स आनायितः। दर्शनोद्वाहं शमयित्वा स्वयंभूनामा कृतः। ज्येष्ठा तु निःशल्या भूत्वा गता। आर्यायाः पार्श्वे सयमनियमान् पालयन्ती स्थिता। स्वयंभूस्तु वर्धमानः शिशूना चपेटादिताडनेन सन्तापं करोति। तदेव्या चेलनया अपरमपि कालेनायुक्तं दृष्ट्वा स्वयंभूरुक्तः। खलो जारजातो निर्लज्जः किं केनापि स्वभावं मुंचति। भ्रुकुटिं कृत्वा दुर्वचनेन शूलभिन्न इव ताडितः। पुनः स प्रणामं कृत्वा पृष्टवान्—मातः! किमेतदुक्तं? चेल-नया तु न किमपि रक्षितं यथोक्तमुवाच। निजोत्पत्तिव्यतिकरं ज्ञात्वा उत्तर-गोकर्णपर्वतं गत्वा सत्यकिमुनिं नत्वा वैराग्येण दिगम्बरो भूत्वा उत्तर-गोकर्णपर्वते स्थितः। गुरुशिक्षया मनो रुद्ध्वा स एकादशाङ्गानि शिक्षितः। तत्र रोहिणीप्रभृतयः पंचशतविद्या महातिशया आगताः सिद्धाः। अपरा अपि अंगुष्ठप्रसेनाप्रभृतयः सप्तशतक्षुद्रविद्यास्तस्य सिद्धाः। विद्यासामर्थ्येन सिंहो भूत्वा जनं भीषयति। तद्वृत्तान्तः केनचित् सत्यके-र्निरूपितः। गुरुणा स उक्तः—मुने! तव स्त्रीहेतुना विनाशो भविष्यति।

---

२ आर्या समस्तापि इति ग. पुस्तके एकवचनान्तोऽशुद्धः पाठः।

तच्छ्रुत्वा यत्र स्त्रीमुखं न पश्यामि तत्राहं तपः करिष्यामीति कैलासपर्वतं गत्वा तपः कर्तुं लग्नः। तावद्विजयार्धदक्षिणश्रेणौ मेघनिनदपत्तने कनकरथो नाम विद्याधरनरेन्द्रः। तद्देवी मनोरमा। देवदारुविद्युद्दसनौ द्वौ पुत्रौ। एकदा देवदारुं राज्ये स्थापयित्वा विद्युज्जिह्वं च युवराजं कृत्वा कनकरथो गुणधरगुरुचरणमूले दीक्षां जग्राह। प्रज्ञप्तिविद्याप्रभावेण विद्युज्जिह्वेन देवदारुर्जितो निर्धाटितः। कैलासमागत्य सपरिवारो विद्यापुरं कृत्वा निर्भयं स्थितः। तस्य देवदारोः चतस्रो महादेव्यः सन्ति योजनगन्धा, कनका, तरंगवेगा, तरंगभामिनी चेति। चतस्रोऽप्यतिमनोहरशरीराः। योजनगन्धायां गन्धिला गन्धमालिनी चेति द्वे पुत्र्यौ जाते अति विनीते। कनकाया कनकचित्रा कनकमाला चेति धूदे द्वे जाते। तरंगवेगाया तरंगसेना तरंगवती चेति द्वे कन्ये सजाते। तरंगभामिन्या सुप्रभा प्रभावती चेति द्वे पत्रिरे बभवतुः। एता अष्टावपि दिव्याभरणभूषिता दिव्याम्बरधरा अमरकुमारिका इव कञ्चुकिपरिवरितास्तिष्ठन्ति। एकदा कैलासोपरि मानससरसि जलक्रीडार्थमागता पीनोन्नतस्तनशोभिता स्नानं कुर्वतास्ता रुद्रो ददर्श। मदनमार्गैर्वक्षसि विद्धः। क्षुभितो रुद्रो व्यामोहं प्राप। तत्रासन्नस्थितेन कामबाणजर्जरितहृदयेन चिन्तित उपायः। विद्यया सरस्तटस्थितानि वस्त्राभरणानि हारयति स्म। ता अनुपमाः स्नानं कृत्वा तटमागत्य वस्त्राभरणानि न पश्यन्ति स्म। व्याकुलितमनोभिस्ताभिर्मुनिसमीपं गत्वा स मुनिरूचे। स्वामिन्! न ज्ञायते देवानामपि प्रियाणि अस्माकं वस्त्राभरणानि केनचिद्गृहीतानि। भगवन्! त्वं ज्ञानवान् जानासि निश्चितं कथय। रुद्र उवाच। जानाम्येव, यदि मामिच्छत यूयं तदा दर्शयामि। एतच्छ्रुत्वा विस्मिय नवयौवना विद्याधरकुमार्य ऊचुः। मुने!

१ अस्य स्थाने सन्तीति पाठः ख पुस्तके।

वयं स्वच्छन्दचारिण्यो न वर्तामहे । अस्मन्मातरपितरौ जानीतः। स्वच्छन्दचारिणीनां विद्यामाहात्म्यं कुतः । ततो वस्त्राभरणानि दत्वा शिपिविष्टः प्राह । निजमातरपितृगणं पृष्ट्वा मम उत्तरं दत्त यूयं । ताभिर्गृहं गत्वा पितुरग्रे वार्ता कृता। पित्रा तु एकः कंचुकी संदेशहरो हरं प्रेषितः। स गत्वा मुनिमुवाच । स्वामिन् ! अस्मत्स्वाम्येवं भणति । यदि मेघनिबद्धं पत्तनं गत्वा मेघरूपं तथा मेघनादं च दायिनं निर्घाट्य त्रिकदर्पदायि त्रिपुरं पुरं प्रवेशयासि मां तदा जनमनोमोहनकारिणीर्मम सुता अष्टा अपि ददामि । कपर्दिना ओमिति भणिते कंचुकिना चागत्य राज्ञे तथा कथिते खचराधिपो हर्षं चकार । सुहृत्सुजनवर्गेण सर्वेण तत्र गत्वा शर्वं स्वमन्दिरमानिनाय । तत्रोपवेश्येश्वरमादितो वृत्तान्तं जगाद यथा दायिना राज्यमपहृतं । ईशान उवाच । राजन् ! यत्त्वं भणसि तदहं साधयामि, किमेकेन त्रिपुराधिपेन ? त्रिजगदपि संहरामि । तदनन्तरं सरोषो देवदारुर्भयरहितो नानाछत्रध्वजचामरसैन्यसहितः शंकरं नीत्वा तत्र गतः। पुरं वेष्टितवान् । विद्युज्जिह्वस्तु निर्गतः, चन्द्रशेखरस्तेन सह त्रैलोक्यचित्तचमत्कारकारकं समनीकं चकार । ज्वालिन्या विद्यया ज्वालयित्वा रिपुं भस्मयामास । त्रिपुरं गृहीत्वा देवदारुः सुखी बभूव । जामातरं त्रिपुरं नीत्वा तस्मै चन्द्रशेखराय अष्टा अपि कन्या अदित । तास्तन्मैथुनमसहमाना अष्टा अपि मृता । देवदारुखगस्याष्टचन्द्रैः सुहृद्भिः शत्रुमारकस्य भूतेशस्य मालतीमाला इव कोमलभुजाः पंचशतकन्याः पुनर्दत्ता । ता अपि खण्डपरशोर्विषमरतेन दिनं दिनं प्रति मुक्ता एकैकाः सर्वा अपि मम्रुः । तदा तासां मरणे गिरीशश्चिन्ताव्याकुलितमनाः स्थित । अथ गौर्या सह यथा संयोगो जातस्तत्कथां कथयामि शृणुत भव्याः ! । पूर्वभवे खल्वेका क्षान्तिका देशान्तरं यान्ती मार्गश्रमश्रान्ता धीवरेण नदीमुत्तारिता ।

तस्य मत्स्यबन्धस्य शीतलशरीरस्पर्शेन सा आप्यायिता। तया विषयाशया कर्मवशेन निदानं कृतं–अयस्मिन् भवे प्रकटितपरमस्नेहोऽयं मम भर्ता भविष्यतीति। ईदृशं निदानं कृत्वा कायं विमुच्य सौधर्मेन्द्रस्य देवी जाता। कैवर्तस्तु संसारे भ्रमित्वा मिथ्यातपः कृत्वा ज्योतिष्कसुतो जातः। अथ सावस्तिपुरे राजा वासवः। तन्महादेवी मित्रवती। तया विद्युन्मती नाम्नी कन्या जनिता। तडिद्वेगस्य विद्याधरस्य सा दत्ता। सौधर्मेन्द्रदेवी च्युत्वा विद्युन्मती गर्भे स्थिता। नवमे मासे कष्टेन जनिता। विद्युन्मती विद्याधरी पीडावशेन निर्विण्णा(ण्णा) सती सौवस्तिनगरे पर्वतगुहायां त्याजिता। तत्र गुहायां चतस्रो द्विजपुत्र्यः क्रीडितुं कन्यापुण्येनागताः। उमा उमा इति शब्देन रटन्ती ताभिर्दृष्टा। उमेति नाम कृत्वा सा कोमलाङ्गी करुणया गृहमानीता। ब्राह्मणपुत्रीभिश्चतसृभि सा कन्या रानकुले विद्युन्मत्या महादेव्या वासवनृपपत्न्या [सा बालिका] दर्शिता। तथापि गृहीत्वा पुत्र्यौ पुत्री निजधात्र्या पंडितायाः पालयितुं दत्ता। अथाप्चन्द्रनृपेषु प्रधानं इन्द्रसेनाभिधानो गगनाङ्गणे संचोदितविमानः एकस्मिन् दिने सौवस्तिमागतः। तस्य पुत्रस्त्रिया निजभगिन्या अपत्यरहितायाः सन्मानपूर्वकं मित्ररया वासवनृपभार्यया गिरिकर्णिकानाम्न्या सा उमा दत्ता। तथापि प्रतिपाल्य नवयौवना कृता। सा सुन्दरी मुकुटपुरेशविद्याधरेशतडिद्वेगस्य परिणायिता। सा मदोन्मत्ता सुष्ठु सुरतानुरागा यदा सुरतसुखमनुभवति तदा तडिद्वेगो मृतः। उमा तु यौवनमदेन स्वच्छन्दा जाता। विश्वस्तोमा देवदारुनगरे एकस्मिन् दिने गता। देवदारुणा तथारे ज्ञाता रतिगुणाधिका सा स्थाणोर्दिया-

१ दा स । २ दा. ख. । दा क । पूर्वपाठानुसारेण (ङा) प्रदर्शित ।
३ पुत्र्याः । ४ विद्युन्मत्या । ५ उमा । ६ च ख । ७ दा ख, दा क ।
अयोध्या ।

विभवस्यार्धमाननेनार्धासनस्याङ्गीकरणेन च तस्य भार्या पुनर्भूर्जाता। भूतेशस्तु तस्या मुखविशप्रसूनं निरीक्षमाणोऽहर्निशं तिष्ठति। सरित्सु सीतासीतोदादिषु सरस्सु पद्मादिषु गिरिषु मेर्वादिषु लवणोदादिषु समुद्रेषु देवारण्यादिषु च वनेषु सर्वमंगलया तया सार्धमनुदिनं रममाण उर्वरायां पर्यटति। स जटामुकुटविभूषितो वृषारूढो भस्मोद्धूलितो लोकानेवं वदति–अहं त्रिजगत्स्वामी, कर्ता, हर्ता, शिवः, स्वयम्भूः, शम्भुः, ईश्वरः, हरः, शंकरः, सिद्धः, बुद्धः त्रिपुरारिः, त्रिलोचनः, प्रकृतिशुद्धः, सर्वज्ञः, उमापतिः, भवः, ईशः, ईशानः, मृडः, मृत्युञ्जयः, श्रीकण्ठः, वामदेवः, महादेवः व्योमकेश इत्यादीनि मम नामानि। अहमेव वर्तेऽपरो नास्ति। मायावी विजयार्धे बहूनि दिनान्युषित्वा जनमनांसि मैत्रे रंजयित्वात्र भरतक्षेत्रमागत्य तेन शैवशास्त्रं प्रकटीकृतं। तद्दीक्षिताः शैवाचार्या बहवो बभूवुः। दर्शितगुणा गणाः प्रभूता मिलिताः, तैः परिवृतोऽस्खलितप्रतापोऽनवरतमुमाप्रेमानुरागो द्वादश वर्षाणि विषयसौख्यं भुंजानो महा हतविपक्षो भ्रमितः। तत्प्रतापं दृष्ट्वा सर्वेऽपि विद्याधरा अतिभीताः। तैर्निचारितं एष महाविद्याबलीयानस्मान् मारयित्वा उभये अपि श्रेण्यौ निश्चितं ग्रहीष्यति। केनोपायेनाय खलो हन्यते यावन्न हन्तीति। लोकं चिन्ताकुलं दृष्ट्वा मात्रा गिरिकर्णिकानाम्न्या निजसुतोमा भेदं पृष्टा-पुनि उमे! मम जामातुर्विद्या कदाचिदपि अवशा भवन्ति न वेति, उमा प्राह–मातर्गिरिकर्णिके! यदाय मयासह सुरतसुखमनुभवति तदा सुरतकाले विद्या अस्य न स्फुरन्ति। इत्युपदेशं लब्धा। गन्धारदेशे दुरंडनगरे वनप्रदेशे सुरतमारूढः, तैर्विद्याधरैः कान्तासहितस्य शिरश्छिच्छिदे। तस्मिन् हते तद्विद्याभिर्देश उपद्रूयोद्वासितः। गृहे गृहे कृतचौरः प्रविष्टः जीवधनं मुष्णाति। तत्रगरस्य राज्ञा विश्वसेनेन नन्दिषेणो मुनिः पृष्टः। भगवन्! मरकोपसर्गस्य कः प्रत्ययः। मुनिरुवाच। रुद्रनाम।

विद्याधरस्तत्र नगरे विद्यानामक्षमापणं कुर्वाणो मारितस्तेनोपसर्गो वर्तते। तर्हि स्वामिन् ! उपसर्गविनाशः कथं भविष्यति ? तल्लिंगं छित्वा उमोपस्थे स्थापयित्वा यदि पूजयन्ति भवतस्तदा विद्या उपशाम्यन्ति। उत्पात उपशाम्यतीति तच्छ्रुत्वा विश्वसेनस्तत्र गत्वा सर्वोऽपि जनपदो व्याहृतः। इष्टकाभिरुच्चा मञ्चिका कृत्वा तल्लिंगं छित्वा तदुपरि धृत्वा तल्लिंगोपरि सुरतसुखक्षोणिं तदुपरि धृत्वा तन्मध्ये ऊर्ध्वमाणि शिवलिंगं स्थापयित्वा जलेन प्रक्षाल्य परिमलबहुलेन चन्दनेन विलिप्य पुष्पाक्षतादिभिर्लोकै राजाज्ञया पूजयित्वा तदिन्द्रिययोर्नमस्कारः कृतः तदा विद्याभिः क्षमा कृता, लोकस्योपसर्गस्य विनाशो जातः। तद्दिनमारभ्य प्रहतलज्जः लोकस्येश्वरं लिंगं पूज्यं जातमित्यज्ञानिभिर्लोकैः श्रीमद्भगवदर्हत्परमेश्वरं परित्यज्य स एव देवः परमात्मीकृतः।

इति मोक्षप्राभृते रुद्रोत्पत्त्युपाख्यानं जिनमुद्रापरिभ्रष्टत्वसूचकं समाप्तम्।

जिणमुद्दं सिद्धिसुहं हवेइ णियमेण जिणवरुद्दिट्ठा।
सिविणे वि ण रुचइ पुण जीवा अच्छंति भवगहणे ॥ ४७॥

जिनमुद्रा सिद्धसुखं भवति नियमेन जिनवरोद्दिष्टा।
स्वप्नेपि न रोचते पुनः जीवा तिष्ठन्ति भवगहने ॥

जिणमुद्दं सिद्धिसुहं जिनमुद्रा सिद्धिसुखं आत्मोपलब्धिलक्षणमुक्तिसुखं–सिद्धिसुखयोगाज्जिनमुद्रैव सिद्धिसुखमुपचर्यते। **हवेइ** भवति। **णियमेण जिणवरुद्दिट्ठा** नियमेन निश्चयेन, कथंभूता जिनमुद्रा ? जिनवरोद्दिष्टा[1] केवलिप्रतिपादिता। तल्लक्षणं पूर्वमेवोक्तं वर्तते। **सिविणे वि ण रुचइ पुण** सा जिनमुद्रा जीवस्य स्वप्नेऽपि निद्रायामपि न

१ न. टी।

रोचते । रुचधातोः प्रयोगे चतुर्थी प्रोक्ता "यस्मै दित्सा रोचते धारयते वा तत्संप्रदानं" इति वचनात् संप्रदाने चतुर्थी तदयुक्तं, कस्मादिति चेत्? यदा रोचते तदा संप्रदानं यदा तु न रोचते तदा षष्ठीप्रयोग एव । स्वप्नेऽपि न रोचते पुनर्जीवस्येति सम्बन्धः । **जीवा अच्छंति भवगहणे** येन कारणेन जिनमुद्रा न रोचते भावचारित्रं भावचारित्रमिति लोकादिभिराम्रेड्यते तेनैव कारणेन जीवास्तिष्ठन्ति भवगहने संसारवने । रुद्रादिवद्भ्रष्टजिनमुद्रा नरकादौ पतन्ति ।

परमप्पय झायंतो जोई मुच्चेइ मलदलोहेण ।
णादियदि णवं कम्मं णिद्दिट्ठं जिणवरिंदेहिं ॥४८॥

परमात्मानं ध्यायन् योगी मुच्यते मलदलोभेन ।
नाद्रियते नव कर्म निर्दिष्टं जिनवरेन्द्रैः ॥

परमप्पय झायंतो परमात्मानं निजात्मस्वरूपं ध्यायन् । **जोई मुचेइ मलदलोहेण** योगी ध्यानवान् मुनिर्मुच्यते परिह्रियते, केन? मलदलोभेन मलं पाप ददातीति मलदः स चासौ लोभो धनाकाङ्क्षा तेन मलदलोभेन । **णादियदि णवं कम्मं** लोभरहितो मुनिर्नाद्रियते न बध्नाति, नवं कर्म अभिनवं पाप, पूर्वोपार्जितं तु स्वयमेव क्षीयते । **णिद्दिट्ठं जिणवरिंदेहिं** निर्दिष्टं कथितं, जिनवरेन्द्रैः* जिनवरा एव इन्द्रास्त्रिभुवनप्रभवस्तैर्जिनवरेन्द्रैः* सर्वज्ञवीतरागैरिति शेषः ।

होऊण दिढचरित्तो दिढसम्मत्तेण भावियमईओ ।
झायंतो अप्पाणं परमपयं पावए जोई ॥ ४९ ॥

भूत्वा दृढचरित्रः दृढसम्यक्त्वेन भावितमतिः ।
ध्यायन्नात्मानं परमपदं प्राप्नोति योगी ॥

---

* एतचिन्हमध्यगतः पाठः ख. पुस्तके नास्ति । १ जिनेन्द्रैः इति मूलटीकापाठः मूलपदानुसारेण प्रवर्तितः ।

होऊण दिढचरित्तो दृढचरित्रोऽचलितचारित्रो भूत्वा । **दिढसम्मत्तेण भावियमईओ** दृढसम्यक्त्वेन चलमलिनतारहितसम्यग्दर्शनेन भावितमतिस्तु वासितमना । **झायंतो अप्पाणं** ज्ञानबलेन ध्यायन्नात्मानं । **परमपयं पावए जोई** परमपदं केवलज्ञानं निर्वाणं च प्राप्नोति, योगी ध्यानवान् मुनिः ।

चरणं हवइ सधम्मो धम्मो सो हवइ अप्पसमभावो ।
सो रागरोसरहिओ जीवस्स अणण्णपरिणामो ॥ ५० ॥

चरणं भवति स्वधर्मः धर्मः स भवति आत्मसमभावः ।
स रागरोषरहितः जीवस्य अनन्यपरिणामः ॥

चरणं हवइ सधम्मो चरणं चारित्रं भवति स्वधर्म आत्मस्वरूपं । **धम्मो सो हवइ अप्पसमभावो** धर्मो भवति, कोऽसौ [1] स एव य स्वधर्म आत्मस्वरूपं, स धर्मः कथंभूतः ? अप्पसमभावो-आत्मसमभावः आत्मवत् सर्वजीवेषु समभावः समतापरिणामः, यादृशो मोक्षस्थाने सिद्धो वर्तते तादृश एव ममात्मा शुद्धबुद्धैकस्वभावः सिद्धपरमेश्वरसमानः यादृशोऽहं केवलज्ञानस्वभावस्तादृशा एव सर्वेऽपि जीवराशयः भेदो न कर्तव्यः । **सो रागरोसरहिओ जीवस्स अणण्णपरिणामो** ॥ आत्मसमभावः कथंभूतः तस्य लक्षणं निरूपयन्ति भगवन्तः—स आत्मसमभावो रागरोषरहितो भवति यं प्रति प्रीतिलक्षणं रागं करोमि सोऽप्यहमेव, यं प्रति अप्रीतिलक्षणं द्वेषं करोमि सोऽप्यहमेव तेन रागरोषरहितो जीवस्यात्मनोऽनन्यपरिणामः एकगोष्ठीभावः समरसभावः परमचारित्रं ज्ञातव्यमिति । तथा चोक्तं—

जीवा जिणवर जो मुणइ जिणवर जीव मुणेइ ।
सो समभावपरिट्ठियउ लहु णिव्वाणु लहेइ ॥ १ ॥ [2]

---

[1] गं टी ।

[2] जीवान् जिनवरं यो जानाति जिनवरं जीवं जानाति ।
स समभावपरिस्थितः लघु निर्वाणं लभते ॥

जह फलिहमणि विसुद्धो परदव्वजुदो हवेइ अण्णं सो।
तह रागादिविजुत्तो जीवो हवदि हु अणण्णविहो ॥५१॥

यथा स्फटिकमणिः विशुद्धः परद्रव्ययुतो भवति अन्य.स ।
तथा रागादिवियुक्त जीवो भवति स्फुटमन्योन्यविध. ॥

जह फलिहमणि विसुद्धो यथा येन प्रकारेण स्फटिकमणिः स्वभावेन विशुद्धो निर्मलो वर्तते। **परदव्वजुदो हवेइ अण्णं सो** परद्रव्येण जपापुष्पादिना युत, अण्ण—अन्योऽन्यादृशो भवति। **तह रागादिविजुत्तो** तथा तेनैव स्फटिकमणिप्रकारेण रागादिभिर्विशेषेण युक्तः स्त्र्यादिरागयुतो रागादिमान् भवति। **जीवो हवदि हु अणण्णविहो** जीव आत्मा भवति हु-स्फुट अन्योन्यविधोऽपरापरप्रकारो भवति—स्त्रीभियोंगे रागवान् भवति शत्रुभिर्योगे द्वेषवान् भवति पुत्रादिभिर्योगे मोहवान् भवतीति तात्पर्यार्थः।

देव गुरुम्मि य भत्तो साहम्मि य संजदेसु अणुरत्तो।
सम्मत्तमुव्वहंतो झाणरओ होइ जोई सो ॥ ५२ ॥

देवे गुरौ च भक्त. साधर्मिके च संयतेषु अनुरक्तः।
सम्यक्त्वमुद्वहन् ध्यानरत भवति योगी स. ॥

देव गुरुम्मि य भत्तो देवे गुरौ च भक्तो विनयपर। **साहम्मि य संजदेसु अणुरत्तो** साधर्मिकेषु समानधर्मेषु जैनेषु, सयतेषु महामुनिषु, अनुरक्तोऽकृत्रिमस्नेहवान् वात्सल्यपर। **सम्मत्तमुव्वहंतो** सम्यक्त्व सम्यग्दर्शनमुद्वहन् मूर्धनि स्थापयन्। **झाणरओ होइ जोई सो** एव विशेषणत्रयविशिष्टो योगी अष्टाङ्गयोगनिपुणो मुनिर्ध्यानरतो भवति ध्यानानुरागी भवति सः। विपरीतस्य ध्यान न रोचत इत्यर्थः। तथा चोक्तं—

सर्वपापास्रवे क्षीणे ध्याने भवति भावना।
पापोहतवृत्तीनां ध्यानवार्तापि दुर्लभा ॥ १ ॥

अन्यच्च—

स्वयूथ्यान् प्रति सद्भावसनाथापेतकैतवा ।
प्रतिपत्तिर्यथायोग्यं वात्सल्यमभिलप्यते ॥ २ ॥

उग्गतवेणण्णाणी जं कम्मं खवदि भवहि बहुएहि ।
तं णाणी तिहिं गुत्तो खवेइ अंतोमुहुत्तेण ॥ ५३ ॥

उग्रतपसाऽज्ञानी यत्कर्म क्षपते भवैर्बहुकैः ।
तज्ज्ञानी त्रिभिर्गुप्तः क्षपयति अन्तर्मुहूर्तेन[1]॥

उग्गतवेण उग्रतपसा तीव्रतपसा कृत्वा । **अण्णाणी** अज्ञानी मुनिः आत्मभावनाविवर्जितस्तपस्वी । **जं कम्मं खवदि भवहि बहुएहि** यत्कर्म पापकर्म क्षिपते भवैर्बहुकैः कोटिभवैः शतकोटिभवैः सहस्रकोटिभवैः लक्षकोटिभवैः कोटिकोटिभवैश्चेत्यादिभिः । **तं णाणी तिहिं गुत्तो** तत्कर्म ज्ञानी आत्मभावनापरः सूरिः तिहिं गुत्तो–त्रिभिर्गुप्तो मनोवचनकायगुप्तिसहितः । **खवेई अंतोमुहुत्तेण** क्षपयति क्षयमानयति, कियति काले ? अन्तर्मुहूर्तेन । कोऽसावन्तर्मुहूर्त इति चेत् ?—

आवलि असंखसमया संखेज्जावलिहि होइ उस्सासो ।
सत्तुस्सासो थोओ सत्तत्थोओ लवो भणिओ ॥ १ ॥
अट्ठत्तीसद्धलवा नाली दो नालिया मुहुत्तं तु ।
समऊणं तं भिण्णं अंतमुहुत्तं अणेयविहं ॥ २ ॥

इति गाथाद्वयकथितक्रमेण आवल्या उपरि एकः समयोऽधिको भवति सोऽन्तर्मुहूर्तो जघन्यः कथ्यते । एवं द्व्यादिसमयवृद्ध्या समयद्वयहीनोऽन्तर्मुहूर्त उत्कृष्टः कथ्यते । मध्येऽसंख्यातभेदा अन्तर्मुहूर्तस्य ज्ञातव्याः । तेषु कस्मिंश्चिदन्तर्मुहूर्ते ज्ञानी कर्म क्षपयति । एकेन समयेन हीनो मुहूर्तो भिन्नमुहूर्त उच्यते इति भावः ।

---

१ रि. टी. । २ अनयोर्गाथयोः पूर्वं चत्वारिंशत्तमे पृष्ठे आगता ।

सुभजोगेण सुभावं परदव्वे कुणइ रागदो साहू।
सो तेण दु अण्णाणी णाणी एत्तो दु विवरीदो ॥ ५४ ॥

शुभयोगेन सुभावं परद्रव्ये करोति रागतः साधुः।
स तेन तु अज्ञानी ज्ञानी एतस्माद्विपरीतः ॥

सुभजोगेण सुभावं शुभस्य मनोज्ञपदार्थस्येष्टवनितादेः योगेन संयोगेन मेष्टनेनोपढौकनेनाग्रत आगतेन सुभावं—शोभनं प्रीतिलक्षणं भावं परिणामं। **परदव्वे कुणइ रागदो साहू** परद्रव्ये आत्मनो भिन्ने वस्तुनि इष्टवनितादौ, करोति विदधाति सुभावमिति सम्बन्धः, रागतः प्रेमपरीणामात्। कः कर्ता, साधुर्वेषधारी मुनिः पुष्पदन्तवत्। तथा चोक्तं—

अलकवलयरम्यं भ्रूलतानर्तकान्तं
नवनयनविलासं चारुगण्डस्थलं च।
मधुरवचनगर्भं स्मेरबिम्बाधरायाः
पुरत इव समास्ते तन्मुखं मे प्रियायाः ॥१॥

कर्णावतंसमुखमण्डनकण्ठभूषा-
वक्षोजपत्रजघनाभरणानि रागात्।
पादेष्वलक्तकरसेन च चर्चनानि
कुर्वन्ति ये प्रणयिनीषु त एव धन्याः ॥२॥

लीलाविलासविलसन्नयनोत्पलायाः
स्फारस्मरोत्तरलिताधरपल्लवायाः।
उत्तुंगपीवरपयोधरमंडलाया-
स्तस्या मया सह कदा ननु संगमः स्यात् ॥३॥

किंच—

चित्रालेपनकर्मभिर्मनसिजव्यापारसारास्मृतै-
र्गाढाश्यामपुरःस्थितप्रियतमापादप्रणामक्रमैः।
स्वप्ने संगमविप्रयोगविषयप्रीत्यप्रमोदागमै-
रित्थं पुष्पमुनिर्दिनानि गमयत्युत्कंठितः कानने ॥१॥

इत्यादिमुदतीचिन्तनेनाज्ञानी मूढ कथ्यते । **णाणी एत्तो दु विवरीदो** ज्ञानी निर्मोहो मुनि एतस्मादुक्तलक्षणात् साधोर्विपरीत शुभवस्तुयोगे सति राग न करोतीति तात्पर्यार्थ ।

> **आसवहेदू य तहा भावं मोक्खस्स कारणं हवदि ।**
> **सो तेण दु अण्णाणी आदसहावस्स विवरीदो ॥५५॥**
>
> आस्रवहेतुश्च तथा भावो मोक्षस्य कारण भवति ।
> स तेन तु अज्ञानी आत्मस्वभावात् विपरीत ॥

आसवहेदू य तहा आस्रवहेतुश्च तथा यथेष्टवनितादिविषये राग आस्रवहेतुर्भवति तथा निर्विकल्पसमाधि विना मोक्षस्यापि रागः कर्मास्रवहेतुर्भवति। **सो तेण दु अण्णाणी** स साधुर्मोक्षेऽपि रागभावं कुर्वाण तेन कारणेन पुण्यकर्मबन्धहेतुत्वादज्ञानी भवति—मूढ स्यात् **आदसहावस्स विवरीदो** आत्मस्वभावान्निर्विकल्पसमाधिलक्षणात्मध्यानरूपाद्विपरीत । तथा चोक्तमेकत्वसप्तत्या—

> स्पृहा मोक्षेऽपि मोहोत्था तन्निषेधाय जायते ।
> अन्यस्मै तत्कथ शान्ताः स्पृहयन्ति मुमुक्षव ॥१॥

> **जो कम्मजादमइओ सहावणाणस्स खंडदूसयरो ।**
> **सो तेण दु अण्णाणी जिणसासणदूसगो भणिदो ॥५६॥**
>
> य कर्मजातमतिक स्वभावज्ञानस्य खण्डदूषणकर ।
> स तेन [redacted] अज्ञानी जिनशासनदूषको भणित ॥

जो कम्मजादमइओ य पुमान् कर्मजातमतिक इन्द्रियानिन्द्रियाणि खलु कर्मजातानि तदुत्पन्नमतिलेशसंयुक्त । **सहावणाणस्स खंडदूसयरो** स्वभावज्ञानस्यात्मोत्थज्ञानस्य केवलज्ञानस्य दूसयरो—दोषदायक । आत्मन खल्वतीन्द्रियज्ञान नास्ति चक्षुरादीन्द्रियजनितमेव ज्ञानं वर्तते

इत्येवं स्वभावज्ञानस्य दूषणकरो भवति, अतीन्द्रियज्ञान न मन्यते । खंड-दूसयो—खण्डज्ञानेन दूषणकर कश्चिन्मिथ्यादृष्टि । **सो तेण दु अण्णाणी** स पुमान् तेन तु दूषणदानेन अज्ञानी ज्ञातव्यो ज्ञानीयो ज्ञेयो वेदितव्य इति यावत् । स कथंभूत, **जिणसासणदूसगो भणिदो** जिनशासन-स्यार्हन्मतस्य दूषको दोषभापको भणित —स नरकदुख प्राप्स्यति । तथा चोक्त पुष्पदन्तेन महाकविना काव्यपिशाचखण्डकव्यपरनामद्वयेन—

सेव्वणु अणिदिओ णाणमउ जो मइमूढु न पत्तियइ ।
सो णिंदिउ पंचिदियणिरउ वेतरणिहिं पाणिउ पियइ ॥ १ ॥

णाणं चरित्तहीणं दंसणहीणं तवेहि संजुत्तं ।
अण्णेसु भावरहियं लिंगग्गहणेण किं सोक्खं ॥ ५७ ॥

ज्ञान चारित्रहीन दर्शनहीन तपोभि सयुक्तम् ।
अन्येषु भावरहित लिङ्गग्रहणेन किं सौख्यम् ॥

णाणं चरित्तहीणं ज्ञान चरित्रहीन सौख्यकर न भवतीति सम्बन्ध । **दंसणहीणं तवेहि संजुत्तं** दर्शनहीन सम्यग्दर्शनरत्नरहित तपोभि सयुक्त कर्म सौख्यकर न भवतीति सम्बन्ध । **अण्णेसु भावरहियं** अन्येषु षडावश्यकादिषु भावरहित कर्म । **लिंगग्गहणेण किं सोक्खं** लिङ्गग्रहणेन वेषमात्रेण आत्मभावनारहितेन कर्मणा किं सौख्य भवति—अपि तु सर्वकर्मक्षयलक्षण मोक्षसुखं न भवतीति भावार्थ ।

अचेयणं पि चेदा जो मण्णइ सो हवेइ अण्णाणी ।
सो पुण णाणी भणिओ जो मण्णइ चेयणे चेदा ॥५८॥

अचेतनमपि चेतयितारं यो मन्यते स भवति अज्ञानी ।
स पुन ज्ञानी भणित यो मन्यते चेतने चेतयितारम् ।

१ अस्य छाया पूर्वं ३०७पृष्ठे गता ।

अचेयणं पि चेदा जो मण्णइ सो हवेइ अण्णाणी चेतयितारमात्मानं यः पुमान् कापिलमतानुसारी अचेतनमात्मानं मन्यते स पुमान् अज्ञानी ज्ञानवर्जितो मूर्खो भवेत्। सो पुण णाणी भणिओ स पुमान् पुनर्ज्ञानी भणितः। स कः? जो मण्णइ चेयणे चेदा यः पुमान् चेतने चेतनद्रव्ये चेतयितारमात्मानं मन्यते। उक्तं च—

स यदा तु त्रयर्थोपततचेतास्तद्विपातप्रदेतुजिज्ञासो खेकितनिधेकस्रोता स्फाटिकादमानमिवानन्दात्मानमप्यात्मानं सुखदुःखमोहावदपरिवर्तैर्मध्वहवारपरिवर्तैश्च प्रलुपयन्त्या, सत्त्वरजस्तमस्थापरनामवत्या सनातनव्यापिगुणाधिष्ठितेः प्रकृतेः स्वरूपमवगच्छति तदायोमयगोलकानलतुल्ययर्गस्य योषवद्वुभानस्य संसर्गस्य सति विसर्गे सकलज्ञानज्ञेयसम्बन्धवैकल्यं कैवल्यमवलम्ब्यते तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानं मुक्तिरिति कापिलाः विपर्यस्ताः प्रतिनसव्याः—

कपिलो यदि वाञ्छति निर्विमचिति सुरगुरुगीर्गुरुफेन्वेव पतति।

चैतन्य बाह्यग्राह्यरहितमुपयोगि कस्य यद् तत्र विद्धि॥ ॥ १ ॥

तवरहियं जं णाणं णाणविजुत्तो तवो वि अकयत्थो।

तम्हा णाणतवेणं संजुत्तो लहइ णिव्वाणं॥ ५९॥

तपोरहितं यत् ज्ञानं ज्ञानवियुक्तं तपोऽपि अकृतार्थम्।

तस्मात् ज्ञानतपसा संयुक्तः लभते निर्वाणम्॥

तवरहियं जं णाणं तपोरहितं यज्ज्ञानं तदकृतार्थमिति सम्बन्धः। णाणविजुत्तो तवो वि अकयत्थो ज्ञानवियुक्तं ज्ञानरहितं अज्ञानं तपोऽपि अकृतार्थं मोक्षं न साधयति। तम्हा णाणतवेणं संजुत्तो लहइ णिव्वाणं तस्मात्कारणात् ज्ञानतपसा ज्ञानं च तपश्च ज्ञानतपः समाहारो द्वन्द्वस्तेन ज्ञानतपसा। अथवा ज्ञानेनोपलक्षितं तपो ज्ञानतपस्तेन तपोक्तेन संयुक्तो मुनिर्लभते निर्वाणं सर्वकर्मक्षयलक्षणं मोक्षमित्यर्थः। तथा चोक्तं—

१ वदत तत्र इति म ।

मान्य ज्ञान तपोऽहीन ज्ञानहीन तपोऽहित
द्वाभ्या युक्त स देव. स्याद् द्विहीनो गणपूरण. ॥ १ ॥

धुवसिद्धी तित्थयरो चउणाणजुदो करेइ तवयरणं।
णाऊण धुवं कुज्जा तवयरणं णाणजुत्तो वि ॥ ६० ॥

ध्रुवसिद्धिस्तीर्थकर चतुष्कज्ञानयुत करोति तपश्चरणम्।
ज्ञात्वा ध्रुव कुर्यात् तपश्चरण ज्ञानयुक्तोपि ॥

धुवसिद्धी तित्थयरो ध्रुवसिद्धिरवश्य मोक्षगामी, कोऽसौ ? तीर्थकर तीर्थकरपरमदेव । **चउणाणजुदो करेइ तवयरणं** दीक्षानन्तरमेवोत्पन्नमन पर्ययज्ञान तथापि तपश्चरण त्रिरात्रादिक तपश्चरणं करोति। **णाऊण धुवं कुज्जा तवयरणं णाणजुत्तो वि** इति ज्ञात्वा, ध्रुवमिति निश्चयेन, कुर्याद्विदग्ध्यात्, किं तत् ? तपश्चरणं ज्ञानयुक्तोऽपि। अहं सकलशास्त्रप्रवीण किं ममोपवासादिना तपश्चरणेनेति न वाच्यमिति भाव । उक्त च—

उवंवासहो एक्कहो फलेण सवोहियपरियारु।
णायदत्तु दिवि देउ हुउ पुणरवि णायकुमारु ॥ १ ॥
तें कारणि जिय पइमणमि करि उववासुब्भासु।
जाम ण देहकुडिल्लयहि ढुक्कइ मरणहु यासु ॥ २ ॥
यद्ज्ञानेन जीवेन कृत पाप सुदारुण।
उपवासेन तत्सर्वं दहत्यग्निरिवेन्धन ॥ १ ॥

तथा चोक्त प्रभाचन्द्रेण तार्किकलोकशिरोमणिना—

उपवासफलेन भजंति नरा भुवनत्रयजातमहाविभवान्।
खलु कर्ममलप्रलयादचिरादजरामरकेवलसिद्धिसुख ॥ १ ॥

---

१ उपवासस्य एकस्य फलेन सबोधिनपरिवार ।
नागदत्त दिवि देवो जात पुनरपि नागकुमार ॥
२ तेन कारणेन जीव ! प्रभणामि कुरु उपवासाभ्यास।
यावद्व देहकुड्या ढौकते मरण यत् ॥

होइ वणिज्जु न पोट्टलिहिं उववासें नउ धम्मु ।
एउ अयाणउ सो ववइ जसु कउ भारउ कम्मु ॥ १ ॥

पोट्टलियहिं मणिभोत्तियइ घणु केत्तियहि ण माइ ।
थोरहि भरिउ वलद्दडा त नाहीं ज खाइ ॥ २ ॥

आत्मशुद्धिरियं प्रोक्ता तपसैव विचक्षणैः ।
किमग्निना विना शुद्धिरस्ति काञ्चनशोधने ॥ १ ॥

बाहरलिंगेण जुदो अब्भंतरलिंगरहिदपरियम्मो ।
सो सगचरित्तभट्टो मोक्खपहविणासगो साहू ॥ ६१ ॥

बहिर्लिंगेन युतो अभ्यन्तरलिंगरहितपरिकर्मा ।
स स्वकचारित्रभ्रष्ट मोक्षपथविनाशक साधु ॥

बाहिरलिंगेण जुदो बहिर्लिंगेन युतो नग्नमुद्रासहित । **अब्भंतरलिंगरहिदपरियम्मो** अभ्यन्तरलिंगरहितपरिकर्मा आत्मस्वरूपभावनारहितं परिकर्म अगसस्कारो यस्य सोऽभ्यन्तरलिंगरहितपरिकर्मा । **सो सगचरित्तभट्टो** स साधु स्वकचारित्रभ्रष्ट । **मोक्खपहविणासगो साहू** मोक्षपथविनाशक साधु स साधुर्मोक्षमार्गविध्वंसको ज्ञातव्यो ज्ञानीयो ज्ञेय । इति भाव ज्ञात्वा निजशुद्धबुद्धैकस्वभावे आत्मतत्वे नित्य भावना कर्तव्या साधो ।

सुहेण भाविदं णाणं दुहे जादे विणस्सदि ।
तम्हा जहाबलं जोई अप्पा दुक्खेहि भावए ॥ ६२ ॥

सुखेन भावित ज्ञान दु खे जाते विनश्यति ।
तस्माद् यथाबल योगी आत्मानं दु खै भावयेत् ॥

सुहेण भाविदं णाणं सुखेन नित्यभोजनादिना भावितं वासितं ज्ञानं आत्मा । **दुहे जादे विणस्सदि** दु खे जाते सति भोजनादेरप्राप्तौ सत्या विनश्यति आत्मभावनाप्रच्युतो भवति । **तम्हा जहा-**

आत्मा चारित्रवान् दर्शनज्ञानेन संयुत आत्मा ।
स ध्यातव्यो नित्यं ज्ञात्वा गुरुप्रसादेन ॥

अप्पा चरित्तवंतो *आत्मा चारित्रवान् वर्तते आत्मात्मानमेवानुतिष्ठ-*तीति कारणात् यस्य मुनेश्चारित्रे प्रीतिरस्ति स आत्मानमेवाश्रयत्विति भावार्थः । **दंसणणाणेण संजुदो अप्पा** दर्शनेन ज्ञानेन च संयुतः संयुक्तः, कोऽसौ ? आत्मा जीवतत्वं, अत्रापि स एव भावार्थः—यस्य मुनेर्दर्शने प्रेम वर्तते ज्ञाने वानुरागोऽस्ति स मुनिरात्मानमेवाश्रयतु तद्द्वयमपि तत्रैव वर्तते यस्मात् । **सो झायव्वो णिच्चं** स आत्मा ध्यातव्यो नित्यं सर्वकालं । रत्नत्रयस्योपायभूतस्यात्मलाभे मोक्षलाभे वा प्रीतिमत इत्यर्थः । **णाऊणं गुरुपसाएण** गुरोर्निर्ग्रन्थाचार्यस्य शिक्षादीक्षाचारवाचनादेश्च कर्तुः प्रसादेन कारुण्येन । अयं वस्तुस्वभावो वर्तते यदाचार्यप्रसन्नतयात्मलाभो भवति तद्विराधने सत्यात्मा न स्फुटीभवति । तथा चोक्तं—

> गुणेषु दोषमनीषयान्धा
> दोषान् गुणीकर्तुमथेशते ये ।
> श्रोतुं कवीनां वचनं न तेऽर्हा
> सरस्वतीद्रोहिषु कोऽधिकारः ॥१॥

अथवा गुरूणां पंचतयानां परमेष्ठिनां प्रसादादात्मा प्रभुर्लभ्यते । तेषां प्रसादं विना आत्मप्रभुर्न प्राप्यत इत्यर्थः । यथा राजानं द्रष्टुकामः कश्चित् पुमान् तत्सामन्तकादीन् पूर्वं पश्यति ते तु राजानं मेलयन्ति, तानन्तरेण तत्र प्रवेष्टुमपि न लभ्यते इति कारणात् पूर्वं पंचदेवताः प्रसादनीया आत्मलाभमभिलषता योगिनेति भावार्थः ।

> दुक्खे णज्जइ अप्पा अप्पा णाऊण भावणा दुक्खं ।
> भावियसहावपुरिसो विसएसु विरच्चए दुक्खं ॥ ६५ ॥

दु खेन ज्ञायते आत्मा आत्मानं ज्ञात्वा भावना दु खम् ॥
भावितस्वभावपुरुषो विषयेषु विरज्यति दु खम् ॥

दुक्खं णज्जइ अप्पा दु खेन महता कष्टेन तावदात्मा ज्ञायते आत्मास्तीति बुद्धिरुत्पद्यते । **अप्पा णाऊण भावणा दुक्खं** यद्यात्मास्तीति ज्ञातं तदा तस्मिन्नात्मनि भावना वासनाऽहर्निशचिन्तनं तद्गुणस्मरणादिकं दु खं दुष्प्राप्यं भवति । **भावियसहावपुरिसो विसएसु विरच्चए दुक्खं** भावितस्वभावः पुरुष आत्मभावनासहितोऽपि सूरिः यद्विषयेषु वनिताजनस्तनजघनवदनलोचनादिविलोकने तद्वार्तालापगोष्ठीषु शरीरस्पर्शनादिसुखेषु निरज्यति तत्सुखं हालाहलविषास्वादनमजानाति तदतीव दु.खं दुष्करमिति तात्पर्यार्थः ।

ताम ण णज्जइ अप्पा विसएसु णरो पवट्टए जाम ।
विसए विरत्तचित्तो जोई जाणेइ अप्पाणं ॥ ६६ ॥

तावत् न ज्ञायते आत्मा विषयेषु नर प्रवर्तते यावत् ।
विषये विरक्तचित्त योगी जानाति आत्मानम् ॥

ताम ण णज्जइ अप्पा तावत्कालमात्मा न ज्ञायते । तावत्कियत् । **विसएसु णरो पवट्टए जाम** यावत्कालं विषयेषु पूर्वोक्तलक्षणेषु नरो जीवः प्रवर्तते व्याप्रियते । **विसए विरत्तचित्तो** विषये पूर्वोक्तलक्षणे विरक्तचित्तो निवृत्तचेता यती । **जोई जाणेइ अप्पाणं** योगी ध्यानवान् पुमान् महामुनिरात्मानं जानाति प्रत्यक्षतया पश्यति ।

अप्पा णाऊण णरा केई सब्भावभावपब्भट्टा ।
हिंडंति चाउरंगं विसएसु विमोहिया मूढा ॥ ६७ ॥

आत्मानं ज्ञात्वा नरा केचित्सद्भावभावप्रभ्रष्टा ।
हिण्डन्ते चातुरङ्गं विषयेषु विमोहिता मूढाः ॥

१ न. टी.

अप्पा णाऊण णरा आमानं ज्ञात्वा आत्मास्तीति सम्यग्विज्ञाय नरा बहिरात्मजीवा । **केई सब्भावभावपब्भट्टा** केचित् सद्भावभावप्रभ्रष्टा केचित् निरक्षिता सन् समीचिनो भाव सद्भाव निजात्मभावना तस्मा प्रभ्रष्टा निजशुद्धबुद्धैकस्वभावात्मभावनाप्रच्युता विषयसुखदुर्भावनासु रता इत्यर्थ । **हिंडंति चाउरंगं** हिण्टन्ते परिभ्रमन्ति पर्यटन कुर्वन्ति चाउरंग–चतुरग भव चातुरग चतुर्गतिससारससरण यथा भवत्येव । **विसएसु विमोहिया मूढा** विषयेषु पचेन्द्रियार्थेषु स्पर्शरसगन्धवर्णशब्देषु विमोहिता लोभ गता, त च विषया अनादिकाले जीवेनास्वादिता, आत्मोत्थस्वाधीन सुख कदाचिदपि न प्राप्ता । तथा चोक्त–

> अदृष्ट किं किमस्पृष्ट किमनाघ्रातमश्रुत ।
> किमनास्वादित येन पुनर्नवमिवेक्ष्यत ॥ १ ॥
> भुक्तोज्झिता मुहुर्मोहान्मया सर्वेऽपि पुद्गला. ।
> उच्छिष्टेष्विव तेष्वद्य मम विज्ञस्य का स्पृहा ॥ २ ॥

विषयेषु विमोहिता ये ते मूढा अज्ञानिनो बहिरात्मान इत्यर्थ । तेन बहिरात्मभाव परित्यज्यात्मभावना कर्तव्या ।

> जे पुण विसयविरत्ता अप्पा णाऊण भावणासहिया ।
> छंडंति चाउरंगं तवगुणजुत्ता ण संदेहो ॥ ६८ ॥

> ये पुन विषयविरक्ता आत्मान ज्ञात्वा भावनासहिता ।
> त्यजन्ति चातुरङ्ग तपोगुणयुक्ता न सन्देह ॥

जे पुण विसयविरत्ता ये पुनरासन्नभव्यजीवा विषयेभ्यो विरक्ता पराङ्मुखा विषयेषु पन्नविषभावना । **अप्पा णाऊण भावणासहिया** आमान ज्ञात्वा आत्मभावनासहिता भवन्ति । **छंडंति चाउरगं** ते पुरुषास्त्यजन्ति, किं [१] चातुरग ससारं । **तवगुणजुत्ता ण संदेहो** तप

१ चाउरंग टी । २ न टी ।

एव गुणस्तपोगुणस्तेन युक्ता । अथवा तपो द्वादशभेद गुणा अष्टाविंशतिर्मूलगुणा उत्तरगुणाश्च बहुभेदास्तैर्युक्ता ससार त्यजन्ति अत्र सन्देहो नास्ति संशयो न कर्तव्य । उक्त च गौतमेन महर्षिणा—

वदसमिदिंदियरोधो लोचावस्सयमचलमण्हाण ।
खिदिसयणमदतवण ठिदिभोयणमेगभत्त च ॥ १ ॥
एदे खलु मूलगुणा समणाण जिणवरेहि पण्णत्ता।
एत्थ पमादकदादो अइचारादो णियत्तो ह ॥ २ ॥

परमाणुपमाणं वा परदव्वे रदि हवेदि मोहादो ।
सो मूढो अण्णाणी आदसहावस्स विवरीदो ॥६९॥

परमाणुप्रमाण वा परद्रव्ये रतिर्भवति मोहात् ।
स मूढोऽज्ञानी आत्मस्वभावाद्विपरीत

परमाणुपमाणं वा परमाणुप्रमाण वा। **परदव्वे रदि हवेदि मोहादो** परद्रव्ये रतिर्भवति मोहादज्ञानात् परमाणुमात्रापि रतिर्मोहादज्ञानाद्भवति, किमुच्यते महती रति ? महती रतिस्तु अज्ञानाद्भवत्येव । **सो मूढो अण्णाणी** यस्य परद्रव्ये स्त्र्यादिविषये रतिर्भवति स मुनिर्मूढ तस्यैव पर्यायोऽज्ञानीति । **आदसहावस्स विवरीदो** । मुनिरात्मस्वभावाद्विपरीत परद्रव्यरत इत्युच्यते बहिरात्मा कथ्यत इति भावार्थ । एव ज्ञात्वा परमात्मान परित्यज्य परद्रव्ये रतिर्न कर्तव्येति तात्पर्यार्थ ।

अप्पा झायंताणं दंसणसुद्धीण दिढचरित्ताणं ।
होदि धुवं णिव्वाणं विसएसु विरत्तचित्ताणं ॥७०॥

---

१ व्रतसमितीन्द्रियरोधा लोच आवश्यकमचेलमस्नान ।
क्षितिशयनमदन्तमन स्थितिभोजनमेकभक्त च ॥
एते खलु मूलगुणा श्रमणाना जिनवरै प्रणीता ।
अत्र प्रमादकृतादतिचाराद्विवृत्तोऽह ॥

आत्मानं ध्यायतां दर्शनशुद्धानां दृढचारित्राणाम् ।
भवति ध्रुवं निर्वाणं विषयेषु विरक्तचित्तानाम् ॥

अप्पा झायंताणं आत्मानं ध्यायतां मुनीनां । **दंसणसुद्धीण दिढचरित्ताणं** दर्शनस्य शुद्धिर्नैर्मल्यं चलमलिनत्वरहितसम्यक्त्वानां चर्मजलघृततैलभूतनाशनादिपरिहरतां शरीरमात्रदर्शनेन परगृहेषु कृतादिदोषरहितान्नमश्नतां दर्शनशुद्धिमतां, दृढचरित्राणां ब्रह्मचर्यप्रत्याख्यानादिदृढचारित्राणां । **होदि धुवं णिव्वाणं** भवति ध्रुवमिति निश्चयेन निर्वाणं मोक्षो भवति । **विसएसु विरत्तचित्ताणं** विषयेषु इष्टवनितालिङ्गनादिषु विरक्तचित्तानां विषयान् विषं मन्यमानानामिति संक्षेपतोऽर्थो ज्ञातव्यो ज्ञानार्यो ज्ञेय इति ।

जेण रागे परे दव्वे संसारस्स हि कारणं ।
तेणावि जोइणो णिच्चं कुज्जा अप्पे सभावणा ॥७१॥

येन रागे परे द्रव्ये संसारस्य हि कारणम् ।
तेनापि योगी नित्यं कुर्यादात्मनि स्वभावनाम् ॥

जेण रागे परे दव्वे येन वनितादिना पर्यायेण, रागे सति रागः उत्पद्यते, परकीये द्रव्ये आत्मनो भिन्ने वस्तुनि । **संसारस्स हि कारणं** स रागः कथंभूतः, संसारस्य भवभ्रमणस्य, हि निश्चयेन, कारणं हेतुः । **तेणावि** न केवलं आत्मनि आत्मभावनां कुर्यात् किन्तु तेनापीष्टवनितादिना । **जोइणो** योगी । नित्यं सर्वकालं । **अप्पे** आत्मनि । स्वभावना—आत्मभावनां कुर्यात् । कथमिति चेत् ? इयमिष्टवनिता अनन्तकेवलज्ञानमयी वर्तते यथा ममात्मानन्तकेवलज्ञानमयो वर्तते । इयमहं च द्वावपि केवलज्ञानिनौ वर्तावहे । तेन इयमप्यात्मा ममेति को नाम पृथग्वर्तते येन सह स्नेहं करोमि । तथा चोपनिषद्—

१ रहितान्नमश्नतामिति मूलप्रतिपाठः । २ तेनापि टी । ३ योगिन टी ।

यस्मिन् सर्वाणि भूतानि आत्मेवाभूद्विजानतः ।
तत्र को मोहः कश्शोक एकत्वमनुपश्यतः ॥ १ ॥

णिंदाए य पसंसाए दुक्खे य सुहएसु य ।
सत्तूणं चेव बंधूणं चारित्तं समभावदो ॥ ७२ ॥

निन्दायां च प्रशंसायां दुःखे च सुखेषु च ।
शत्रूणां चैव बन्धूनां चारित्रं समभावतः ॥

णिंदाए य पसंसाए निन्दायां प्रशंसायां च समभावतश्चारित्रं भवतीति सम्बन्धः । **दुक्खे य सुहएसु य** दुःखे च सुखके च समागतेष्वित्युपस्कारः । **सत्तूणं चेव बंधूणं** शत्रूणां चैव बन्धूनां समायोगे इत्युपस्कारः । **चारित्तं समभावदो** समभावतः समतापरिणामे सति चारित्रं भवतीति निर्विकल्पसमाधिरूपं यथाख्यातं चारित्रं भवतीति भावार्थः ।

चरियावरिया वदसमिदिवज्जिया सुद्धभावपब्भट्ठा ।
केई जंपंति णरा ण हु कालो झाणजोयस्स ॥ ७३ ॥

चर्यावरिका व्रतसमितिवर्जिताः शुद्धभावप्रभ्रष्टाः ।
केचित् जल्पन्ति नराः न हि कालो ध्यानयोगस्य ॥

चरियावरिया चर्यायाश्चारित्रस्य आवरिका आवरणं येषां ते चर्यावरिकाः चारित्रमोहनीयकर्मयुक्ताः । **वदसमिदिवज्जिया** व्रतसमितिवर्जिताः व्रतरहिताः समितिहीनाश्च । **सुद्धभावपब्भट्ठा** शुद्धभावप्रभ्रष्टाः रागद्वेषमोहादिभिः परिणामैः कश्मलीकृताः आत्मध्यानहीनाः । **केई जंपंति णरा** केचिद्बहिरात्मानो नराः पुरुषाः जल्पन्ति ब्रुवन्ति । किं जल्पन्ति [1] **ण हु कालो झाणजोयस्स** ध्यानयोगस्य अष्टाङ्गयोगमध्ये सप्तमो योगो ध्यानयोगस्तस्य कालोऽवसरो न वर्तते। कथं [2] हि स्फुटं । के ते अष्टाङ्गयोगा —

१ च. टी । २ न टी ।

आत्मानं ध्यायतां दर्शनशुद्धीनां दृढचारित्राणाम् ।
भवति ध्रुवं निर्वाणं विषयेषु विरक्तचित्तानाम् ॥

अप्पा झायंताणं आत्मानं ध्यायतां मुनीनां । **दंसणसुद्धीण दिढचरित्ताणं** दर्शनस्य शुद्धिर्नैर्मल्यं चलमलिनत्वरहितसम्यक्त्वानां चर्मजलघृततैलभूतनाशनादिपरिहरतां शरीरमात्रदर्शनेन परगृहेषु कृतादिदोषरहिताशनमश्नतां दर्शनशुद्धिमतां, दृढचरित्राणां ब्रह्मचर्यप्रत्याख्यानादिदृढचारित्राणां । **होदि धुवं णिव्वाणं** भवति ध्रुवमिति निश्चयेन निर्वाणं मोक्षो भवति । **विसएसु विरत्तचित्ताणं** विषयेषु इष्टवनितालिङ्गनादिषु विरक्तचित्तानां विषयान् विषं मन्यमानानामिति संक्षेपतोऽर्थो ज्ञातव्यो ज्ञानीयो ज्ञेय इति ।

जेण रागे परे दव्वे संसारस्स हि कारणं ।
तेणावि जोइणो णिच्चं कुज्जा अप्पे सभावणा ॥७१॥

येन रागे परे द्रव्ये संसारस्य हि कारणम् ।
तेनापि योगी नित्यं कुर्यादात्मनि स्वभावनाम् ॥

जेण रागे परे दव्वे येन वनितादिना पर्यायेण, रागे सति राग उत्पद्यते, परकीये द्रव्ये आत्मनो भिन्ने वस्तुनि । **संसारस्स हि कारणं** स रागः कथंभूतः, संसारस्य भवभ्रमणस्य, हि निश्चयेन, कारणं हेतुः । **तेणावि** न केवलं आत्मनि आत्मभावनां कुर्यात् किन्तु तेनापीष्ट वनितादिना । **जोइणो** योगी । नित्यं-सर्वकालं । **अप्पे** आत्मनि । स्वभावनां–आत्मभावनां कुर्यात् । कथमिति चेत् ? इयमिष्टवनिता अनन्तकेवलज्ञानमयी वर्तते यथा ममात्मानन्तकेवलज्ञानमयो वर्तते । इयमहं च द्वावपि केवलज्ञानिनौ वर्तावहे । तेन इयमप्यात्मा ममेति को नाम पृथग्वर्तते येन सह स्नेहं करोमि । तथा चोपनिषद्—

१ रहिताशनमिति मूलटीकापाठः । २ तेनापि. टी. । ३ योगिनः टी. ।

यस्मिन् सर्वाणि भूतानि आत्मैवाभूद्विजानतः ।
तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः ॥ १ ॥

णिंदाए य पसंसाए दुक्खे य सुहएसु य ।
सत्तूणं चेव बंधूणं चारित्त समभावदो ॥ ७२ ॥

निन्दायां च प्रशंसायां दुःखे च सुखेषु च ।
शत्रूणां चैव बन्धूनां चारित्रं समभावतः ॥

णिंदाए य पसंसाए निन्दायां प्रशंसायां च समभावतश्चारित्रं भवतीति सम्बन्धः । **दुक्खे य सुहएसु य** दुःखे च सुखके च समागतेष्वित्युपस्कारः । **सत्तूणं चेव बंधूणं** शत्रूणां चैव बन्धूनां समायोगे इत्युपस्कारः । **चारित्त समभावदो** समभावतः समतापरिणामे सति चारित्रं भवतीति निर्विकल्पसमाधिरूपं यथाख्यातं चारित्रं भवतीति भावार्थः ।

चरियावरिया वदसमिदिवज्जिया सुद्धभावपब्भट्टा ।
केई जपंति णरा ण हु कालो झाणजोयस्स ॥ ७३ ॥

चर्यावरिका व्रतसमितिवर्जिता शुद्धभावप्रभ्रष्टाः ।
केचित् जल्पन्ति नराः न हि कालो ध्यानयोगस्य ॥

चरियावरिया चर्यायाश्चारित्रस्य आवरिका आवरणं येषां ते चर्यावरिकाः चारित्रमोहनीयकर्मयुक्ताः । **वदसमिदिवज्जिया** व्रतसमितिवर्जिता व्रतरहिताः समितिहीनाश्च । **सुद्धभावपब्भट्टा** शुद्धभावप्रभ्रष्टाः रागद्वेषमोहादिभिः परिणामैः कश्मलीकृताः आत्मध्यानहीनाः । **केई जपंति णरा** केचिद्बहिरात्मानो नराः पुरुषाः जल्पन्ति ब्रुवन्ति । किं जल्पन्ति[1] **ण हु कालो झाणजोयस्स** ध्यानयोगस्य अष्टाङ्गयोगमध्ये सप्तमो योगो ध्यानयोगस्तस्य कालोऽवसरो न वर्तते । कथं[2] हि स्फुटं । के ते अष्टाङ्गयोगाः —

१ च टी । २ न टी ।

यमनियमासनप्राणायामप्रत्याहारधारणाध्यानसमाधय । इति ।

सम्मत्तणाणरहिओ अभव्वजीवो हु मोक्खपरिमुक्को ।
संसारसुहे सुरदो ण हु कालो भणइ झाणस्स ॥ ७४ ॥

सम्यक्त्वज्ञानरहित अभव्यजीवो हि मोक्षपरिमुक्त
ससारसुखे सुरत न हि कालो भणति ध्यानस्य ॥

सम्मत्तणाणरहिओ सम्यक्त्वरहितो मिथ्यादृष्टि, ज्ञानरहितोऽज्ञानी मूढजीवो बहिरात्मा । **अभव्वजीवो हु मोक्खपरिमुक्को** अभव्य जीवो रत्नत्रयस्यायोग्या लौकादिको मोक्षपरिमुक्त तस्य कदाचिदपि कर्मक्षयो न भविष्यति स न सेत्स्यति कंकटुकमुद्गवत् । **संसारसुहे सुरदो** ससारसुखे वनितायोनिमथनसुखे, सुरत सुष्ठु अतिशयेन रत तत्पर । **ण हु कालो भणइ झाणस्स** एव दोषदुष्टो भणति ब्रूते, किं भणति ? ध्यानस्य कालो न भवति । कथ ? हु स्फुटं ।

पंचसु महव्वदेसु य पचसु समिदीसु तीसु गुत्तीसु ।
जो मूढो अण्णाणी ण हु कालो भणइ झाणस्स ॥ ७५ ॥

पचसु महाव्रतेषु च पचसु समितिषु तिसृषु गुप्तिषु ।
यो मूढ अज्ञानी न हि कालो भणति ध्यानस्य ॥

पंचसु महव्वदेसु य पचसु महाव्रतेषु च प्राणातिपातमृषावादस्तेयमैथुनपरिग्रहसर्वथापरित्यागो महाव्रतमुच्यते एतेषु पंचसु महाव्रतेषु यो मूढश्चारित्रमोहबलवत्तर । चकारादणुव्रतानामपि अप्रतिपालको रात्रिभोजननियमरहित चर्मजलघृततैलरामठास्वादनमठ । **पंचसु समिदीसु तीसु गुत्तीसु** ईर्यासमिति –चरचतुष्टय मार्गमवलोक्य गमन, भाषासमिति –आगमाविरुद्धभाषण, एषणासमिति –पूर्वोक्तषट्चत्वारिंशद्दोषरहिताहारग्रहण, आदाननिक्षेपणासमिति –ज्ञानोपकरणशौचोपकरणाना पूर्वं दृष्ट्वा

पश्चान्मयूरपिच्छैः प्रतिलेख्य ग्रहण विसर्जन च आदाननिक्षेपणासमिति.,
प्रतिष्ठापनासमिति—मलमूत्रशरीरादिकस्याविरुद्धनिर्जन्तुप्रदेशे विसर्जन
एतासु पचसु समितिषु यो मूढो निर्विवेक । तिसृषु गुप्तिषु मनोगुप्ति-
वाग्गुप्तिकायगुप्तिषु। **जो मूढो अण्णाणी** य पुमान् मूढो निर्विवेकोऽ-
ज्ञानी जिनसूत्रबहिर्भूत । **ण हु कालो भणइ झाणस्स** न विद्यते हु स्फुटं,
कोऽसौ ? कालोऽवसर , ध्यानस्य सप्तमयोगस्य, एव भणति सूत्र ।

भरहे दुस्समकाले धम्मज्झाणं हवेइ साहुस्स ।
तं अप्पसहावठिदे ण हु मण्णइ सो वि अण्णाणी ॥७६॥

भरते दु षमकाले धर्म्यध्यान भवति साधो ।
तदात्मस्वभावस्थिते न हि मन्यते सोऽपि अज्ञानी ॥

भरहे दुस्समकाले भरहे—भरतक्षेत्रे भारतवर्षे, दु षमे काले पच-
मकाले कलिकालापरनाम्नि काले। **धम्मज्झाणं हवेइ साहुस्स** धर्मध्यान
भवति साधोर्दिगम्बरस्य मुने । **तं अप्पसहावठिदे** तद्धर्मध्यान आत्म-
स्वभावस्थिते आत्मभावनातन्मये मुनौ भवति । **ण हु मण्णइ सो वि
अण्णाणी** न मन्यते नाङ्गीकरोति सोऽपि पुमान् पापीयान् अज्ञानी
जिनसूत्रबाह्य ।

अज्ज वि तिरयणसुद्धा अप्पा झाएवि लहहि इंदत्तं ।
लोयंतियदेवत्तं तत्थ चुआ णिव्वुदिं जंति ॥ ७७ ॥

अद्यापि त्रिरत्नशुद्धा आत्मान ध्यात्वा लभन्ते इन्द्रत्वम् ।
लौकान्तिकदेवत्व तत च्युत्वा निर्वाण यान्ति ॥

अज्ज वि तिरयणसुद्धा अद्यापि पचमकालोत्पन्ना समनस्का पंचे-
न्द्रिया उत्तमकुलादिसामग्रीप्राप्ता वैराग्येण गृहीतदीक्षास्त्रिरत्नशुद्धा सम्य-
क्त्वज्ञानचारित्रनिर्मला वर्तन्त एव, ये कथयन्ति महाव्रतिनो न विद्यन्त
ते नास्तिका जिनसूत्रबाह्या ज्ञातव्याः । ते आसन्नभव्याः किं कुर्वन्ति ?

अप्पा झाएवि लहहि इंदत्तं आत्मानं ध्यात्वा भावयित्वा लभन्ते इन्द्रत्वं शक्रपदं । न केवलमिन्द्रत्वं लभन्ते, **लोयंतियदेवत्तं** केचिदल्पश्रुता अपि साधव आत्मभावनाबलेन लौकान्तिकत्वं लभन्ते पञ्चमस्वर्गस्यान्ते पर्यन्त-प्रदेशेषु तेषां विमानानि सन्ति, तत्र भवा लौकान्तिका सुरमुनयश्च कथ्यन्ते, ते स्वर्गे स्थिता अपि ब्रह्मचर्यं प्रतिपालयन्ति–स्त्रीरहिता भवन्ति, तीर्थ-करसम्बोधनकाले मर्त्यलोकमागच्छन्ति अन्यथा स्वस्थानमेवावतिष्ठन्ते ।

चतुर्लक्षा सहस्राणि सप्त चैव शताष्टक ।
विंशतिर्मेलिता एते बुधैर्लौकान्तिका मता. ॥ १ ॥

"सारस्वत्यादित्यवह्न्यरुणगर्दतोयतुषिताव्याबाधारिष्टाश्च" इति तेषां अष्टौ जातयः । तथा तेषां षोडशजातयश्च वर्तन्ते । सारस्वतादित्यान्तरे अग्न्याभसूर्याभा । आदित्यवह्निमध्ये चन्द्राभसत्याभा । वह्न्यरुणान्तरे श्रेयस्करक्षेमकरा । अरुणगर्दतोयमध्ये वृषभेष्टकामचरा । गर्दतोयतुषितान्तरे निर्माणरजोदिगन्तरक्षिता । तुषिताव्याबाधमध्ये आत्मरक्षित-सर्वरक्षिता । अव्याबाधारिष्टान्तरे मरुद्वसव । अरिष्टसारस्वतान्तरे अश्व विश्वा । **तत्थ चुआ णिव्वुदिं जंति** तस्माच्च्युता निर्वृतिं निर्वाणं यान्ति गच्छन्ति । सर्वेऽपि पूर्वधारिण एकं गर्भवासं गृहीत्वा मोक्षं प्राप्नुवन्ति ।

जे पावमोहियमई लिंगं घेत्तूण जिणवरिंदाणं ।
पावं कुणंति पावा ते चत्ता मोक्खमग्गम्मि ॥ ७८ ॥

ये पापमोहितमतय लिङ्गं गृहीत्वा जिनवरेन्द्राणाम् ।
पापं कुर्वन्ति पापा ते त्यक्ता मोक्षमार्गे ॥

जे पावमोहियमई ये मुनय पापमोहितमतय पापेन ब्रह्मचर्य-भङ्गप्रत्याख्यानभञ्जनादिना मोहिता क्षोभं प्रापिता पापमोहितमतय । **लिंगं घेत्तूण जिणवरिंदाणं** लिङ्गं चिह्नं मुद्रां नग्नत्वं वस्त्रमात्रोपेत-

क्षुल्लकत्वं च चक्रवर्तिश्रियं, घेत्तूण गृहीत्वा धृत्वा, जिनवरेन्द्राणां तीर्थं करपरमदेवानां । पावं कुणंति पावा पापं ब्रह्मचर्यभंगादिकं कुर्वन्ति पापा पापमूर्तयः पापरूपा । ते चत्ता मोक्खमग्गम्मि ते जिनलिंगोपजीविनः त्यक्ता पतिता मोक्षमार्गादित्यर्थः । उक्तं च—

अन्यलिंगकृतं पापं जिनलिंगेन मुच्यते ।
जिनलिंगकृतं पापं वज्रलेपो भविष्यति ॥ १ ॥

जे पंचचेलसत्ता गंथग्गाहीय जायणासीला ।
आधाकम्मम्मि रया ते चत्ता मोक्खमग्गम्मि ॥ ७९ ॥

ये पंचचेलसक्ता ग्रन्थग्राहिणः याचनशीलाः ।
अधः कर्मणि रताः ते त्यक्ता मोक्षमार्गे ॥

जे पंचचेलसत्ता ये मुनयः पंचचेलसक्ताः पंचविधवस्त्रलम्पटाः अंडज-बुण्डज वल्कज चर्मज रोमजपंचप्रकारवस्त्राणामन्यतमं वस्त्रप्रकारं परिदधत्युप-दधति च । **गंथग्गाहीय जायणासीला** ग्रन्थग्राहिणो रिक्थस्वीकारिणः, याचनाशीलाः स्वभावेन याञ्चापरा जिनमुद्रां प्रदर्श्य धनं याचन्ते मातरं प्रदर्श्य भाटीं गृह्णन्तः इत्यमानाः । **आधाकम्मम्मि रया** आधाकर्मणि अधः कर्मणि निंद्यकर्मणि उपविश्य भोजनं कारयित्वा भुंजते ये तेऽधःकर्मरता इत्युच्यन्ते । **ते चत्ता मोक्खमग्गम्मि** ते मुनयस्त्यक्ताः पतिता मोक्षमार्गादिति भावार्थः ।

णिग्गंथमोहमुक्का बावीसपरीसहा जियकसाया ।
पावारंभविमुक्का ते गहिया मोक्खमग्गम्मि ॥ ८० ॥

निर्ग्रन्थमोहमुक्ता द्वाविंशतिपरीषहा जितकषायाः ।
पापारम्भविमुक्ता ते गृहीता मोक्षमार्गे ॥

णिग्गंथमोहमुक्का निर्ग्रन्था परिग्रहरहिताः, मोहमुक्ताः पुत्रमित्रकलत्रादिस्नेहरहिताः । **बावीसपरीसहा** द्वाविंशतिपरीषहा द्वाविंशति-

१ "द्रव्यं वित्तं स्वापतेयं रिक्थमृक्थं धनं वसु" इत्यमरः ।

अप्पा झाएवि लहहि इंदत्तं आत्मानं ध्यात्वा भावयित्वा लभन्ते इन्द्रत्वं शक्रपदं। न केवलमिन्द्रत्वं लभन्ते, **लोयंतियदेवत्तं** केचिदल्पश्रुता अपि साधव आत्मभावनाबलेन लौकान्तिकत्वं लभन्ते पंचमस्वर्गस्यान्ते पर्यन्तप्रदेशेषु तेषां विमानानि सन्ति, तत्र भवा लौकान्तिका सुरमुनयश्च कथ्यन्ते, ते स्वर्गे स्थिता अपि ब्रह्मचर्यं प्रतिपालयन्ति—स्त्रीरहिता भवन्ति, तीर्थंकरसम्बोधनकाले मर्त्यलोकमागच्छन्ति अन्यथा स्वस्थानमेवाधितिष्ठन्ते।

चतुर्लक्षाः सहस्राणि सप्त चैव शताष्टकं।
विंशतिर्मेलिता एते बुधैर्लौकान्तिका मताः ॥ १ ॥

"सारस्वतादित्यवह्न्यरुणगर्दतोयतुषिताव्याबाधारिष्टाश्च" इति तेषां अष्टौ जातयः। तथा तेषां षोडशजातयश्च वर्तन्ते। सारस्वतादित्यान्तरे अग्न्याभसूर्याभा। आदित्यवह्निमध्ये चन्द्राभसत्याभा। वह्न्यरुणान्तरे श्रेयस्करक्षेमंकरा। अरुणगर्दतोयमध्ये वृषभेष्टकामचरा। गर्दतोयतुषितान्तरे निर्माणरजोदिगन्तरक्षिता.। तुषिताव्याबाधमध्ये आत्मरक्षितसर्वरक्षिता। अव्याबाधारिष्टान्तरे मरुद्वसव। अरिष्टसारस्वतान्तरे अश्व विश्वाः। **तत्थ चुआ णिव्वुदिं जंति** तस्माच्च्युता निर्वृतिं निर्वाणं यान्ति गच्छन्ति। सर्वेऽपि पूर्वधारिणः एकं गर्भवासं गृहीत्वा मोक्षं प्राप्नुवन्ति।

जे पावमोहियमई लिंगं घेत्तूण जिणवरिंदाणं।
पावं कुणंति पावा ते चत्ता मोक्खमग्गम्मि ॥ ७८ ॥

ये पापमोहितमतयः लिङ्गं गृहीत्वा जिनवरेन्द्राणाम्।
पापं कुर्वन्ति पापाः ते त्यक्ता मोक्षमार्गे ॥

जे पावमोहियमई ये मुनयः पापमोहितमतयः पापेन ब्रह्मचर्यभंगप्रत्याख्यानभञ्जनादिना मोहिता लोभं प्रापिताः पापमोहितमतयः। **लिंगं घेत्तूण जिणवरिंदाणं** लिंगं चिन्हं मुद्रां नग्नत्वं वस्त्रमात्रोपेत-

सुलकत्व च चक्रवर्तिलिंग, घेत्तूण गृहीत्वा धृत्वा, जिनवरेन्द्राणां तीर्थकरपरमदेवानां। पावं कुणंति पावा पापं ब्रह्मचर्यभंगादिकं कुर्वन्ति पापा पापमूर्तय पापरूपा । ते चत्ता मोक्खमग्गम्मि ते जिनलिंगोपजीविन त्यक्ता पतिता मोक्षमार्गादित्यर्थ । उक्त च—

अन्यलिंगकृतं पापं जिनलिंगेन मुच्यते।
जिनलिंगकृत पापं वज्रलेपो भविष्यति ॥ १ ॥

जे पंचचेलसत्ता गंथग्गाहीय जायणासीला।
आधाकम्मम्मि रया ते चत्ता मोक्खमग्गम्मि ॥ ७९ ॥

ये पञ्चचेलसक्ता॰ ग्रन्थग्राहिण याचनशीला ।
अध कर्मणि रता॰ ते त्यक्ता मोक्षमार्गे ॥

जे पंचचेलसत्ता ये मुनय पचचेलसक्ता पचविधवस्त्रलपटा अडजतुडज वल्कज चर्मज-रोमजपंचप्रकारवस्त्रेष्वन्यतम वस्त्रप्रकारं परिदधत्युपदधति च । **गंथग्गाहीय जायणासीला** ग्रन्थग्राहिणो रिक्थ[1]स्वीकारिण, याचनाशीला स्वभावेन याञ्चापरा जिनमुद्रां प्रदर्श्य धन याचन्ते मातरं प्रदर्श्य भाटीं गृह्णन्ति तत्समाना । **आधाकम्मम्मि रया** आधाकर्मणि अध कर्माणि नि द्यकर्मणि उपविश्य भोजन कारयित्वा भुजते ये तेऽध -कर्मरता इत्युच्यन्ते । **ते चत्ता मोक्खमग्गम्मि** ते मुनयस्त्यक्ता. पतिता मोक्षमार्गादिति भावार्थ ।

णिग्गंथमोहमुक्का बावीसपरीसहा जियकसाया।
पावारंभविमुक्का ते गहिया मोक्खमग्गम्मि ॥ ८० ॥

निर्ग्रन्थ मोहमुक्ता द्वाविंशतिपरीषहा जितकषाया ।
पापारम्भविमुक्ता ते गृहीता मोक्षमार्गे ॥

णिग्गंथमोहमुक्का निर्ग्रन्था. परिग्रहरहिता, मोहमुक्ता: पुत्रमित्रकलत्रादिस्नेहरहिता । **बावीसपरीसहा** द्वाविंशतिपरीषहा द्वाविंशति-

---

[1] "द्रव्य वित्त स्वापतेय रिक्थमृक्थ धन वसु" इत्यमर ।

पुरुष कार आत्मा योगी वरज्ञानदर्शनसमग्र ।
यो ध्यायति स योगी पापहरो भवति निर्द्वन्द्व ॥

पुरिसायारो अप्पा पुरुषस्य नरस्याकार आकृतिर्यस्य स पुरुषाकार एव गुण विशिष्ट य ? आत्मा चेतनस्वभावो जीवतत्त्व, **जोई चरणाणदसणसमग्गो** योगी मुनि, इत्यनेन गृहस्थस्य मोक्ष गुणाणा सितपटा प्रयुक्ता भवन्ति । वरज्ञानदर्शनसमग्र केवलज्ञानकेवलदर्शन परिपूर्ण । इत्यनेनाचैतन्यमात्मानं मन्यमाना कापिला शुनका इव निराकृता । **जो झायदि सो जोई** एव गुणविशिष्टमात्मान यो मुनि र्ध्यायति स योगी ध्यानी भवति । अन्यथार्थको नास्तिको योगिनामा । एव स्थाने स्थाने मतान्तराश्रयेण व्याख्यान कर्तव्यमिति भाव । **पावहरो भवदि णिद्दो** पापहरस्त्रिषष्टिप्रकृतिविच्छेदको भवति घाति सघातघातक स्यात्, निर्द्वन्द्व समवशरणागतपरस्परविरोधिजन्तुकलह निषेधक इत्यर्थ ।

एय जिणेहि कहिय सवणाण सावयाण पुण पुणसु ।
ससारविणासयर सिद्धियर कारण परम ॥ ८५ ॥

एतत् जिनै कथित श्रवणाना श्रावकाणा पुन पुन ।
ससारविनाशकर सिद्धिकर कारण परमम् ॥

एय जिणेहि कहिय एतद्घातिसघातघातनादिक फल आत्मध्यानस्य, जिनै सर्वज्ञै कथित प्रमाणभूतवचनै प्रतिपादित । **सवणाण सावयाण पुण पुणसु** श्रवणाना दिगम्बराणा महामुन्यपरसज्ञानामृषीणामिति, न केवल श्रवणानां श्रावकाणा सद्दृष्टीनामुपासकाना च यतस्ते दीक्षायोग्या ध्यानाधिकारिणो देशव्रता सन्त आत्मभावनापरा ससारविरक्तचित्ता आरक्षकगृहीतचौरवत् गृहपरित्यागपरिहारमनस षोडशान्यतमस्वर्गगामिन । पुन पुन भणित तत्वज्ञानविज्ञानार्थं च । **ससा**

रविणासयर सर्वज्ञवीतरागवचनमिदं कथंभूतं ? संसारविनाशकरं मोक्षप्रदायकं । सिद्धियरं आत्मोपलब्धिकरं । कारणं हेतुभूतं । परमं उत्कृष्टं उपदेशानामुपदेशोत्तमं ।

गहिऊण य सम्मत्तं सुनिम्मलं सुरगिरीव निक्कंपं ।
तं झाणे झाइज्जइ सावय दुक्खक्खयट्ठाए ॥ ८६ ॥

गृहीत्वा च सम्यक्त्वं सुनिर्मलं सुरगिरिरिव निष्कम्पम् ।
तद् ध्याने ध्यायते श्रावक ! दुःखक्षयार्थं ॥

पुरुषाकार आत्मा योगी वरज्ञानदर्शनसमग्र ।
यो ध्यायति स योगी पापहरो भवति निर्द्वन्द्व ॥

पुरिसायारो अप्पा पुरुषस्य नरस्याकार आकृतिर्यस्य स पुरुषाकार, एव गुण विशिष्ट क ? आत्मा चेतनस्वभावो जीवतत्व, **जोई चरणाणदंसणसमग्गो** योगी मुनि, इत्यनेन गृहस्थस्य मोक्ष ब्रुवाणा सितपटा प्रयुक्ता भवन्ति । वरज्ञानदर्शनसमग्र केवलज्ञानकेवलदर्शन परिपूर्ण । इत्यनेनाचैतन्यमात्मान मन्यमाना कापिला शुनका इव निराकृता । **जो झायदि सो जोई** एव गुणविशिष्टमात्मान यो मुनिर्ध्यायति स योगी ध्यानी भवति । अयथार्थोक्तो नास्तिको योगिनामा । एव स्थाने स्थाने मतान्तराश्रयेण व्याख्यान कर्तव्यमिति भाव । **पावहरो भवदि णिद्दंदो** पापहरस्त्रिषष्टिप्रकृतिविच्छेदको भवति घातिसघातघातक स्यात्, निर्द्वन्द्व समवशरणागतपरस्परविरोधिजन्तुकलहनिषेधक इत्यर्थ ।

एयं जिणेहि कहियं सवणाणं सावयाण पुण पुणसु ।
संसारविणासयर सिद्धियर कारणं परमं ॥ ८५ ॥

एतत् जिनै कथित श्रवणाना श्रावकाणां पुन पुन ।
ससारविनाशकर सिद्धिकर कारण परमम् ॥

एयं जिणेहि कहियं एतद्घातिसघातघातनादिक फल आत्मध्यानस्य, जिनै सर्वज्ञै कथित प्रमाणभूतवचनै प्रतिपादित । **सवणाणं सावयाण पुण पुणसु** श्रवणाना दिगम्बराणा महामुन्यपरसज्ञानाभृर्वीणामिति, न कवल श्रवणाना श्रावकाणा सद्दृष्टीनामुपासकाना च यतस्ते दीक्षायोग्या ध्यानाधिकारिणो देशव्रता सन्त आत्मभावनापरा संसारविरक्तचित्ता आरक्षकगृहीतचौरवत् गृहपरित्यागपरिहारमनस षोडशान्यतमस्वर्गगामिन । पुन पुन भणित तत्वज्ञानविज्ञानार्थं च । **संसा-**

रविणासयर सर्वज्ञवीतरागवचनमिदं कथंभूतं ? संसारविनाशकरं मोक्षप्रदायकं । सिद्धियरं आत्मोपलब्धिकरं । कारणं हेतुभूतं । परमं उत्कृष्टं उपदेशानामुपदेशोत्तमं ।

गहिऊण य सम्मत्तं सुनिम्मलं सुरगिरीव णिक्कंपं ।
तं झाणे झाइज्जइ सावय दुक्खक्खयट्ठाए ॥ ८६ ॥

गृहीत्वा च सम्यक्त्वं सुनिर्मलं सुरगिरेरिव निष्कम्पम् ।
तद् ध्याने ध्यायते श्रावक ! दुःखक्षयार्थे ॥

मूर्ध्नि धरति जटामध्ये गंगा चादधाति, ब्रह्मा वशिष्ठस्य पितृत्वादुर्वशी-वल्लभत्वात्, विष्णुः षोडशसहस्रगोपीर्भजते गोपनाथस्य दुहितरं च, सूर्यो रण्णादेवीं चन्द्रो रोहिणीं च भुंक्ते तेनैते रागवन्तोऽपि ज्ञातव्याः। ब्रह्मा गजासुरं द्वेष्टि, रुद्रस्त्रिपुरदानवं भस्मयति, विष्णुः कंसकेशिचाणूर-जरासन्धान् पिनष्टि तेनैते द्वेषवन्तोऽपि ज्ञातव्याः। ब्रह्मा वशिष्ठमुखं पश्यति, रुद्रस्तु स्कन्दं निरीक्षते, विष्णुः प्रद्युम्नं जिघ्रति तेनैते मोहिनोऽपि ज्ञातव्याः। ब्रह्मणः सृष्टिचिन्ता समुत्पन्ना रुद्रस्य नरक-भस्मदानात् विष्णोर्जगत्सन्धारणपालनविषये महती चिन्ता समुत्पन्ना। ब्रह्मा उर्वश्या रमते, रुद्रः पार्वतीं भुंक्ते, विष्णुः सत्यभामाद्याः क्रीडति तेनैतेषु रतिदोषोऽपि घटते। ब्रह्मा योगनिद्रां करोति, रुद्रः कैलासे शेते गिरीशनामकरणात्, विष्णुर्जलशायीति कथ्यते तेनैते प्रमीला-वन्तोऽपि विज्ञेयाः निद्रादोषा इत्यर्थः। रुद्रो नरकाय वरं दत्वा विषीदति इत्यादि विषाददोषोऽपि सगच्छते। मैथुनादिषु स्वेदसद्भावोऽपि लोक-कल्पितदेवानामभ्यूह्यः। खेदस्तु संग्रामादौ। विस्मयस्तु रूपादिदर्शने। इत्यादि लोकदेवतानामष्टादशापि दोषाश्चिन्तनीयाः। सर्वज्ञवीतरागे तु कश्चिदपि दोषो न वर्तते। उक्तं च—

> रागादिदोषसद्भावो ज्ञेयोऽमीषां तदागमात्।
> असतः परदोषस्य गृहीतौ पातकं महत्॥ १॥

णिग्गंथे पावयणे निग्रन्थे प्रावचने प्रवचननियुक्ते गुणे। सद्दहणं होइ सम्मत्तं एतेषु धर्मदेवगुरुषु पदार्थेषु श्रद्धानं रुचिः अन्येषु रस-घातानास्वादनवदरुचिः सम्यक्त्वं भवतीति क्रियाकारकसम्बन्धः।

> जहजायरूवरूवं सुसंजयं सव्वसंगपरिचत्तं।
> लिंगं ण परावेक्खं जो मण्णइ तस्स सम्मत्तं ॥९१॥

१ पवयणं इति मूलपाठा पाठः।

यथाजातरूपरूपं सुसंयत सर्वसंगपरित्यक्तम् ।
लिङ्गं न परापेक्षं य मन्यते तस्य सम्यक्त्वम् ॥

जहजायरूवरूवं यथाजातरूपं मातुर्गर्भनिर्गतबालकरूपं तद्वद्रूपमाकारो यस्य लिंगस्य तद्यथाजातरूपरूपं । **सुसंजय सव्वसंगपरिचत्तं** पुनः कथंभूतं लिंगं, सुसंयतं सुष्ठु-अतिशयेनसंयमसहितं, सर्वसंगपरित्यक्तं सर्वपरिग्रहरहितं शिरःवर्णकण्ठकरकटीक्रमप्रभृत्यङ्गाभरणवस्त्ररहितं सर्वथा नग्नं । **लिंगं ण परावेक्खं** ईदृग्विधं लिंगं कथंभूतं, न परापेक्षं परापेक्षारहितं शरीरमात्रपरिग्रहं । **जो मण्णइ तस्स सम्मत्तं** ईदृशं लिंगं निग्रन्थवेषं यः पुमान् मन्यते साधु वक्ति तस्य सम्यक्त्वं भवति, यः सग्रन्थलिंगेन मोक्षं वक्ति स मिथ्यादृष्टिर्ज्ञातव्य इति ।

कुच्छियदेवं धम्मं कुच्छियलिंगं च वंदए जो दु ।
लज्जाभयगारवदो मिच्छादिट्ठी हवे सो हु ॥९२॥

कुत्सितदेवं धर्मं कुत्सितलिंगं च वन्दते यस्तु ।
लज्जाभयगारवतः मिथ्यादृष्टिर्भवेत् स हु ॥

कुच्छियदेवं धम्मं कुत्सितदेवं श्रीमहादेवं ब्रह्माणं नारायणं बुद्धं रविं चन्द्रमसं यक्षं त्रिपुरभैरवीं चेत्यादिकं । कुत्सितधर्मं आलंभनकुट्टखण्डितपशुचक्रमवषट्कारसम्बन्धं शूलपाणिं, झपापातं, वह्निमवेशं, भर्तुसह गमनं, सूर्याधग्रहणस्नानं, संक्रान्तिदानं, नदीसागरादिमज्जनं, गोयोनिस्पर्शनं, तन्मूत्रपानं, शमीतरुपूजनं, पिप्पलालिंगनं मृत्तिकाविलेपनं, कृष्णसारचर्मवसनं, नक्तभोजनं, धूलीदपट्टचयवन्दनं, रत्नपूजनं, वाहनार्चनं, भूमिपूजनं, खड्गपूजनं, पर्वतपूजनं, घृते मुखावलोकनमित्यादि कुत्सितधर्मं । **कुच्छियलिंगं च वंदए जो दु** कुत्सितलिंगं नग्नाण्डकं, जटाधारिणं, पञ्चशिखं, एकदण्डिनं, त्रिदण्डिनं, शिखाधारिणं, सौगतपाशुपतयोग्ये-

१ भर्त्रा सह गमनं ख इदमेव साधु ।

त्यादि—कुत्सितलिंग च व दते नमस्करोति अभिवादन विदधाति नमो-नारायणमिति वाचा प्रणमति मस्तकेन वं दे इति प्रणमति यस्तु पुमान्। **लज्जाभयगारवदो** लज्जया कृत्वा भयेन च गारवेण गर्वेण च यो वन्दते। **मिच्छादिट्ठी हवे सो हु** मिथ्यादृष्टिर्भवति स। कथं¹ हु स्फुटं।

सपरावेक्खं लिंगं राई देवं असंजयं वंदे।
माणइ मिच्छादिट्ठी ण हु मण्णइ सुद्धसम्मत्तो ॥९३॥

स्वपरापेक्ष लिङ्ग रागिण देव असयत वन्दे।
मानयति मिथ्यादृष्टि न हि मानयति शुद्धसम्यक्त्व ॥

सपरावेक्खं लिंगं स्वपरापेक्षं लिंग, स्वापेक्षं श्रपिपनीयुतं परापेक्ष रक्तवस्त्रमृगचर्मादि सापेक्ष लिंग वेषं। **राई देवं असजय वंदे** रागिणं देवं पार्वतीपति लक्ष्मीकान्त तिलोत्तमामुखकमलषट्पदक चतुर्वक्त्र चेत्यादिक देव, असजय वदे—असंयत अनेकमातुपमांसदक्षिणमुखभक्षकं व दे इति यो वक्ति। **माणइ मिच्छादिट्ठी** मानयति मिथ्यादृष्टि—श्रद्दधाति मिथ्यादृष्टि जिनानामभक्त। **ण हु मण्णइ सुद्धसम्मत्तो** न मानयति न ॥ मान ददाति, कोऽसौ² शुद्धसम्यक्त्वो निर्मलसम्यक्त्वरत्नमंडित।

सम्माइट्ठी सावय धम्मं जिणदेवदेसियं कुणदि।
विवरीयं कुव्वंतो मिच्छादिट्ठी मुणेयव्वो ॥९४॥

सम्यग्दृष्टि श्रावक धर्मं जिनदेवदेशित करोति।
विपरीत कुर्वन् मिथ्यादृष्टि ज्ञातव्य ॥

सम्माइट्ठी सावय सम्यग्दृष्टि श्रावक सम्यक्त्वरत्नसशोभितो गृहस्थ। अथवा श्रावयतीति श्रावको मुनि। अथवा हे सम्यग्दृष्टिश्रावक! इति सम्बोधनपद। **धम्मं जिणदेवदेसियं कुणदि** धर्म दुर्गतिपाता-

१ मस्तकेन वदयति प्रणमति स ।

दुकृत्य इन्द्रचन्द्रमुनीन्द्रवन्दिते पदे धरतीति धर्मस्त । जिणदेवदेसियं–जिनदेवदेशित श्रीमद्भगवदर्हत्सर्वज्ञवीतरागकथित करोति । **विवरीयं कुव्वंतो** विपरीतं कुर्वन् रुद्रजैमिनिकणभक्षकापिलसौगतादिभिरुपदिष्ट धर्मं कुर्वन् पुमान्। **मिच्छादिट्ठी मुणेयव्वो** मिथ्यादृष्टिरिति ज्ञातव्य ।

मिच्छादिट्ठी जो सो संसारे संसरेइ सुहरहिओ ।
जम्मजरमरणपउरे दुक्खसहस्साउले जीवो ॥९५॥

मिथ्यादृष्टि य स ससारे ससरति सुखरहित ।
जन्मजरामरणप्रचुरे दु खसहस्राकुले जीव ॥

मिच्छादिट्ठी जो सो मिथ्यादृष्टिर्यो जीव स । किं करोति ? **संसारे संसरेइ सुहरहिओ** ससारे भवसागरे ससरति सम्यक्प्रविशति सुखरहितो दु खसहित । कथभूते ससारे, **जम्मजरमरणपउरे** जन्मजरामरणप्रचुरे बहुले । **दुक्खसहस्साउले जीवो** दु खाना सहस्रैरन तदु - खैराकुले परिपूर्णे, क ? जीवो मिथ्यादृष्टिप्राणीति शेष ।

सम्म गुण मिच्छ दोसो मणेण परिभाविऊण तं कुणसु ।
जं ते मणस्स रुच्चइ किं बहुणा पलविएणं तु ॥ ९६ ॥

सम्यक्त्व गुण मिथ्यात्व दोष मनसा परिभाव्य तत्कुरु ।
यत्ते मनसे रोचते किं बहुना प्रलपितेन तु ॥

सम्म गुण मिच्छ दोसो सम्यक्त्वं गुणो भवति, मिथ्यात्व दोषो भवति पाप स्यात् । **मणेण परिभाविऊण तं कुणसु** इममर्थं मनसा चित्तेन परिभाव्य सम्यग्विचार्य तत्कुरु तत्त्व विधेहि । तत् किं ? **जं ते मणस्स रुच्चइ** यद्द्वयोर्गुणदोषयोर्मध्ये ते तव मनसे रोचते । **किं बहुणा पलविएणं तु** बहुना प्रलपितेन अनर्थकवचनेन किन्न किमपि । यदि तव मनसे गुणो रोचते तर्हि सम्यक्त्व विधेहि उत दोषो रोचते तर्हि

मिथ्यात्वं विधेहि । अर्थतस्तु सम्यक्त्वं विधेहीति सम्यगुपदेशो भगवतां श्रीकुन्दकुन्दाचार्याणां ।

बाहिरसंगविमुक्को ण वि मुक्को मिच्छभाव णिग्गंथो ।
किं तस्स ठाणमउणं ण वि जाणदि अप्पसमभावं ॥९७॥

बाह्यसंगविमुक्तः न विमुक्तः मिथ्याभावेन निर्ग्रन्थः ।
किं तस्य स्थानमौनं नापि जानाति आत्मसमभावम् ॥

बाहिरसंगविमुक्को बहिःसंगाद्विमुक्तो रहितो नग्नवेषः । **ण वि मुक्को मिच्छभाव णिग्गंथो** नापि मुक्तः नैव मुक्तः न विमुक्तो वा मिथ्याभावेन—मिथ्यात्वदोषेण रहितो न भवति, कोऽसौ ? निग्रन्थो दिगम्बरवेषाजीवी जीवः । **किं तस्स ठाणमउणं** तस्य निग्रन्थस्य स्थानं उद्भकायोत्सर्गः किं—न किमपि, कर्मक्षयलक्षणं मोक्षं न साधयतीत्यर्थः । तथा मौनं किं—मूकत्वमपि न किमपि, मोक्षाश्रितं कार्यं न करोतीत्यर्थः । **ण वि जाणदि अप्पसमभावं** नापि जानीते न लभते न वेत्ति आत्मसमभावं आत्मनां जीवानां समत्वपरिणामं—सर्वे जीवाः शुद्धबुद्धैकस्वभावा इति सिद्धान्तवचनं न जानाति ।

मूलगुणं छित्तूण य बाहिरकम्मं करेइ जो साहू ।
सो ण लहइ सिद्धिसुहं जिणलिंगविराधगो णियं ॥९८॥

मूलगुणं छित्वा बाह्यकर्म करोति यः साधुः ।
स न लभते सिद्धिसुखं जिनलिङ्गविराधकः नित्यम् ॥

मूलगुणं छित्तूण य मूलगुणमष्टाविंशतिभेदभिन्नं पंचमहाव्रतानि पंचसमितयः पंचेन्द्रियरोधो लोचः षडावश्यकानि अचेलत्वमस्नानं क्षितिशयनं दन्तधावनरहितत्वं उद्भभोजनं एकभक्तं इत्यष्टाविंशतिमूलगुणास्तावत् । तत्र यदुक्तः स्नानाभावस्तस्यायमर्थः—

नित्यस्नानं गृहस्थस्य देवार्चनपरिग्रहे ।
यतेस्तु दुर्जनस्पर्शात् स्नानमन्यद्विगर्हितं ॥ १ ॥

तत्र यतेः रजस्वलास्पर्शे अस्थिस्पर्शे चण्डालस्पर्शे शुनकगर्दभनापितयोगकपालस्पर्शे वमने विष्ठोपरि पादपतने शरीरोपरिकाकविण्मोचने इत्यादिस्नानोत्पत्तौ सत्यां दंडवदुपविश्यते, श्रावकादिकरछात्रादिको वा जलं नामयति, सर्वांगप्रक्षालनं क्रियते, स्वयं हस्तमर्दनेनाङ्गमलं न दूरीक्रियते, स्नाने संजाते सति उपवासो गृह्यते, पञ्चनमस्कारशतमष्टोत्तरं कायोत्सर्गेण जप्यते एवं शुद्धिर्भवति । एवं मूलगुण छित्वा **बाहिरकम्मं करेइ जो साहू** बहिः कर्म आतपनयोगादिकं यः साधुः करोति । **सो ण लहइ सिद्धिसुहं** स साधुः सिद्धिसुखं मोक्षसौख्यं न लभते न प्राप्नोति । **जिणलिंगविराधगो णिच्चं** स साधुर्जिनलिंगविराधको भवति, कथं ? नित्यं सर्वकालं ।

किं काहिदि बहिकम्मं किं काहिदि बहुविहं च खवणं च ।
किं काहिदि आदावं आदसहावस्स विवरीदो ॥ ९९ ॥

किं करिष्यति बाह्यकर्म किं करिष्यति बहुविधं च क्षमणं च ।
किं करिष्यति आतापः आत्मस्वभावाद्विपरीतः ॥

किं काहिदि बहिकम्मं किं करिष्यति—न किमपि करिष्यति, मोक्षं न करिष्यति, किं तत् ? बहिष्कर्म पठनपाठनादिकं प्रतिक्रमणादिकं च । **किं काहिदि बहुविहं च खवणं च** किं करिष्यति—न किमपि करिष्यति, न मोक्षं दास्यति । किं तत् ? बहुविधं नानाप्रकारं क्षमणमुपवासः । **किं काहिदि आदावं** किं करिष्यति—न किमपि करिष्यति, कोऽसौ ? आतापः घर्मकायोत्सर्गः पूर्वोक्तः समाचारः । कथंभूतः, **आदसहावस्स विवरीदो** आत्मस्वभावाद्विपरीतः बाह्यवस्तुसम्मोहितमना ।

जदि पढदि बहुसुदाणि य जदि काहिदि बहुविहे य चारित्ते।
तं बालसुदं चरणं हवेइ अप्पस्स विवरीदं ॥ १०० ॥

यदि पठति श्रुतानि च यदि करिष्यति बहुविधानि चारित्राणि।
तद्बालश्रुतं चरणं भवति आत्मनः विपरीतम् ॥

जदि पढदि बहुसुदाणि य यदि चेत्, पठति व्यक्तमुच्चारयति, बहुश्रुतानि अनेकतर्कव्याकरणच्छन्दोऽलङ्कारसिद्धान्तसाहित्यादीनि शास्त्राणि। चकार उक्तसमुच्चयार्थः एकादशाङ्गानि दशपूर्वाणि च। **जदि काहिदि बहुविहे य चारित्ते** यदि चेत्, काहिदि–करिष्यति अनुष्ठास्यति, बहुविधानि चारित्राणि त्रयोदशप्रकाराणि सामायिकादीनि पञ्चविधानि वा। **तं बालसुदं चरणं** तत्सर्वं बालश्रुतं मूर्खशास्त्रं, बालचरणं मूर्खचारित्रं। **हवेइ अप्पस्स विवरीदं** भवति बालश्रुतं बालचारित्रं भवति, कथंभूतं सत् ? आत्मनो निजशुद्धबुद्धैकस्वभावजीवतत्त्वाद्विपरीतं पराङ्मुखमात्मभावनारहितमिति भावार्थः।

वेरग्गपरो साहू परदव्वपरम्मुहो य सो होदि।
संसारसुहविरत्तो सगसुद्धसुहेसु अणुरत्तो ॥ १०१ ॥

वैराग्यपरः साधुः परद्रव्यपराङ्मुखश्च स भवति।
संसारसुखविरक्तः स्वकशुद्धसुखेषु अनुरक्तः ॥

वेरग्गपरो साहू वैराग्यपरः साधुः संसारशरीरभोगनिर्विण्णः सम्यग्दर्शनज्ञानानामाराधकत्वात्साधकः आत्मनामान्वर्थत्वात्। **परदव्वपरम्मुहो य सो होदि** य साधुः वैराग्यपरः स साधुः परद्रव्यपराङ्मुखो भवति इष्टवनितादिविरक्तो भवति। **संसारसुहविरत्तो** संसारस्य सुखं कर्पूरकस्तूरीचन्दनपुष्पमालापट्टकूलसुवर्णमणिमौक्तिकप्रासादपल्यङ्कनवयौवनयुवतिपुत्रसम्पदिष्टसंयोगारोग्यदीर्घायुर्यशःकीर्तिप्रभृतिकं तस्माद्विरक्तः।

सगसुद्धसुहेसु अणुरत्तो पूर्वोक्तात्मशरीरकर्मसमुत्पन्नस्वसुखादिरूपं निःकेवललक्षणस्वात्मस्वादवत् सुखेषु अनन्तज्ञानादिचतुष्टयेऽनुरक्तोऽनुरागवान् भवतीति भावार्थः ।

गुणगणविहूसियंगो हेयोपादेयणिच्छिदो साहू ।
झाणज्झयणे सुरदो सो पावइ उत्तमं ठाणं ॥ १०२ ॥

गुणगणविभूषिताङ्गः हेयोपादेयनिश्चितः साधुः ।
ध्यानाध्ययने सुरतः स प्राप्नोति उत्तमं स्थानम् ॥

गुणगणविहूसियंगो गुणानां ज्ञानध्यानतपोरत्नानां गणैः समूहैर्विभूषिताङ्गः शोभितशरीरः । **हेयोपादेयणिच्छिदो साहू** हेयं मिथ्यात्वरागादिकं उपादेयं ग्रहणीयं सम्यक्त्वरत्नादिकं तत्र निश्चितः निश्चयो यस्य स हेयोपादेयनिश्चितः साधूः रत्नत्रयात्मको मुनिः । **झाणज्झयणे सुरदो** ध्यानमार्तरौद्रध्यानद्वयपरित्यागेन धर्म्यशुक्लध्यानद्वये रतस्तत्परस्तन्निष्ठस्तदेकतानः । **सो पावइ उत्तमं ठाणं** य एवंविधः साधुः स प्राप्नोति, किं[१] उत्तमस्थानं नीचस्थान–शरीरलक्षणं हीनस्थानं परिहृत्य उत्तमस्थानं कर्मशरीरबन्धनरहितं त्वं मोक्षं प्राप्नोति लभते सिद्धः प्रसिद्धश्च भवतीति तात्पर्यार्थः ।

णविएहिं जं णविज्जइ झाइज्जइ झाइएहिं अणवरयं ।
थुव्वंतेहिं थुणिज्जइ देहत्थं किं पि तं मुणह ॥१०३॥

नतैः यत् नम्यते ध्यायते ध्यातैः अनवरतम् ।
स्तूयमानैः स्तूयते देहस्थं किमपि तत् मनुत ॥

णविएहिं जं णविज्जइ नतैर्देवेन्द्रादिभिर्यन्नम्यते । **झाइज्जइ झाइएहिं अणवरयं** ध्यायतेऽहर्निशं चिन्त्यते झाइएहिं–ध्यातैस्तीर्थंकरपर-

१ग पुस्तकेऽस्य स्थाने भावस्थानमिति पाठः ।

मदेवैर्यद्ध्यायते अहर्निशं शुक्लध्यानार्थं सर्वकर्मक्षयार्थं तत्पदप्राप्त्यर्थं अनुचिन्त्यते। थुव्वंतेहिं थुणिज्जइ स्तूयमानैस्तीर्थंकरपरमदेवैर्यत् स्तूयते ऽनन्तगुणोद्भावनतया प्रशस्यते। **देहत्थं किं पि तं मुणह** देहस्थं शरीरमध्ये स्थितं किमप्यपूर्वमनिर्वचनीयमासन्नभव्यप्राप्यं तद्योगिनां प्रसिद्धं तत्त्वं आत्मस्वरूपं मुणह–जानीत यूयं। यदुक्तं—

> तिलमध्ये यथा तैलं दुग्धमध्ये यथा घृतं।
> काष्ठमध्ये यथावन्हिर्देहमध्ये तथा शिवः ॥ १ ॥

शिवशब्दवाच्यम् आत्मतत्त्वमित्यर्थः।

इदानीं शास्त्रस्यान्ते मंगलनिमित्तं पंचपरमेष्ठिपुरस्सरं रत्नत्रयगर्भितमात्मतत्त्वमुद्भावयन्ति भगवन्तः —

अरुहा सिद्धायरिया उज्झाया साहू पंचपरमेट्ठी।
ते वि हु चिट्ठहि आदे तम्हा आदा हु मे सरणं ॥१०४॥

> अर्हन्तः सिद्धा आचार्या उपाध्यायाः साधवः पंचपरमेष्ठिनः।
> तेऽपि हु तिष्ठन्ति आत्मनि तस्मादात्मा हु मे शरणम् ॥

अरुहा सिद्धायरिया अर्हन्तः सिद्धा आचार्याश्च। **उज्झाया साहू पंचपरमेट्ठी** उपाध्यायाः, साधवः, एते पंचपरमेष्ठिनो देवा ममेष्टदेवता। **ते वि हु चिट्ठहि आदे** तेऽपि पंचपरमेष्ठिनो देवा अपि तिष्ठन्ति, क्व? आत्मनि निजजीवतत्त्वे। केवलज्ञानादिगुणविराजमानत्वात् सकलभव्यजीवसम्बोधनसमर्थत्वाच्चात्मा मामात्मायमर्हन् वर्तते। सर्वकर्मक्षयलक्षणमोक्षपदप्राप्तत्वात् निश्चयनयात्ममामात्मायमेव सिद्धः। दीक्षाशिक्षादायकत्वात् पंचाचाराचरणचारणप्रवीणत्वात् सूरिमन्त्रतिलकमन्त्रत्वाच्च ममात्मायमेवाचार्यपदभागी वर्तते। श्रुतज्ञानोपदेशकत्वात् स्वपरमतविज्ञायकत्वात् भव्यजीवसम्बोधकत्वात् ममात्मायमेवोपाध्यायः। सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्र

रत्नत्रयसाधकत्वात् सर्वद्वन्द्वविमुक्तत्वात् दीक्षाशिक्षायात्राप्रतिष्ठायनेकधर्म-कार्यनिश्चिन्ततयाऽऽत्मतत्त्वसाधकतया ममात्मायमेव सर्वसाधुर्वर्तते इति पंचपरमेष्ठिन आत्मनि तिष्ठन्तीति कारणात्। **तम्हा आदा हु मे सरणं** तस्मात्कारणादात्मा हु स्फुटं मे मम शरणं संसारदुःखनिवारकत्वादर्तिम-थनसमर्थं मम शरणं गतिरिति।

सम्मत्तं सण्णाणं सच्चारित्तं हि सत्तवं चेव।
चउरो चिट्ठहि आदे तह्मा आदा हु मे सरणं॥१०५॥

सम्यक्त्वं सज्ज्ञानं सच्चारित्रं हि सत्तपश्चैव।
चत्वारः तिष्ठन्ति आत्मनि तस्मादात्मा हु मे शरणम्॥

सम्मत्तं सण्णाणं सम्यग्दर्शनरत्नं सज्ज्ञानं समीचीनमबाधितं पूर्वापरविरोधरहितं सम्यग्ज्ञानं। **सच्चारित्तं हि सत्तवं चेव** सच्चारित्रं सम्यक्चारित्रं पापक्रियाविरमणलक्षणं परमादासीनतास्वरूपं च सम्यक्चारित्रं, सत्तव—समीचीनं तपः इच्छानिरोधलक्षणं चेति। **चउरो चिट्ठहि आदे** एते चत्वारोऽपि परमाराधनापदार्थास्तिष्ठन्ति, क तिष्ठन्ति? आत्मनि निजशुद्धबुद्धैकस्वभावजीवतत्त्वे तिष्ठन्ति। यदात्मनं श्रद्धानमात्मैव करोति, आत्मनो ज्ञानमात्मैव निश्चये, आत्मना सहैकलोलीभावमात्मैव कुरुते, आत्मैवात्मनि तपति, केवलज्ञानैश्वर्यं प्राप्नोति चतुर्भिरपि प्रकारैरात्मा-त्मानमेवाराधयति। **तम्हा आदा हु मे सरणं** तस्मादात्मैव मम शरण-मर्तिमथनसमर्थं संसारार्तिनिषेधकत्वात् आत्मैव मे गतिः, मंगलं मल-गालने कर्ममलकलङ्कनिषेधने मंगस्य सुखस्य दाने च समर्थत्वादात्मैव परमं मंगलमिति भावार्थः।

एवं जिणपण्णत्तं मोक्खस्स य पाहुडं सुभत्तीए।
जो पढइ सुणइ भावइ सो पावइ सासयं सोक्खं॥१०६॥

एव जिनप्रज्ञप्त मोक्षस्य च प्राभृत सुभक्त्या ।
य पठति शृणोति भावयति स प्राप्नोति शाश्वत सौख्यम् ॥

एवं जिणपण्णत्तं एवममुना प्रकारेण जिनप्रज्ञप्त सर्वज्ञवीतराग-भाषितं । **मोक्खस्स य पाहुडं सुभत्तीए** मोक्षस्य परमनिर्वाणपदस्य प्राभृत सारमिद शास्त्र सुष्ठु-अतिशयेन भक्त्या परमधर्मानुरागेण । **जो पढइ सुणइ भावइ** य आसन्नभव्यो जीव पठति जिह्वाग्रे करोति, यश्च भव्यजीवः शृणोत्याकर्णयति, यश्च मोक्षाभिलाषुको जीवो भावयति एत-च्छास्त्र यस्मै रोचते । **सो पावइ सासयं सोक्खं** स जीव परममु-नीश्वर[१], प्राप्नोति लभते, शाश्वतमविनश्वरं, सौख्य निजात्मोत्थ परमानन्द-लक्षण सौख्य ।

नानाशास्त्रमहार्णवैकतरणे यद्बुद्धिरिद्धश्रिया
पूर्णा पुण्यर विप्रमोदजननी सारैकनौकायते ।
यत्पादाम्बुजयुग्ममाप्य मुनिभिर्भृङ्गैरिवाचीयते
स श्रीमान् श्रुतसागरो विजयतामेनस्तमोऽहर्पतिः ॥१॥

श्रीमत्स्वामिसमन्तभद्रममलं श्रीकुन्दकुन्दाह्वय
यो धीमानकलङ्कभट्टमपि च श्रीमत्प्रभेन्दुप्रभुं ।
विद्यानन्दमपीक्षितु कृतमनाः श्रीपूज्यपादं गुरु
वीक्षेत श्रुतसागर सविनयात् त्रैविद्यधीमन्नुत ॥ २ ॥

श्रीमल्लिभूषणगुरोर्वचनादलंघ्या-
न्मुक्तिश्रिया सह समागममिच्छतेय ।
षट्प्राभृते सकलसंशयशत्रुहन्त्री
टीका कृताऽकृतधियां श्रुतसागरेण ॥ ३ ॥

---

१ पूर्वापुण्य स. ।

इति श्रीपद्मनन्दिकुन्दकुन्दाचार्यवक्रग्रीवाचार्यैलाचार्यगृध्रपिच्छाचार्यनामपञ्चकविराजितेन चतुरङ्गुलाकाशगमनर्द्धिना पूर्वविदेहपुण्डरीकिणीनगरवन्दितसीमन्धरापरनामस्वयंप्रभजिनेन तच्छ्रुतज्ञानसम्बोधितभरतवर्षभव्यजीवेन श्रीजिनचन्द्रसूरिभट्टारकपट्टाभरणभूतेन कलिकालसर्वज्ञेन विरचिते षट्प्राभृतग्रन्थे सर्वमुनिमण्डलीमण्डितेन कलिकालगौतमस्वामिना श्रीपद्मनन्दिदेवेन्द्रकीर्ति-विद्यानन्दिपट्टभट्टारकेण श्रीमल्लिभूषणेनानुमतेन सकलविद्वज्जनसमाजसम्मानितेनोभयभाषाकविचक्रवर्तिना श्रीविद्यानन्दिगुर्वन्तेवासिना सूरिवरश्रीश्रुतसागरेण विरचिता मोक्षप्राभृतटीका—

परिसमाप्ता।



१ अस्मादग्रे क. पुस्तकेऽयं पाठो वर्तते न तु ख. पुस्तके । षष्ठः परिच्छेदः । शुभं भवतु । श्रीरस्तु । मङ्गलमस्तु । श्रीविद्यानन्दिस्वामि भट्टारकश्रीमल्लिभूषण सूरिवरश्रीश्रुतसागर मम शुभानि कुर्वन्तु । श्लोकसङ्ख्या ६००० ज्ञातव्या ।

लिंगप्राभृतं ।



काऊण णमोकारं अरहंताणं तहेव सिद्धाणं ।
वोच्छामि समणलिंगं पाहुडसत्थं समासेण ॥ १ ॥

कृत्वा नमस्कारं अर्हतां तथैव सिद्धानां ।
वक्ष्यामि श्रमणलिंगं प्राभृतशास्त्रं समासेन ॥

धम्मेण होइ लिंगं ण लिंगमत्तेण धम्मसंपत्ती ।
जाणेहि भावधम्मं किं ते लिंगेण कायव्वो ॥ २ ॥

धर्मेण भवति लिंगं न लिंगमात्रेण धर्मसंप्राप्तिः ।
जानीहि भावधर्मं किं ते लिंगेन कर्तव्यं ॥

जो पावमोहिदमदी लिंगं घेत्तूण जिणवरिंदाणं ।
उवहसई लिंगि भावं लिंगं णासेदि लिंगीणं ॥ ३ ॥

य पापमोहितमतिः लिंगं गृहीत्वा जिनवरेन्द्राणां ।
उपहसति लिंगी भावं लिंगं नाशयति लिंगिनां ॥

णच्चदि गायदि तावं वायं वाएदि लिंगरूवेण ।
सो पावमोहिदमदी तिरिक्खजोणी ण सो समणो ॥ ४ ॥

नृत्यति गायति तावत् वाद्यं [१] वादयति लिंगरूपेण ।
स पापमोहितमतिः तिर्यग्योनिः न स श्रमणः ॥

सम्मूहदि रक्खेदि य अट्टं झाएदि बहुपयत्तेण ।
सो पावमोहिदमदी तिरिक्खजोणी ण सो समणो ॥ ५ ॥

---

१ द पु । २ स पु. ।

समूहाति रक्षति च आर्तं ध्यायति बहुप्रयत्नेन ।
स पापमोहितमति तिर्यग्योनि न स श्रमण ॥

कलहं वादं जूवा णिच्चं बहुमाणगव्विओ लिंगी ।
वच्चदि णरयं पाओ करणमणो लिंगिरूवेण ॥ ६ ॥

कलह वाद द्यूत नित्य बहुमानगर्वितः लिंगी ।
व्रजति नरकं पापः कुर्वाण लिंगिरूपेण ॥

पाओपहदभावो सेवदि य अबह्मु लिंगिरूवेण ।
सो पावमोहिदमदी हिंडदि ससारकातारे ॥ ७ ॥

पापोपहतभाव सेवते च अब्रह्म लिंगिरूपेण ।
स पापमोहितमति हिंडते संसारकान्तारे ॥

दंसणणाणचरित्ते उवहाणे जइ ण लिंगरूवेण ।
अट्टं झायदि झाणं अणंतससारिओ होदी ॥ ८ ॥

दर्शनज्ञानचारित्राणि उपधानानि यदि न लिंगरूपेण ।
आर्तं ध्यायति ध्यान अनन्तसंसारीको भवति ॥

जो जोडदि विव्वाहं किसिकम्मवणिज्जजीवघादं च ।
वच्चदि णरयं पाओ करमाणो लिंगिरूवेण ॥ ९ ॥

य विवाह युनक्ति कृषिकर्मवाणिज्यजीवघातं च ।
व्रजति नरकं पाप कुर्वाण लिंगिरूपेण ॥

चोराण समाएण य जुद्ध विवाहं च तिव्वकम्मेहिं ।
जतेण दिव्वमाणो गच्छदि लिंगी णरयवास ॥ १० ॥

चोराणां मिथ्यावादिनां युद्ध विवाद च तीव्रकर्मभि ।
यंत्रेण दीव्यमान गच्छति लिंगी नरकवास ॥

१ क्रीडमान ।

दंसणणाणचरित्ते तवसंजमणियमणिच्चकम्मम्मि ।
पीडयदि वट्टमाणो पावदि लिंगी णरयवासं ॥ ११ ॥
दर्शनज्ञानचारित्रेषु तपःसंयमनियमनित्यकर्मणि ।
पीडयति वर्तमानः प्राप्नोति लिंगी नरकवासं ॥

कंदप्प (प्पा) इय वट्टइ करमाणो भोयणेसु रसगिद्धिं ।
माई लिंगविवाई तिरिक्खजोणी ण सो समणो ॥ १२ ॥
कंदर्पादिके वर्तते कुर्वाणः भोजनेषु रसगृद्धिं ।
मायावी लिंगव्यपायी तिर्यग्योनिः न स श्रमणः ॥

धावदि पिंडणिमित्तं कलहं काऊण भुंजदे पिंडं ।
अवरुपरूई संतो जिणमग्गि ण होइ सो समणो ॥ १३ ॥
धावति पिंडनिमित्तं कलहं कृत्वा भुंक्ते पिंडं ।
अपरप्ररूपी सन् जिनमार्गी न भवति स श्रमणः ॥

गिण्हदि अदत्तदाणं परणिंदा वि य परोक्खदूसेहिं ।
जिणलिंगं धारंतो चोरेण व होइ सो समणो ॥ १४ ॥
गृह्णाति अदत्तदानं परनिन्दामपि च परोक्षदूषणैः ।
जिनलिंगं धारयन् चौरेणेव भवति स श्रमणः ॥

उप्पडदि पडदि धावदि पुढवीओ खणदि लिंगरूवेण ।
इरियावह धारंतो तिरिक्खजोणी ण सो समणो ॥ १५ ॥
उत्पतति पतति धावति पृथिवीं खनति लिंगरूपेण ।
ईर्यापथं धारयन् तिर्यग्योनिः [redacted] स श्रमणः ॥

बध नीरंजा सन् सस्यं खण्डयति तथा च वसुधामपि।
छिनत्ति तरुगणं बहुश तिर्यग्योनि न स श्रमण ॥

रागो करेदि णिच्चं महिलावग्गं परं च दूसेदि।
दंसणणाणविहीणो तिरिक्खजोणी ण सो समणो ॥ १७ ॥

राग करोति नित्य महिलावर्गं परं च दूषयति।
दर्शनज्ञानविहीन तिर्यग्योनि न स श्रमण ॥

पव्वज्जहीणगहिणं णेहं सीसम्मि वट्टदे बहुसो।
आयारविणयहीणो तिरिक्खजोणी ण सो समणो ॥ १८ ॥

प्रव्रज्याहीनगृहिणि स्नेह शिष्ये वर्तते बहुश।
आचारविनयहीन तिर्यग्योनि न स श्रमण ॥

एवं सहिओ मुणिवर संजदमज्झम्मि वट्टदे णिच्चं।
बहुलं पि जाणमाणो भावविणट्ठो ण सो समणो ॥ १९ ॥

एव सहित मुनिवर सयतमध्ये वर्तते नित्यं।
बहुलमपि जानान भावविनष्टो न स श्रमण ॥

दंसणणाणचरित्ते महिलावग्गम्मि देहि वीसट्ठो।
पासत्थ वि हु णियट्ठो भावविणट्ठो ण सो समणो ॥ २० ॥

पुंश्चलीगृहे य भुक्ते नित्य संस्तौति पुष्णाति पिंड ।
प्राप्नोति बालस्वभावं भावविनष्टो न स श्रवण ॥

इय लिंगपाहुडमिणं सव्वं बुद्धेहि देसियं धम्मं ।
पालेहि कट्ठसहियं सो गाहदि उत्तम ठाणं ॥ २२ ॥

इति लिंगप्राभृतमिद सर्वं बुद्धै देशित धर्मं ।
पालयति कष्टसहित स गाहते उत्तमं स्थानं ॥

इति श्रीकुन्दकुन्दाचार्यविरचितलिंगप्राभृतक
समाप्तम् ।

शीलप्राभृतं ।



वीरं विसालणयणं रत्तुप्पलकोमलस्समप्पायं ।
तिविहेण पणमिऊणं सीलगुणाणं णिसामेह ॥ १ ॥

वीरं विशालनयनं रक्तोत्पलकोमलसमपादम् ।
त्रिविधेन प्रणम्य शीलगुणान् निशाम्यामि ॥

सीलस्स य णाणस्स य णत्थि विरोहो बुधेहि णिद्दिट्ठो ।
णवरि य सीलेण विणा विसया णाणं विणासंति ॥ २ ॥

शीलस्य च ज्ञानस्य च नास्ति विरोधो बुधैर्निर्दिष्टः ।
नवरि च शीलेन विना विषया ज्ञानं विनाशयन्ति ॥

दुक्खे णज्जइ णाणं णाणं णाऊण भावणा दुक्खं ।
भावियमई य जीवो विसएसु विरज्जए दुक्खं ॥ ३ ॥

दुःखेन ज्ञायते ज्ञानं ज्ञानं ज्ञात्वा भावना दुःखं ।
भावितमतिश्च जीवो विषयेषु विरज्यति दुःखं ॥

ताव ण जाणदि णाणं विसयबलो जाव वट्टए जीवो ।
विसए विरत्तमेत्तो ण खवेइ पुराइयं कम्मं ॥ ४ ॥

तावन्न जानाति ज्ञानं विषयबलः यावत् वर्तते जीवः ।
विषये विरक्तमात्रः न क्षिपते पुराणकं कर्म ॥

---

१ प्पाव मूल पाठ ।

२ सयराह नवरि य दुत्ति झत्ति सहसत्ति इक्कसरिअं च ।
अविहाविअं इक्कवए अतक्किय तक्खण सहसा ॥ १ ॥

३ विवज्जए पु ।

णाणं चरित्तहीणं लिंगग्गहणं च दंसणविहूणं ।
संजमहीणो य तवो जइ चरइ णिरत्थयं सव्वं ॥ ५ ॥
ज्ञानं चारित्रहीनं लिंगग्रहणं च दर्शनविहीनं ।
संयमहीनश्च तपः यदि चरति निरर्थकं सर्वं ॥
णाणं चरित्तसुद्धं लिंगग्गहणं च दंसणविसुद्धं ।
संजमसहिदो य तवो थोओ वि महाफलो होइ ॥ ६ ॥
ज्ञानं चारित्रशुद्धं लिंगग्रहणं च दर्शनविशुद्धं ।
संयमसहितश्च तपः स्तोकमपि महाफलं भवति ॥
णाणं णाऊण णरा केई विसयाइभावसंसत्ता ।
हिंडंति चादुरगदिं विसएसु विमोहिया मूढा ॥ ७ ॥
ज्ञानं ज्ञात्वा नराः केचित् विषयादिभावसंसक्ताः ।
हिण्डन्ते चातुर्गतिं विषयेषु विमोहिता मूढाः ॥
जे पुण विसयविरत्ता णाणं णाऊण भावणासहिदा ।
छिंदंति चादुरगदिं तवगुणजुत्ता ण संदेहो ॥ ८ ॥
ये पुनर्विषयविरक्ता ज्ञानं ज्ञात्वा भावनासहिताः ।
छिन्दन्ति चातुर्गतिं तपोगुणयुक्ता न सन्देहः ॥
जह कंचणं विसुद्धं धम्मइयं खंडियलवणलेवेण ।
तह जीवो वि विसुद्धं णाणविसलिलेण विमलेण ॥ ९ ॥
यथा कंचनं विशुद्धं धमत् खडिकलवणलेपेन ।
तथा जीवोऽपि विशुद्धं ज्ञानसलिलेन विमलेन ॥
णाणस्स णत्थि दोसो कापुरिसाणो वि मंदबुद्धीणो ।
जे णाणगव्विदा... होऊणं विसएसु रज्जंति ॥ १० ॥
ज्ञानस्य नास्ति दोषः कापुरुषस्यापि मन्दबुद्धेः ।
ये ज्ञानगर्विता......भूत्वा विषयेषु रज्यन्ति ॥

णाणेण दंसणेण य तवेण चरिएण सम्मसहिएण ।
होहदि परिणिव्वाणं जीवाणं चरित्तसुद्धाणं ॥ ११ ॥

ज्ञानेन दर्शनेन च तपसा चारित्रेण सम्यक्त्वसहितेन ।
भविष्यति परिनिर्वाणं जीवानां चारित्रशुद्धानां ॥

सीलं रक्खंताणं दंसणसुद्धाण दिढचरित्ताणं ।
अत्थि धुवं णिव्वाणं विसएसु विरत्तचित्ताणं ॥ १२ ॥

शीलं रक्षतां दर्शनशुद्धानां दृढचारित्राणां ।
अस्ति ध्रुवं निर्वाणं विषयेषु विरक्तचित्तानां ॥

विसएसु मोहिदाणं कहियं मग्गं पि इट्ठदरिसीणं ।
उम्मग्गं दरिसीणं णाणं पि णिरत्थयं तेसिं ॥ १३ ॥

विषयेषु मोहितानां कथितो मार्गोऽपि इष्टदर्शिनां ।
उन्मार्गं दर्शिनां ज्ञानमपि निरर्थकं तेषां ॥

कुमयकुसुदपसंसा जाणंता बहुविहाइं सत्थाइं ।
सीलवदणाणरहिदा ण हु ते आराधया होंति ॥ १४ ॥

कुमतकुश्रुतप्रशंसा (सका) जानन्तो बहुविधानि शास्त्राणि।
शीलव्रतज्ञानरहिता न हु ते आराधका भवन्ति ॥

रूवसिरिगव्विदाणं जुव्वणलावण्णकंतिकलिदाणं ।
सीलगुणवज्जिदाणं णिरत्थयं माणुसं जम्मं ॥ १५ ॥

रूपश्रीगर्वितानां यौवनलावण्यकान्तिकलितानां ।
शीलगुणवर्जितानां निरर्थकं मानुषं जन्म ॥

वायरणछंदवइसेसियववहारणायसत्थेसु ।
वेदेऊण सुयतेसु य ते सुय ? उत्तमं सीलं ॥ १६ ॥

व्याकरणछन्दोवैशेषिकव्यवहारन्यायशास्त्रेषु ।
विदित्वा श्रुतेषु च तेषु श्रुतं उत्तमं शीलं ॥

सीलगुणमंडिदाणं देवा भवियाण वल्लहा होंति ।
सुदपारयपउरा णं दुस्सीला अप्पिला लोए ॥ १७ ॥

शीलगुणमण्डितानां देवा भव्यानां वल्लभा भवन्ति ।
श्रुतपारगप्रचुराः दुःशीला अल्पकाः लोके ॥

सव्वे वि य परिहीणा रूवविरूवा वि वदिदसुवया वि ।
सीलं जेसु सुसीलं सुजीविदं माणुसं तेसिं ॥ १८ ॥

सर्वेऽपि च परिहीना रूपविरूपा अपि पतितसुवयसोऽपि ।
शीलं येषु सुशीलं सुजीवितं मानुष्यं तेषाम् ॥

जीवदया दम सच्चं अचोरियं बंभचेरसंतोसे ।
सम्मद्दंसण णाणं तओ य सीलस्स परिवारो ॥ १९ ॥

जीवदया दमः सत्यं अचौर्यं ब्रह्मचर्यसन्तोषौ ।
सम्यग्दर्शनं ज्ञानं तपश्च शीलस्य परिवारः ॥

सीलं तवो विसुद्धं दंसणसुद्धी य णाणसुद्धी य ।
सीलं विसयाण अरी सीलं मोक्खस्स सोपाणं ॥ २० ॥

शीलं तपो विशुद्धं दर्शनशुद्धिश्च ज्ञानशुद्धिश्च ।
शीलं विषयाणामरिः शीलं मोक्षस्य सोपानम् ॥

जह विसयलुद्ध विसदो तह थावरजंगमाण घोराणं ।
सव्वेसिं पि विणासदि विसयविसं दारुणं होई ॥ २१ ॥

यथा विषयलुब्धो विषदः तथा स्थावरजङ्गमान् घोरान् ।
सर्वानपि विनाशयति विषयविषं दारुणं भवति ॥

वारि एक्कम्मि य जम्मे सरिज्ज विसवेयणाहदो जीवो ।
विसयविसपरिहया णं भमंति संसारकांतारे ॥ २२ ॥

---

१ "क्वचिद्द्वितीयादेः" इत्यनेन द्वितीयास्थाने षष्ठी । द्वितीयादिविभक्तीनां स्थाने क्वचित् षष्ठी स्यादिति सूत्रार्थः । २ "अत्यादावपि" इत्यनेन द्वितीयास्थाने सप्तमी । द्वितीयातृतीययोः स्थाने क्वचित् सप्तमी भवतीति सूत्रार्थः । (सं)

वारं एक जन्म गच्छेत् विषवेदनाहतो जीवः ।
विषयविषपरिहता भ्रमन्ति संसारकान्तारे ॥

णरएसु वेयणाओ तिरिक्खए माणुएसु दुक्खाइं ।
देवेसु वि दोहग्गं लहंति विसयासता जीवा ॥ २३ ॥

नरकेषु वेदनाः तिरश्चि मानवेषु दुःखानि ।
देवेष्वपि दौर्भाग्यं लभन्ते विषयासक्ता जीवाः ॥

तुसधम्मंतबलेण य जह दव्वं ण हि णराण गच्छेदि ।
तवसीलमंत कुसली खवंति विसयं विसय व खलं ॥ २४ ॥

तुषध्मद्बलेन च यथा द्रव्यं न हि नराणां गच्छति ।
तपःशीलमन्तः कुशलाः क्षिपन्ते विषयं विषमिव खलं १ ॥

वट्टेसु य खण्डेसु य भद्देसु य विसालेसु अंगेसु ।
अंगेसु य पप्पेसु य सव्वेसु य उत्तमं सीलं ॥ २५ ॥

वृत्तेषु च खण्डेषु च भद्रेषु च विशालेषु अंगेषु ।
अंगेषु च प्राप्तेषु सर्वेषु च उत्तमं शीलं ॥

पुरिसेण वि सहियाए कुसमयमूढेहि विसयलोलेहिं ।
संसारे भमिदव्वं अरयघरट्टं व भूदेहिं ॥ २६ ॥

पुरुषेणापि सहितेन कुसमयमूढैः विषयलोलैः ।
संसारे भ्रमितव्यं अरहट्टघरट्टं इव भूतैः ॥

आदेहि कम्मगंठी आवद्धा विसयरायमोहेहिं ।
तं छिंदंति कयत्था तवसंजमसीलयगुणेण ॥ २७ ॥

आत्मनि हि कर्मग्रंथिः आबद्धा विषयरागमोहाभ्यां ।
तां छिन्दन्ति कृतार्थाः तपःसंयमशीलगुणेन ॥

---

१ मु. पु.।

उदधी व रदणभरिदो तवविणयंसीलदाणरयणाणं ।
सोहेंतो य ससीलो णिव्वाणमणुत्तरं पत्तो ॥ २८ ॥

उदधिरिव रत्नभृतः तपोविनयशीलदानरत्नानाम् ।
शोभेत सशीलः निर्वाणमनुत्तरं प्राप्तः ॥

सुणहाण गद्दहाण य गोपसुमहिलाण दीसदे मोक्खो ।
जे[1] सोधंति चउत्थं पिच्छिज्जंता जणेहि सव्वेहिं ॥ २९ ॥

शुनां गर्दभानां च गोपशुमहिलानां दृश्यते मोक्षः ।
ये साधयन्ति चतुर्थं दृश्यमाना जनैः सर्वैः ॥

जइ विसयलोलएहिं णाणीहि हविज्ज साहिदो मोक्खो ।
तो सो सुरत्तपुत्तो दसपुव्वीओ वि किं गदो णरयं ॥ ३० ॥

यदि विषयलोलैः ज्ञानिभिः भवेत् साधितो मोक्षः ।
तर्हि सः सात्यकिपुत्रः दशपूर्विकः किं गतो नरकम् ॥

जइ णाणेण विसोहो सीलेण विणा बुहेहिं णिद्दिट्ठो ।
दसपुव्वियस्स य भावो ण किं पुण णिम्मलो जादो ॥ ३१ ॥

यदि ज्ञानेन विशुद्धः शीलेन विना बुधैर्निर्दिष्टः ।
दशपूर्विणः च भावो न किं पुनः निर्मलो जातः ॥

जाए विसयविरत्तो सो गमयदि णरयवेयणापउरा ।
ता लेहदि अरुहपयं भणियं जिणवड्ढमाणेण ॥ ३२ ॥

यः विषयविरक्तः सः गमयति नरकवेदनां प्रचुराम् ।
तत् लभते अर्हत्पदं भणितं जिनवर्धमानेन ॥

एवं बहुप्पयारं जिणेहि पच्चक्खणाणदरिसीहिं ।
सीलेण य मोक्खपयं अक्खातीदं च लोयणाणेहि ॥ ३३ ॥

---

१ जो २ णा । ३ हद ।

एवं बहुप्रकार जिनैः प्रत्यक्षज्ञानदर्शिभिः ।
शीलेन च मोक्षपदं अक्षातीतं च लोकज्ञानैः ॥

सम्मत्तणाणदंसणतववीरियपंचयारमप्पाणं ।
जलणो वि पवणसहिदो डहंति पोराणयं कम्मं ॥ ३४ ॥

सम्यक्त्वज्ञानदर्शनतपोवीर्यपंचाचारा आत्मना ।
ज्वलनोऽपि पवनसहितः दहन्ति पौराणकं कर्म ॥

णिद्दड्ढअट्ठकम्मा विसयविरत्ता जिदिंदिया धीरा ।
तवविणयसीलसहिदा सिद्धा सिद्धिगदिं पत्ता ॥ ३५ ॥

निर्दग्धाष्टकर्माणः विषयविरक्ता जितेन्द्रिया धीराः ।
तपोविनयशीलसहिताः सिद्धाः सिद्धिगतिं प्राप्ताः ॥

लावण्णसीलकुसलो जम्ममहीरुहो जस्स सवणस्स ।
सो सीलो स महप्पा भमित्थ गुणवित्थरं भविए ॥ ३६ ॥

लावण्यशीलकुशलः जन्ममहीरुहः यस्य श्रवणस्य ।
स शीलः स महात्मा भ्रमेत् गुणविस्तारं भव्ये ॥

णाणं झाणं जोगो दंसणसुद्धी य वीरियावत्तं ।
सम्मत्तदंसणेण य लहंति जिणसासणे बोहिं ॥ ३७ ॥

ज्ञानं ध्यानं योगो दर्शनशुद्धिश्च वीर्यत्वं ।
सम्यक्त्वदर्शनेन च लभन्ते जिनशासने बोधिं ॥

जिणवयणगहिदसारा विसयविरत्ता तवोधणा धीरा ।
सीलसलिलेण ण्हादा ते सिद्धालयसुहं जंति ॥ ३८ ॥

जिनवचनगृहीतसारा विषयविरक्ताः तपोधना धीराः ।
शीलसलिलेन स्नाताः ते सिद्धालयसुखं यान्ति ॥

सव्वगुणखीणकम्मा सुहदुक्खविवज्जिदा मणविसुद्धा ।
पप्फोडिय कम्मरया हवंति आराहणापयडा ॥ ३९ ॥

सर्वगुणक्षीणकर्माणः सुखदुःखविवर्जिता मनोविशुद्धाः ।
प्रस्फुटितकर्मरजसः भवन्ति आराधनाप्रकटाः ॥

अरहंते सुहभत्ती सम्मत्तं दंसणेण सुविसुद्धं ।
सीलं विसयविरागो णाणं पुण केरिसं भणियं ॥ ४० ॥

अर्हति शुभभक्तिः सम्यक्त्वं दर्शनेन सुविशुद्धं ।
शीलं विषयविरागः ज्ञानं पुनः कीदृशं भणितं ॥

इति श्रीकुन्दकुन्दाचार्यविरचितशीलप्राभृतं
समाप्तं ।

रयणसारः ।



णमिऊण वड्ढमाण परमप्पाणं तियेणं सुद्धेण ।
वोच्छामि रयणसार सायारणयारधम्मोणं ॥ १ ॥

नत्वा वर्धमान परमात्मान त्रिकया शुद्धया ।
वक्ष्यामि रत्नसार सागारानगारधर्मयो ॥

पुव्वं जिणेहि भणियं जहट्ठियं गणहरेहि वित्थरियं ।
पुव्वायरियक्कमेणं जं तं वोलेइ सद्दिट्ठी ॥ २ ॥

पूर्वं जिनै भणित यथास्थित गणधरै विस्तारित ।
पूर्वाचार्यक्रमेण यत्तत् भाषते सद्दृष्टि ।

मदिसुदणाणबलेण दु मच्छंदं वोलेए जिणुत्तमिदि ।
जो सो होइ कुदिट्ठी ण होइ जिणमग्गलग्गरयो ॥ ३ ॥

मतिश्रुतज्ञानबलेन तु स्वच्छन्द भाषते जिनोक्तमिति ।
य स भवति कुदृष्टिर्न भवति जिनमार्गलग्नरत ॥

सम्मत्तरयणसार मोरुमहारुक्खमूलमिदि भणियं ।
तं जाणिज्जइ णिच्छयववहारसरूवदोभेदं ॥ ४ ॥

सम्यक्त्वरत्नसार मोक्षमहावृक्षमूलमिति भणित ।
तज्ज्ञायते निश्चयव्यवहारस्वरूपद्विभेद ॥

भयवसणमलविवज्जिय संसारसरीरभोगणिव्विण्णो ।
अट्ठगुणंगसमग्गो दंसणसुद्धो हु पंचगुरुभत्तो ॥ ५ ॥

---

१ जिण तिसुद्धेण ख पुस्तके पाठ । २ धम्मीण ख । ३ क्रमत त ख. ४ बोल्लइ जिणद्दिट्ठ ख । ५ जाणिज्जउ ख. । ६ वी ख । ७ य ख ।

भयव्यसनमलविवर्जित संसारशरीरभोगनिर्विण्ण ।
अष्टगुणाङ्गसमग्र दर्शनशुद्ध हि पंचगुरुभक्त ॥

णियसुद्धप्पणुरत्तो बहिरप्पावत्थवज्जिओ णाणी ।
जिणमुणिधम्मं मण्णइ गयदुक्खी होइ सद्दिट्ठी ॥ ६ ॥

निजशुद्धात्मानुरक्त बहिरात्मावस्थावर्जित ज्ञानी ।
जिनमुनिधर्मं जानाति गतदुःखो भवति सद्दृष्टि ॥

मय मूढमणायदणं संकाइ वसण भयमईयार ।
जेसिं चउदालेदे ण संति ते हुंति सद्दिट्ठी ॥ ७ ॥

मदो मूढमनायतनं शङ्कादि व्यसनं भयमतिचारम् ।
येषां चतुश्चत्वारिंशति एतानि न सन्ति ते भवन्ति सद्दृष्टयः ॥

उंहयगुणवसणभयमलवेरग्गइचारभत्तिविग्घं वा ।
एदे सत्तत्तरिया दंसणसावयगुणा भणिया ॥ ८ ॥[1]

उभयगुणव्यसनभयमलवैराग्यातिचारभक्तिविघ्नानि वा ।
एते सप्तति दर्शनश्रावकगुणा भणिता ॥

देवगुरुसमयभत्ता संसारसरीरभोयपरिचत्ता ।
रयणत्तयसंजुत्ता ते मणुवा सिवसुहं पत्ता ॥ ९ ॥

देवगुरुसमयभक्ता संसारशरीरभोगपरित्यक्ता ।
रत्नत्रयसंयुक्तास्ते मनुष्या शिवसुख प्राप्ता ॥

दाणं पूजा सीलं उववासं बहुविहं पि खवणं पि ।
सम्मजुदं मोक्खसुहं सम्म विणा दीहसंसारं[2] ॥ १० ॥

दानं पूजा शीलं उपवास बहुविधमपि क्षमणमपि ।
सम्यक्त्वयुत मोक्षसुख सम्यक्त्वं विना दीर्घसंसारं ॥

---

१ नेयं गाथा ख पुस्तके । २ घा ख । ग ३ ग ख ।

दाणं पूजामुक्खं सावयधम्मे ण सावयों तेण विणा ।
झाणज्झयणं मुक्खं जइधम्मे तं विणा तहा सो वि ॥११॥

दान पूजा मुख्या श्रावकधर्मे न श्रावकाः तेन विना ।
ध्यानाध्ययनं मुख्यं यतिधर्मे ■ विना तथा सोऽपि ॥

दाणु ण धम्मु ण चागु ण भोगु ण बहिरप्प जो पयंगो सो ।
लोहकसायग्गिमुहे पडिउं मरिउं न संदेहो ॥ १२ ॥

दान न धर्म. न त्यागो न भोगो न बहिरात्मा यः पतङ्गः ।
स लोभकषायाग्निमुखे पतित मृतः न सन्देह ॥

जिणपूजा मुणिदाणं करेइ जो देइ सत्तिरूवेण ।
सम्माइट्ठी सावयधम्मी सो होइ मोक्खमग्गरवो ॥ १३ ॥

जिनपूजा मुनिदानं करोति यो ददादि शक्तिरूपेण ।
सम्यग्दृष्टिः श्रावकधर्मी स भवति मोक्षमार्गरत ॥

पूयां (य) फलेण तिलोके सुरपुज्जो हवेइ सुद्धमणो ।
दाणफलेण तिलोए सारसुहं भुंजदे णियदं ॥ १४ ॥

पूजाफलेन त्रिलोके सुरपूज्यो भवेत् शुद्धमना ।
दानफलेन त्रिलोके सारसुखं भुंक्ते नियत ॥

दाणं भोयणमेत्तं दिण्णइ धण्णो हवेइ सायारो ।
पत्तापत्तविसेसं सदंसणे किं वियारेण ॥ १५ ॥

दानं भोजनमात्रं ददाति धन्यो भवति सागार. ।
पात्रापात्रविशेष सद्दर्शने किं विचारेण ॥

दिण्णइ सुपत्तदाणं विसेसतो होइ भोगसग्गमही ।
णिव्वाणसुहं कमसो णिद्दिट्ठं जिणवरिंदेहिं ॥ १६ ॥

---

१ धम्मो. ख. २ सावगो । ख. ३-४ यो. ख । ५ पूजा. ख. । ६ तिलोबकेसुर. ख. । ७-८ देण्णइ ख । ९ दो ।

ददाति सुपात्रदानं विशेषतः भवति भोगस्वर्गमही।
निर्वाणसुखं क्रमशः निर्दिष्टं जिनवरेन्द्रैः ॥

खेत्तविसेसे काले वविय सुबीयं फलं जहा विउलं।
होइ तहा तं जाणइ पत्तविसेसेसु दाणफलं ॥ १७॥

क्षेत्रविशेषे काले वपितसुबीजं फलं यथा विपुलं।
भवति तथा तज्जानीहि पात्रविशेषे सुदानफलं ॥

इह णियसुवित्तबीयं जो ववइ जिणुत्तसत्तखेत्तेसु।
सो तिहुवणरज्जफलं भुंजदि कल्लाणपंचफलं ॥ १८॥

इह निजसुवित्तबीजं यो वपति जिनोक्तसप्तक्षेत्रेषु।
स त्रिभुवनराज्यफलं भुनक्ति कल्याणपंचफलं ॥

मादुपिदुपुत्तमित्तकलत्तधणधण्णवत्थुवाहणविसयं।
संसारसारसोक्खं सव्वं जाणउ सुपत्तदाणफलं ॥ १९॥

मातृपितृपुत्रमित्रकलत्रधनधान्यवस्तुवाहनविषयं।
संसारसारसौख्यं सर्वं जानीहि सुपात्रदानफलं ॥

सत्तंगरज्जणवणिहिभंडारसडंगबलचउद्दहरयणं।
छण्णवदिसहस्सिच्छिविहउ जाणह सुपत्तदाणफलं ॥ २०॥

सप्ताङ्गराज्यनवनिधिभण्डारषडङ्गबलचतुर्दशरत्नं।
षण्णवतिसहस्रस्त्रीविभवं जानीहि सुपात्रदानफलं ॥

सुकुलसुरूवसुलक्खणसुमइसुसिक्खासुसीलसुगुणचरित्तं।
सुहलेसं सुहणामं सुहसादं सुपत्तदाणफलं ॥ २१॥

---

१ जाणउ ख। २ इय ख। ३ फला ख। ४ सयलसंसारसुहसंपुण्णं विहवं जाणउ ख पुस्तके, सकलसंसारसुखसम्पूर्णं विभवं जानीहि।

सुकुलसुरूपसुलक्षणसुमतिसुशिक्षासुशीलसुगुणचरित्र ।
शुभलेश्य शुभनाम शुभसात सुपात्रदानफलं ॥

जो मुणिभुत्तवसेसं भुंजइ सो भुंजए जिणुदिट्ठं ।
संसारसारसोक्खं कमसो णिव्वाणवरसोक्खं ॥ २२ ॥

यो मुनिभक्तावशेषं भुंक्ते स भुंक्ते जिनोपदिष्टं ।
संसारसारसौख्यं क्रमशः निर्वाणसौख्यं ॥

सीदुण्हं वाउ पिउलं सिलेसिमं तह परीसमं वाहिं ।
कायकिलेसुव्वासं जाणिच्चा दिण्णए दाणं ॥ २३ ।

शीतोष्ण वातं पित्तं श्लेष्म तथा परिश्रमं व्याधिं ।
कायक्लेश उपवासं ज्ञात्वा दत्तं दानं ॥

हियमियमण्णं पाणं णिरवज्जोसहि णिराउलं ठाणं ।
सयणासणमुवयरणं जाणिच्चा देइ मोक्खरवो ॥ २४ ॥

हितमितं अन्नं पानं निरवद्यौषधिं निराकुलं स्थानं ।
शयनासनं उपकरणं ज्ञात्वा ददाति मोक्षरतः ॥

अणयाराणं वेज्जावच्चं कुज्जा जहेह जाणिच्चा ।
गब्भब्भेमेव मादा पिदु वा णिच्चं तहा णिरालसया ॥ २५ ॥

अनगाराणां वैयावृत्यं कुर्यात् यथेह ज्ञात्वा ।
गर्भोद्भवमिव माता पिता वा नित्यं तथा निरालसकः ॥

सप्पुरिसाणं दाणं कप्पतरूणं फलाण सोहं वा ।
लोहीणं दाणं जइ विमाणसोहा सवं जाणे ॥ २६ ॥

सत्पुरुषाणां दानं कल्पतरूणां फलानां शोभामिव ।
लोभिनां दानं यदि विमानशोभा शवस्य जानीहि ॥

१ भुत्त। २ परीसमव्वाहिं ख । ३ च्चे ख । ४ जाणिच्चा मोक्खमग्गरओ ख ।
५ भवे [redacted] । ६ कप्पसुराणविमाणसोह वा ख । ७ सवस्स जाणेह ख ।

जसकित्तिपुण्णलाहे देइ सुवहुगं पि जत्थ तत्थेव ।
सम्माइसुगुणभायण पत्तविसेसं ण जाणंति ॥ २७ ॥

यशःकीर्तिपुण्यलाभे ददति सुबहुकमपि यत्र तत्रैव ।
सम्यक्त्वादिसुगुणभाजनपात्रविशेषं न जानन्ति ॥

जंतं मंतं तंतं परिचरियं पक्खवाय पियवयणं ।
पडुच पंचमयाले भरहे दाणं ण किं पि मोक्खस्स ॥ २८ ॥

यत्र मत्र तत्र परिचर्या पक्षपात प्रियवचनं ।
प्रतीत्य पंचमकाले भरते दानं न किमपि मोक्षस्य ॥

दाणीणं दालिद्दं लोहीणं किं हवेइ महसिरियं ।
उहयाण पुव्वजियकम्मफलं जाव होइ थिरं ॥ २९ ॥

दानिनां दरिद्रत्वं लोभिनां किं भवेत् महाश्रीः ।
उभयोः पूर्वार्जितकर्मफलं यावत् भवति स्थिरं ॥

धणधण्णाइसमिद्धे सुहं जहा होइ सव्वजीवाणं ।
मुणिदाणाइसमिद्धे सुहं तहा तं विणा दुक्खं ॥ ३० ॥

धनधान्यादिसमृद्धे सुखं यथा भवति सर्वजीवानां ।
मुनिदानादिसमृद्धे सुखं यथा तं विना दुःखं ॥

पत्त विणा दाणं च सुपुत्त विणा बहुधणं महाखेत्तं ।
चित्त विणा वयगुणचारित्तं णिक्कारणं जाणे ॥ ३१ ॥

पात्रं विना दानं च सुपुत्रं विना बहुधनं महाक्षेत्रं ।
चित्तं विना व्रतगुणचारित्रं निष्कारणं जानीहि ॥

जिण्णुद्धारपतिट्ठा(ट्ठि)जिणपूजातित्थवंदणविसेसे य धणं ।
जो भुंजइ सो भुंजइ जिणदिट्ठं णिरयगइदुक्खं ॥ ३२ ॥

---

१ किट्टि ख । २ लोही ख । ३ दाणं ण मोक्खस्स ख । ४ दाणीणं ख । ५ लोहेण ख । ६ उहयाण म । ७-८ मिदो पुस्तके पाठ । म पुस्तके तु एष एव । ९ विसयधणं ग ।

जीर्णोद्धारप्रतिष्ठाजिनपूजातीर्थवन्दनाविषये च धनं।
यो भुंक्ते स भुंक्ते जिनदृष्ट नरकगतिदुःखं॥

पुत्तकलत्तविदूरो दारिद्दो पंगु मूक बहिरंधो।
चांडालाइकुजादो पूजादाणाइदव्वहरो॥ ३३॥
पुत्रकलत्रविदूरः दारिद्रः पगुः मूकः वधिरोऽन्ध॰।
चांडालादिकुजाति॰ पूजादानादिद्रव्यहरः॥

इंच्छिय फलं ण लब्भइ जइ लब्भइ सो ण भुंजदे णियदं।
वा हाणमायरोसे पूजादाणाइदव्वहरो॥ ३४॥
इच्छितफलं न लभते यदि लभते स न भुंक्ते नियत।
.... पूजादानादिद्रव्यहरः॥

गयहत्थपायनासियकण्णउरंगुलविहाणदिट्ठी य।
जो तिव्वदुक्खमूलो पूजादाणाइदव्वहरो॥ ३५॥
गतहस्तपादनासिकाकर्णोरोऽगुलविधानदृष्टिश्च।
यः तीव्रदु.खमूलः पूजादानादिद्रव्यहर॥

खयकुट्ठमूलसूलो लयंमयंदरजलोदरखिसिरो।
सीदुण्हवाहिरोई पूजादाणंतरायकम्मफलं॥ ३६॥
क्षयकुष्ठमूलशूलं.. .....भगन्दरजलोदर .... ।
शीतोष्णबाधानि पूजादानान्तरायकर्मफल॥

णरतिरियाइदुगईदरिद्दवियलंगहाणिदुक्खाणि।
देवगुरुसत्थवंदणसुयभेयसज्झाइदाणविघणफलं॥ ३७॥
नरकतिर्यग्दुर्गतिदरिद्रविकलाङ्गहानिदुःखानि।
देवगुरुशास्त्रवन्दनाश्रुतभेदस्वाध्यायदानविघ्नफलं॥

---

१ नेयं गाथा ख. पुस्तके। २ नेयं गाथा ख. पुस्तके। ३-४ रोगविशेषस्य नामनी.। ५ मझराइ ख.। ६ नेयं गाथा ख. पुस्तके।

जसकित्तिपुण्णलाहे देइ सुबहुगं पि जत्थ तत्थेव ।
सम्माइसुगुणभायण पत्तविसेस ण जाणंति ॥ २७ ॥
यश कीर्तिपुण्यलाभे ददति सुबहुकमपि यत्र तत्रैव ।
सम्यक्त्वादिसुगुणभाजनपात्रविशेष न जानन्ति ॥

जंतं मंतं तंतं परिचरियं पक्खवाय पियवयणं ।
पडुच पंचमयाले भरहे दाणं ण कि पि मोक्खस्स ॥ २८ ॥
यत्र मत्र तत्र परिचर्या पक्षपात प्रियवचन ।
प्रतीय पचमकाले भरते दान न किमपि मोक्षस्य ॥

दाणीणं दालिद्दं लोहीणं कि हवेइ महसिरियं ।
उहयाण पुव्वजियकम्मफलं जाव होइ थिर ॥ २९ ॥
दानिना दरिद्रत्व लोभिना किं भवेत् महाश्री ।
उभयो पूर्वार्जितकर्मफलं यावत् भवति स्थिर ॥

धणधण्णाइसमिद्धे सुहं जहा होइ सव्वजीवाणं ।
मुणिदाणाइसमिद्धे सुहं तहा तं विणा दुक्खं ॥ ३० ॥
धनधान्यादिसमृद्धे सुख यथा भवति सर्वजीवना ।
मुनिदानादिसमृद्ध सुख यथा ▪ विना दु ख ॥

पत्त विणा दाणं च सुपुत्त विणा बहुधणं महाखेत्तं ।
चित्त विणा वयगुणचारित्तं णिक्कारणं जाणे ॥ ३१ ॥
पात्र विना दान च सुपुत्र विना बहुधन महाक्षेत्र ।
चित्त विना व्रतगुणमचारित्र निष्कारण जानीहि ॥

जिण्णुद्धारपति (दि) ट्ठाजिणपूजातित्थवंदणविसे य धणं ।
जो भुंजइ सो भुंजइ जिणदिट्ठं णिरयगईदुक्खं ॥ ३२ ॥

१ किटि ख । २ लोही ख । ३ दाण ण मोक्खस्स ख । ४ दाणेण ख । ५ मेहुण ख । ६ उदयाण ख । ७–८ सिद्धो पुस्तके पाठ । ख पुस्तके द्रु एव । ९ विसयधण ख ।

जीर्णोद्धारप्रतिष्ठाजिनपूजातीर्थवन्दनाविषये च धनं।
यो भुंक्ते स भुंक्ते जिनदृष्टं नरकगतिदुःखं ॥

पुत्तकलत्तविदूरो दारिद्दो पंगु मूक वहिरंधो ।
चांडालाइकुजादो पूजादाणाइदव्वहरो ॥ ३३ ॥

पुत्रकलत्रविदूरः दारिद्रः पंगुः मूकः बधिरोऽन्धः ।
चांडालादिकुजातिः पूजादानादिद्रव्यहरः ॥

इच्छिय फल ण लब्भइ जइ लब्भइ सो ण भुंजदे णियद ।
वाहीणमायरो से पूजादाणाइदव्वहरो ॥ ३४ ॥

इच्छितफलं न लभते यदि लभते स न भुंक्ते नियतं ।
पूजादानादिद्रव्यहरः ॥

गयहत्थपायनासियकण्णउरंगुलविहीणदिट्ठी य ।
जो तिव्वदुक्खमूलो पूजादाणाइदव्वहरो ॥ ३५ ॥

गतहस्तपादनासिकाकर्णोरोऽगुलविधानदृष्टिश्च ।
यः तीव्रदुःखमूलः पूजादानादिद्रव्यहरः ॥

खयकुट्ठमूलसूलो लूयभयंदरजलोदरक्खिसिरो ।
सीदुण्हवाहिराई पूजादाणंतरायकम्मफलं ॥ ३६ ॥

क्षयकुष्ठमूलशूल भगन्दरजलोदर ।
शीतोष्णबाह्यानि पूजादानान्तरायकर्मफलं ॥

णरइतिरियाइदुगईदरिद्दवियलगहाणिदुक्खाणि ।
देवगुरुसत्थवंदणसुयभेयसज्झायदाणविग्घफलं ॥ ३७ ॥

नरकतिर्यग्दुर्गतिदरिद्रविकलाङ्गहानिदुःखानि ।
देवगुरुशास्त्रवंदनाश्रुतभेदस्वाध्यायदानविघ्नफलं ॥

---

१ नेयं गाथा ख पुस्तके । २ नेयं गाथा ख पुस्तके । ३-४ शब्दविपर्ययं नामनी । ५ मंझराइ ख । ६ नेयं गाथा ख पुस्तके ।

सम्मविसोही तवगुणचारित्तसण्णाणदाणपरिहीणं।
भरहे दुस्समकाले मणुयाणं जायदे णियदं ॥ ३८ ॥

सम्यक्त्वविशुद्धिः तपोगुणचारित्रसंज्ञानदानपरिहीना।
भरते दुःषमकाले मनुजानां जायते नियतम् ॥

ण हि दाणं ण हि पूजा ण हि सीलं ण हि गुणं ण चारित्तं।
जे जइणा भणिया ते णेरइया होंति कुमाणुसा तिरिया ॥३९॥

न हि दानं न हि पूजा न हि शीलं न हि गुणं न चारित्रं।
ये यतिना भणिताः ते नारका भवन्ति कुमानुषाः तिर्यञ्चः ॥

ण वि जाणइ कज्जमकज्जं सेयमसेयं पुण्ण पावं हि।
तच्चमतच्चं धम्ममधम्मं सो सम्मउम्मुक्को ॥ ४० ॥

नापि जानाति कार्यमकार्यं श्रेयोऽश्रेयः पुण्यं पापं हि।
तत्त्वमतत्त्वं धर्ममधर्मं स सम्यक्त्वोन्मुक्तः ॥

ण वि जाणइ जोग्गमजोग्गं णिच्चमणिच्चं हेयमुवादेयं।
सच्चमसच्चं भव्वमभव्वं सो सम्मउम्मुक्को ॥ ४१ ॥

नापि जानाति योग्यमयोग्यं नित्यमनित्यं हेयमुपादेयम्।
सत्यमसत्यं भव्यमभव्यं स सम्यक्त्वोन्मुक्तः ॥

लोइयजणसंगादो होइ मइमुहरकुडिलदुब्भावो।
लोइयसंगं तम्हा जोइ वि तिविहेण मुंचाहो ॥ ४२ ॥

लौकिकजनसंगतो भवति मतिमुखरकुटिलदुर्भावः।
लौकिकसंगं तस्मात् योगी अपि त्रिविधेन मुञ्चतात्।

उग्गो तिव्वो दुट्ठो दुब्भावो दुस्सुदो दुरालावो।
दुम्मदरदो विरुद्धो सो जीवो सम्मउम्मुक्को ॥ ४३ ॥

---

१ या ख । २ अस्मादग्रे हि इति शब्दः । तत्र छन्दोभङ्गो जायते। अतो नैः-सारित स पुस्तके नास्त्यपि । ३ गाथेयं ४० ४१ गाथात् पूर्वं ख पुस्तके । ४ जोई तिविहेण ख । ५ वि ख ।

उग्र तीव्रो दुष्टो दुर्भावो दु श्रुतो दुरालाप ।
दुर्मतरतो विरुद्ध स जीवो सम्यक्त्वोन्मुक्त ॥

खुद्दो रुद्दो रुट्टो अणिट्ठ पिसुणो सगव्वियो सुइओ ।
गायणजायणभंडणदुस्सणसीलो दु सम्मउम्मुक्को ॥ ४४ ॥

क्षुद्रो रुद्र रुष्ट अनिष्ट पिशुन सगर्वित सूय ।
गायनयाचनाभण्डनदूषणशीलस्तु सम्यक्त्वोन्मुक्त ॥

दोहा—

वाणरगद्दहसाणगयवग्घवराहकरहा ।
पक्खिजलूयसहाव णर जिणवरधम्मविणासु ॥ ४५ ॥

वानरगर्दभश्वगजव्याघ्रवराहकरभ— ।
पक्षिजलौकस्वभावो नर जिनवरधर्मविनाशक ॥

कुतवकुलिंगिकुणाणिकुवयकुसीले कुदंसणकुसत्थे ।
कुनिमित्ते संथुइ पथुइ पससणं सम्महाणि होइ णियमं ॥४६॥

कुतप कुलिंगिकुज्ञानिकुव्रतकुशीलेषु कुदर्शनकुशास्त्रयो ।
कुनिमित्त संस्तुति प्रस्तुति प्रशंसन सम्यक्त्वहानि
भवति नियमेन ॥

सम्म विणा सण्णाणं सच्चारित्तं ण होइ णियमेण ।
तो रयणत्तयमज्झे सम्मगुणुक्किट्ठमिदि जिणुदिट्ठं ॥ ४७ ॥

सम्यक्त्व विना सज्ज्ञान सच्चारित्र न भवति नियमेन ।
तत रत्नत्रयमध्ये सम्यक्त्वगुण उत्कृष्ट इति जिनदिष्टम् ॥

तणुकुट्ठी कुलभंगं कुणइ जहा मिच्छमप्पणो वि तहा ।
दाणाइसुगुणभंगं गइभंगं मिच्छत्तमेव हो कट्ठं ॥ ४८ ॥

---

१ जिणभणिद ख । २ पाठोऽय क पुस्तके नास्ति ख-पुस्तकात् सयोजित ।

तनुकुष्ठी कुलभग करोति यथा मिथ्यात्वमापन्नोऽपि तथा ।
दानादिसुगुणभग गतिभग मिथ्यात्वमेव अहो ! कष्टम् ॥

देवगुरुधम्मगुणचारित्तं तवसारमोक्खगइभेयं ।
जिणवरवयणसुदिट्ठिं विणा दीसइ किह जाणए सम्मं ॥४९॥

देवगुरुधर्मगुणचारित्र तप सारमोक्षगतिभेदं ।
जिनवरवचनसुदृष्टिं विना दृश्यते कथ ज्ञापके सम्यक्त्व ॥

एक्कु खण ण विचिंतइ मोक्खणिमित्तं णियप्पसब्भावं ।
अणिस विचिंतइ पावं बहुलालावं मणे विचिंतेइ ॥ ५० ॥

एक क्षण न विचिन्तयति मोक्षनिमित्त निजात्मसद्भाव ।
अनिशं विचिन्तयति पाप बहुलालाप मनसा विचिन्तयति ॥

मिच्छामइमयमोहासवमत्तो बोल्लए जहा भुल्लो ।
तेण ण जाणइ अप्पा अप्पाणं सम्मभावाणं ॥ ५१ ॥

मिथ्यामतिमदमोहासवमत्त कथयति यथा विस्मृत ।
तेन न जानाति आत्मा आत्मना सद्भावान् ॥

मिहिरो महंधयारं मरुदो मेहं महावणं दाहो ।
वज्जो गिरिं जहा विणसिज्जइ सम्मे जहा कम्मं ॥ ५२ ॥

मिहिर महा धकार मरुत् मेघ महावनं दाह ।
वज्रो गिरिं यथा विनाशयति सम्यक्त्वं तथा कर्म॥

मिच्छंधयारसहियहियमज्झम्मिय सम्मरयणदीवकलावं ।
जो पज्जलइ स दीसइ सम्मं लोयत्तयं जिणुद्दिट्ठं ॥ ५३ ॥

मिथ्यान्धकाररहितहृदयगृहमध्ये च सम्यक्त्वरत्नदीपकलापं ॥
य प्रज्वालयति स पश्यति सम्यक् लोकत्रय जिनदृष्टं ॥

१ येन प्रकारेण । २ तेन प्रकारेण । ३ कर्म । ४ पदिस्सइ ग ।

कामदुहिं कप्पतरुं चिंतारयणं रसायणं परैमं ।
लद्धो भुंजइ सुक्खं जह छियं जाण तह सम्मं ॥ ५४ ॥
कामदुह कल्पतरु चिन्तारत्न रसायन परम ।
लब्ध भुक्त सुख यथा स्थित जानीहि तथा सम्यक्त्वं ॥

कैतकफलभरियणिम्मलववगयकालियसुवण्ण व्व ।
मलरहियसम्मजुत्तो भव्ववरो लहइ लहु मोक्खं ॥ ५५ ॥
कतकफलभृतनिर्मलव्यपगतकालिकासुवर्णवत् ।
मलरहितसम्यक्त्वयुतो भव्यवरो लभते लघु मोक्ष ॥

पुव्वठियं खवइ कम्मं पइसदु णो देइ अहिणवं कम्मं ।
इहपरलोयमहप्पं देई तहा उवसमो भावो ॥ ५६ ॥
पूर्वस्थित क्षपयति कर्म प्रवेष्टुं न ददाति अभिनव कर्म ।
इहपरलोकमाहात्म्य ददाति तथा उपशमो भाव ॥

सम्माइट्ठी कालं वोलइ वेरग्गणाणभावेण ।
मिच्छाइट्ठी वांछादुब्भावालस्सकलहेहिं ॥ ५७ ॥
सम्यग्दृष्टि काल गमयति वैराग्यज्ञानभावेन ।
मिथ्यादृष्टि वाञ्छादुर्भावालस्यकलहै ॥

अज्जवसप्पिणिभरहे पउरा रुद्दट्टझाणया दिट्ठा ।
णट्ठा दुट्ठा कट्ठा पाविट्ठा किण्हणीलकाओदा ॥ ५८ ॥
अधावसर्पिणीभरते प्रचुरा रुद्रार्तध्याना दृष्टा ।
नष्टा दुष्टा कष्टा पापिष्ठा कृष्णनीलकापोता ॥

अज्जवसप्पिणिभरहे दुस्समया मिच्छपुव्वया सुलहा ।
सम्मत्तपुव्वसायारणयार दुल्लहा होंति ॥ ५९ ॥

१ रसपुरप ख । २ गाथेयं ख पुस्तके नास्ति । ३ गाथेयं ख पुस्तके नास्ति ।

अद्यावसर्पिणीभरते तु प्रमादा मिथ्यात्वपूर्विका सुलभाः ।
सम्यक्त्वपूर्विकाः सागारानगारा दुर्लभा भवन्ति ॥

अज्जवसप्पिणिभरहे धम्मज्झाणं पमादरहिदुत्ति ।
जिणुदिट्ठं ण हु मण्णइ मिच्छादिट्ठी (हवे) सो (हु) ॥६०॥

अद्यावसर्पिणीभरते धर्म्यध्यानं प्रमादरहितमिति ।
जिनदिष्टं न हि मन्यते मिथ्यादृष्टिः भवेत् स हि ॥

असुहादो णिरयाऊ सुहभावादो दु सग्गसुहमाऊ ।
दुहसुहभावं जाणइ जं ते रुच्चेइ तं कुणहो ॥ ६१ ॥

अशुभात् नरकायुः शुभभावतस्तु स्वर्गसुखायुः ।
दुःखसुखभावं जानीहि यत्तुभ्यं रोचते तत्कुरु ॥

हिंसाइसु कोहाइसु मिच्छाणाणेसु पक्खवाएसु ।
मच्छरिएसु मएसु दुरहिणिवेसेसु असुहलेसेसु ॥ ६२ ॥

हिंसादिषु क्रोधादिषु मिथ्याज्ञानेषु पक्षपातेषु ।
मत्सरितेषु मदेषु दुरभिनिवेशेषु अशुभलेश्यासु ॥

विकहाइसु रुद्दट्टज्झाणेसु असूयगेसु दंडेसु ।
सल्लेसु गारवेसु खाईसु जो वट्टई असुहभावो ॥ ६३ ॥

विकथादिषु रुद्रार्तध्यानेषु असूयकेषु दण्डेषु ।
शल्येषु गारवेषु ख्यातिषु यो वर्तते अशुभभावः ॥

दव्वत्थिकाय छप्पण तच्चपयत्थेसु सत्तणवएसु ।
बंधणमुक्खे तक्कारणरूवे बारसणुवेक्खे ॥ ६४ ॥

---

१ दो पुस्तके । २ माइ पुस्तके । ३ रुचदण पुस्तके । ४ कुणा ख । ५ व्वाएसु क । ६ वट्टदे ख ।

द्रव्यास्तिकायेषु षट्पचसु त नवपदार्थेषु सप्तनयकेषु ।
बन्धनमोक्ष तत्कारणरूपे द्वादशानुप्रेक्षाया ॥

रयणत्तयस्स रूवे अज्जाकम्मे दयाइसद्धम्मे ।
इच्चेवमाइगे जो वट्टइ सो होइ सुहभावो ॥ ६५ ॥

रत्नत्रयस्य रूपे आयकर्मणि दयादिधर्मे ।
इत्येवमादिके यो वर्तते स भवति शुभभाव ॥

सम्मत्तगुणादो सुगइ मिच्छादो होइ दुग्गई णियमा ।
इदि जाण किमिह बहुणा जं ते रुचेइ तं कुणहो ॥ ६६ ॥

सम्यक्त्वगुणत सुगति मिथ्यात्वतो भवति दुर्गति नियमात् ।
इति जानीहि किमिह बहुना यत्तुभ्य रोचते तत्कुरु ॥

मोहु ण छिज्जइ अप्पा दारुणकम्मं करेइ बहुवारं ।
ण हु पावइ भवतीरं किं बहुदुक्खं वहेइ मूढमई ॥ ६७ ॥

मोह न छिनत्ति आत्मा दारुणकर्म करोति बहुवार ।
न हि प्राप्नोति भवतीर किं बहुदु ख वहति मूढमति ॥

धरियउ बाहिरि लिंगं परिहरियउ बाहिरक्खसोक्खं हि[1] ।
करियउ किरियाकम्मं मरिऊं जमिऊ बहिरप्पजिऊ[2] ॥६८॥[3]

धरति बाह्य लिंगं परिहरति बाह्याक्षसौख्य हि ।
करोति क्रियाकर्म म्रियते जायते बहिरात्मजीव ॥

मोक्खणिमित्तं दुक्खं वहेइ परलोयदिट्ठि तणुदिट्ठी ।
मिच्छाभाव ण छिज्जइ किं पावइ मोक्खसोक्खं हि ॥ ६९ ॥

---

१ कम्मो क । २ वि ख । ३ मरियउ जमेयउ बहिरप्पजीवो ख ।

मोक्षनिमित्त दुःखं वहति परलोकदृष्टिः तनुदृष्टिः ।
मिथ्यात्वभावान् न छिनत्ति किं प्राप्नोति मोक्षसौख्य हि ॥

ण हु दंडइ कोहाइं देहं दंडइ कहं खवइ कम्म ।
सप्पो किं मुवइ तहा वम्मीए मारिए लोएं ॥ ७० ॥

न हि दण्डयति क्रोधादीनि देह दडयति कथं क्षिपते कर्म ।
सर्प किं म्रियते तथा वल्मीके मारिते लोके ॥

उवसमभवभावजुदो णाणी सो भावसंजदो होइ ।
णाणी कसायवसगो असंजदो होइ सो ताव ॥ ७१ ॥

उपशमभवभावयुतो ज्ञानी स भावसंयतो भवति ।
ज्ञानी कषायवशगोऽसंयतो भवति स तावत् ॥

णाणी खवेइ कम्मं णाणबलेणेदि सुवोलए अण्णाणी ।
विज्जो भेसज्जमहं जाणे इदि णस्सदे वाही ॥ ७२ ॥

ज्ञानी क्षिपते कर्म ज्ञानबलेनेति सुकथयति अज्ञानी ।
वैद्यो भेषज अहं जानामीति नाशयति व्याधिं ॥

पुव्वं सेवइ मिच्छामलसोहणहेउ सम्मभेसज्जं ।
पच्छा सेवइ कम्मामयणासणचरियसम्मभेसज्जं ॥ ७३ ॥

पूर्वं सयते मिथ्यात्वमलशोधनहतु सम्यक्त्वभेषज ।
पश्चात् सेवते कर्मामयनाशनचरितसम्यग्भेषजं ॥

अण्णाणी विसयविरत्तादो होइ सयसहस्सगुणो ।
णाणी कसायविरदो विसयासत्तो जिणुद्दिट्ठं ॥ ७४ ॥

---

१ वम्मिउ मारिउ क । २ अस्मादग्रे क–पुस्तके विसहरवमिं इति शब्द । ३ तव ख । ४ सुदो क । ५ ताव ख । ६ ण जाणदे णस्सदे वाहिं ख ।

अज्ञानितः विपयविरक्ततः भवति शतसहस्रगुणः ।
ज्ञानी कपायविरतः विपयासक्तः जिनोद्दिष्टम् ॥

विणओ भत्तिविहीणो महिलाणं रोयणं विणा णेहं ।
चागो वेरग्ग विणा एदे दोवारिया भणिया ॥ ७५ ॥

विनयो भक्तिविहीनः महिलानां रोधनं विना स्नेह ।
त्यागो वैराग्यं विना एते दुर्वारका भणिता ॥

सुहडो सूरत्त विणा महिला सोहग्गरहियपरिसोहा ।
वेरग्गणाणसंजमहीणा खवणा ण किं वि लब्भंते ॥ ७६ ॥

सुभट शूरत्वं विना महिला सौभाग्यरहितपरिशोभा ।
वैराग्यज्ञानसंयमहीना क्षपणा न किमपि लभन्ते ॥

वत्थुसमग्गो मूढो लोहि यं लहिएं फलं जहा पंच्छा ।
अण्णाणी जो विसयंपरिचत्तो लहइ तहा चेव ॥ ७७ ॥

वस्तुसमग्रो मूढो लोभी च लभते फलं यथा पश्चात् ।
अज्ञानी यो विपयपरित्यक्तो लभते तथैव ॥

वत्थुसमग्गो णाणी सुपत्तदाणी फलं जहा लहइ ।
णाणसमग्गो विसयपरिचत्तो लहइ तहा चेव ॥ ७८ ॥

वस्तुसमग्रो ज्ञानी सुपात्रदानी फलं यथा लभते ।
ज्ञानसमग्रो विपयपरित्यक्तो लभते तथैव ॥

भूमहिलाकण्णाईलोहाहिविसँहरं कँहं पि हवे ।
सम्मत्तणाणवेरग्गोसँहमंतेण जिणुद्दिट्ठं ॥ ७९ ॥

१ लोही. ख. । २ लहइ. ख. । ३ पेच्छा क. । ४ विसयासत्तो. ख. । ५ दाणे ख. । ६ कण्णाइ क. । ७ इ. क. । ८ कहिंपि. ख. । ९ मतेण ख. । वेरग्गसहमंतेण क. ।

भूमहिलान्नपादिलोभाहिविषहरो कथमपि भवत् ।
सम्यक्त्वज्ञानवैराग्यौषधमन्त्रेण जिनोद्दिष्टं ॥

पुव्वं जो पंचेंदियतणुमणुवचिहत्थपायमुंडहरो ।
पच्छा सिरमुंडुहरो सिवगइपहणायगो होई ॥ ८० ॥

पूर्वं य पञ्चेन्द्रियतनुमनोवाग्घस्तपादमुण्डहर ।
पश्चात् शिरोमुण्डहर शिवगतिपथनायको भवति ॥

पतिभत्तिविहीण सदी भिच्चो य जिणसमयभत्तिहीण जई ।
गुरुभत्तिहीण सिस्सो दुग्गइमग्गाणुलग्गणो णियमा ॥ ८१ ॥

पतिभक्तिविहीना सती भृत्यश्च जिनसमयभक्तिहीनो यति ।
गुरुभक्तिहीन शिष्यो दुर्गतिमार्गानुलग्नो नियमात् ॥

गुरुभत्तिविहीणाणं सिस्साणं सव्वसंगविरदाणं ।
ऊसरछेत्ते ववियसुबीयसमं जाण सव्वणुट्ठाणं ॥ ८२ ॥

गुरुभक्तिविहीनाना शिष्याना सर्वसङ्गविरताना ।
ऊषरक्षेत्रे उपितसुबीजसम जानीहि सर्वानुष्ठान ॥

रज्जं पहाणहीणं पदिहीणं देसगामरट्ठबलं ।
गुरुभत्तिहीणसिस्साणुट्ठाणं णस्सदे सव्वं ॥ ८३ ॥

राज्य प्रधानहीन पतिहीन देशग्रामराष्ट्रबल ।
गुरुभक्तिहीनशिष्यानुष्ठान नश्यति सर्व ॥

सम्माण विणे य रूई भत्ति विणा दाण दया विणा धम्म ।
गुरुभत्ति विणा तवचरित्त णिप्फलं जाण ॥ ८४ ॥

१ मण ख । २ मुंडाउ क । ३ लग्गदो ख । ४ णियदा ख । ५ खेते ख । ६ विण विणयरूई ख । ७ रूपी क ।

सम्मान विना च रुचि भक्ति विना दान दया विना धर्म ।
गुरुभक्ति विना तपश्चारित्र निष्फलं जानीहि ॥

झाणादाणवियारविहीणदो बाहिरक्खसुक्ख हि ।
किं तजिय किं भजियं किं मोक्खु दिट्ठं जिणुदिट्ठं ॥ ८५ ॥

ध्यानादानविचारविहीनत बाह्याक्षसुख हि ।
किं त्यक्त किं भाजित किं मोक्षो दृष्टो जिनदृष्ट ॥

कायकिलेसुववासं दुद्धरतवसरणकारणं जाण ।
तं णियसुद्धसरूवपरिपुण्णं चेदि कम्मणिम्मूलं ॥ ८६ ॥

कायक्लेशोपवास दुर्धरतपश्चरणकारण जानीहि ।
तन्निजशुद्धस्वरूपपरिपूर्णं आत्मनि कर्मनिर्मूल ॥

कम्मु ण खवेइ जो हु परम्ह ण जाणेइ सम्मउम्मुक्को ।
अत्थु ण तत्थु ण जीवो लिंगं घेत्तूण किं करई ॥ ८७ ॥

कर्म न क्षिपते यो हि परब्रह्म न जानाति सम्यक्त्वोन्मुक्त ।
अत्र न तत्र न जीवो लिंग गृहीत्वा किं करोति ॥

अप्पाणं पि ण पिच्छइ ण मुणइ ण वि सद्दहइ ण भावेइ ।
बहुदुक्खभारमूलं लिंगं घित्तूण किं करई ॥ ८८ ॥

आत्मानमपि न पश्यति न जानाति नापि श्रद्धाति न भावयति ।
बहुदु खभारमूलं लिंग गृहीत्वा किं करोति ॥

जाव ण जाणइ अप्पा अप्पाणं दुक्खमप्पणो तावं ।
तेण अणंतसुहाणं अप्पाणं भावए जोई ॥ ८९ ॥

१ भणिय ख । २ किं मोक्खो ण दिट्ठ ख । ३ णियसुद्धप्पदमपरिपुण्ण ख । ४ घत्तूण ख ।

यावन्न जानाति आत्मा आत्मानं दुःखमात्मनस्तावत् ।
तेनानन्तसुखमात्मानं भावयेत् योगी ॥

णियतच्चुवलद्धि विणा सम्मत्तुवलद्धि णत्थि णियमेण ।
सम्मत्तुवलद्धि विणा णिव्वाणं णत्थि जिणुदिट्ठं ॥ ९० ॥

निजतत्त्वोपलब्धिं विना सम्यक्त्वोपलब्धिर्नास्ति ।
सम्यक्त्वोपलब्धिं विना निर्वाणं नास्ति जिनदिष्टं ॥

पंवयणसारब्भासं परमप्पाझाणकारणं झाणं ।
कम्मक्खवणणिमित्तं कम्मक्खवणेहि मोक्खमोक्खं हि ॥९१॥

प्रवचनसाराभ्यासं परमात्मध्यानकारणं ध्यान ।
कर्मक्षपणनिमित्तं कर्मक्षपणे मोक्षसौख्यं हि ॥

सालविहीणो राउ दाणदयाधम्मरहियगिहसोहा ।
णाणविहीणतवो वि य जीवं विणा देहसोहं चं ॥ ९२ ॥

सालविहीनो राजा दानदयाधर्मरहितगृहिशोभा ।
ज्ञानविहीनतपोऽपि च जीवं विना देहशोभा च ॥

मक्खिय सिलिम्मे पडिओ मुवइ जहा तह परिग्गहे पडिउं ।
लोही मूढो खवणो कायकिलेसेसु अण्णाणी ॥ ९३ ॥

मक्षिका श्लेष्माणि पतिता म्रियते यथा तथा परिग्रहे पतितः ।
लोभी मूढः क्षपणः कायक्लेशेषु अज्ञानी ॥

णाणब्भासविहीणो सपरं तच्चं ण जाणए किं पि ।
झाणं तस्स ण होइ हु ताव ण कम्मं खवेइ ण हु मोक्खो ॥९४॥

१ नेद गाथासूत्रं ख-पुस्तके अत्र स्थले किन्तु वद्धृते । २ घा, ख, । ३ सिलिम्मपडियो ख. । ४ यो ख ।

ज्ञानाभ्यासविहीनः स्वपरं तत्वं न जानाति किमपि।
ध्याने तस्य न भवति हि तावन्न कर्म क्षपयति न हि मोक्षः॥

अज्झयणमेव झाणं पंचेंदियणिग्गहं कसायं पि।
तो पंचमयाले पवयणसारब्भासमेव कुज्जाहो॥ ९५॥

अध्ययनमेव ध्यानं पंचेन्द्रियनिग्रहो कषायस्यापि।
ततः पंचमकाले प्रवचनसारभ्यासमेव कुर्यात्॥

धम्मज्झाणब्भासं करेइ तिविहेण भाव सुद्धेण।
परमप्पझाणचेत्तो तेणेव खवेइ कम्माणि॥ ९६॥

धर्म्यध्यानाभ्यासं करोति त्रिविधेन यावच्छुद्धेन।
परमात्मध्यानचेताः तेनैव क्षपयति कर्माणि॥

पावारंभणिवित्ती पुण्णारंभे पउत्तिकरणं पि।
णाणं धम्मज्झाणं जिणभणियं सव्वजीवाणं॥ ९७॥

पापारंभनिवृत्तिः पुण्यारंभे प्रवृत्तिकरणमपि।
ज्ञानं धर्म्यध्यानं जिनभणितं सर्वजीवाना॥

सुदणाणब्भासं जो कुणई सम्मं ण होइ तवयरणं।
कुव्वं जइ मूढमइ संसारसुखाणुरत्तो सो॥ ९८॥

श्रुतज्ञानाभ्यासं यः करोति सम्यक्त्वं न भवति तपश्चरणं।
कुर्वन् यतिः मूढमतिः संसारसुखानुरक्तः सः॥

तच्चवियारणसीलो मोक्खपहाराहणासहावजुदो।
अणवरयं धम्मकहापसंगदो होइ मुणिराओ॥ ९९॥

१ तत्तो. ख.। २ म कुणइ. ख.। ३ कुव्वंतो मूढ. ख.। ४ ओ. क.।

तत्त्वविचारणशीलो मोक्षपथाराधनासहभावयुतः ।
अनवरतं धर्मकथाप्रसक्तो भवति मुनिराजः ॥

विकहाइविप्पमुक्को आहाकम्माइविरहिओ णाणी ।
धम्मुद्देसणकुसलो अणुपेहाभावणाजुदो जोई ॥ १०० ॥

विकथादिविप्रमुक्तः आधाकर्मादिविरहितो ज्ञानी ।
धर्मदेशनाकुशलोऽनुप्रेक्षाभावनायुतो योगी ॥

अवियप्पो णिद्दंदो णिम्मोहो णिक्कलंकओ णियदो ।
णिम्मलसहावजुत्तो जोई सो होइ मुणिराओ ॥ १०१ ॥

अविकल्पो निर्द्वन्द्वो निर्मोहो निष्कलङ्को नियतः ।
निर्मलस्वभावयुक्तो योगी स भवति मुनिराजः ॥

णिंदावंचणदूरो परिसहउवसग्गदुक्खसहमाणो ।
सुहझाणज्झयणरदो गयसंगो होइ मुणिराओ ॥ १०२ ॥

निन्दावञ्चनादूरः परीषहोपसर्गदुःखं सहमानः ।
शुभध्यानाध्ययनरतो गतसङ्गो भवति मुनिराजः ॥

तिव्वं कायकिलेसं कुव्वंतो मिच्छभावसंजुत्तो ।
सव्वण्हुवएसे सो णिव्वाणसुहं ण गच्छेई ॥ १०३ ॥

तीव्रं कायक्लेशं कुर्वन् मिथ्यात्वभावसंयुक्तः ।
सर्वज्ञोपदेशेन स निर्वाणसुखं न गच्छति ॥

रायाइमलजुदाणं णियप्परूवं ण दिस्सए किं पि ।
समलादरिसे रूवं ण दिस्सए जह तहा णेयं ॥ १०४ ॥

४ या स ।

रागादिमलयुक्तानां निजात्मरूपं न दृश्यते किमपि ।
समलादर्शे रूपं न दृश्यते यथा तथा ज्ञेयम् ॥

दंडत्तयसल्लत्तयमंडियमाणो असूयगो साहू ।
भंडणजायणसीलो हिंडइ सो दीहसंसारे ॥ १०५ ॥

दण्डत्रयशल्यत्रयमण्डितमानोऽसूयकः साधुः ।
भण्डनयाचनाशीलो हिण्डते स दीर्घसंसारे ॥

देहादिसु अणुरत्ता विसयासत्ता कसायसंजुत्ता ।
अप्पसहावे सुत्ता ते साहू सम्मपरिचत्ता ॥ १०६ ॥

देहादिषु अनुरक्ता विषयासक्ताः कषायसंयुक्ताः ।
आत्मस्वभावे सुप्ताः ते साधवः सम्यक्त्वपरित्यक्ताः ॥

आरंभे धणधण्णे उवयरणे कंक्खिया तहा सूया ।
वयगुणसीलविहीणा कसायकलहप्पिया मुहुरा ॥ १०७ ॥

आरम्भे धनधान्ये उपकरणे कांक्षितास्तथा सूया ।
व्रतगुणशीलविहीनाः कषायकलहप्रिया मुखराः ॥

संघविरोहकुसीला सच्छंदा रहियगुरुकुला मूढा ।
रायाइसेवया ते जिणधम्मविराहिया साहू ॥ १०८ ॥

संघविरोधकुशीलाः स्वच्छन्दा रहितगुरुकुला मूढाः ।
राजादिसेवकाः ते जिनधर्मविराधकाः साधवः ॥

जोइसविज्जामंतोपजीवणं वा य वस्सववहारं ।
धणधण्णपडिग्गहणं समणाणं दूसणं होइ ॥ १०९ ॥

ज्योतिर्विद्यामंत्रोपजीवनं वा च वश्यव्यवहारं ।
धनधान्यप्रतिग्रहणं श्रमणानां दूषणं भवति ॥

वसहीपडिमोवयरणे गणगच्छे समयजाइकुले।
सिस्सपडिसिस्सछत्ते सुतजाते कप्पडे पुत्थे ॥ ११० ॥

वसतिप्रतिमोपकरणे गणगच्छे समयजातिकुले।
शिष्यप्रतिशिष्यच्छात्रे सुतजाते कर्पटे पुस्तके ॥

पिच्छे संत्थरणे इच्छासु लोहेण कुणइ ममयारं।
यावच्च अट्टरुद्दं ताव ण मुंचेदि ण हु सोक्खं ॥ १११ ॥

पिच्छिकायां संस्तरे इच्छासु लोभेन करोति ममकारं।
यावच्च आर्तरौद्रं तावन्न मुञ्चति न हि सुखं ॥

जे पावारभरया कसायजुत्ता परिग्गहासत्ता।
लोयववहारपउरा ते साहू सम्मउम्मुक्का ॥ ११२ ॥

ये पापारंभरता कषाययुक्ता परिग्रहासक्ताः।
लोकव्यवहारप्रचुरा ते साधवः सम्यक्त्वोन्मुक्ताः ॥

चम्मट्ठिमंसलवलुद्धो सुणहो गज्जए मुणिं दिट्ठा।
जह पाविट्ठो सो धम्मिट्ठं दिट्ठा सगीयट्ठो ॥ ११३ ॥

चर्मास्थिमांसलवलुब्धः शुनकः गर्जति मुनिं दृष्ट्वा।
यथा पापिष्ठः स धर्मिष्ठं दृष्ट्वा .. ॥

ण सहंति इयरदप्पं थुवंति अप्पाण अप्पमहप्पं।
जिब्भणिमित्तं कुणंति ते साहू सम्मउम्मुक्का ॥ ११४ ॥

न सहन्ते इतरदर्पं स्तुवन्ति आत्मनः आत्ममाहात्म्यं।
जिह्वानिमित्तं कुर्वन्ति ते साधवः सम्यक्त्वोन्मुक्ताः ॥

---

१ सुवट्टवात्थु क परिग्रहेषु। २ तावत्य क.। ३–, ११०–१११–गाथा द्वय अत्रस्थले नास्ति ख पुस्तके। ४ नेदं गाथासूत्रं ख–पुस्तके। ५ थुवंति ये इत्य ख।

भुंजेइ जहालाहं लहेइ जइ णाणसंजमणिमित्तं ।
झाणज्झयणणिमित्तं अणियारो मोक्खमग्गरवो ॥ ११५ ॥
भुक्ते यथालाभं लभते यति ज्ञानसंयमनिमित्तं ।
ध्यानाध्ययननिमित्तं अनगारो मोक्षमार्गरत ॥

उयरग्गिसमणमक्खमक्खण गोयार सब्भपूरण भमर ।
णाऊण तप्पयारे णिच्च एव भुंजए भिक्खु ॥ ११६ ॥
उदराग्निशमन अक्षम्रक्षण गोचार श्वभ्रपूरण भ्रमर ।
ज्ञात्वा तत्प्रकारान् नित्यमेव भुक्ते भिक्षु ॥

रसरुहिरमंसमेदट्ठिसुकिलमलमुत्तपूयकिमिबहुलं ।
दुग्गंधमसुइचम्ममयमणिधमचेयणं पडणं ॥ ११७ ॥
रसरुधिरमांसमेदोऽस्थिशुक्रमलमूत्रपूयकृमिबहुलं ।
दुर्गंधमशुचि चर्ममयमनित्यमचेतनं पतनं ॥

बहुदुक्खभायणं कम्मकारणं भिण्णमप्पणो देहो ।
तं देहं धम्माणुट्ठाणकारणं चेदि पोसए भिक्खू ॥ ११८ ॥
बहुदु खभाजनं कर्मकारणं भिन्न आत्मनो देह ।
तं देहं धर्मानुष्ठानकारणं चेति पोषयेत् भिक्षु ।

कोहेण य कलहेण य जायणसीलेण संकिलेसेण ।
रुद्देण य रोसेण य भुंजइ किं वितरो भिक्खू ॥ ११९ ॥
क्रोधेन च कलहेन च याचनाशीलेन संक्लेशेन ।
रुद्रेण च रोषेण च भुक्ते किं व्यन्तरो भिक्षु ॥

दिव्वुत्तरणसरित्थं जाणिचाहो धरेह जइ सुद्धो ।
तत्तायसपिंडसमं भिक्खू तुह पाणिगयपिंडं ॥ १२० ॥

१ देहं ख ।

दिव्योत्तरणसदृशं ज्ञात्वा अहो धर यदि शुद्धं।
तप्तायःपिण्डसमं भिक्षो! तव पाणिगतपिण्डं॥

संजमतवझाणज्झयविण्णाणए गिण्हए पडिग्गहणं।
वज्जइ गिण्हइ भिक्खू ण सक्कदे वज्जिदुं दुक्खं॥ १२१॥

संयमतपोध्यानाध्ययनविज्ञानकेन गृह्णाति प्रतिग्रहणं।
त्यक्त्वा गृह्णाति भिक्षु न शक्नोति वर्जितुं दुःखं॥

भुंसो अयोगुलोसइयो तत्तो अग्गिसिखोपमो यज्जे।
भुंजइ ये दुस्सीला रत्तपिंडं असंयत्तो॥ १२२॥

....।
....॥

अविरददेसमहव्वइ आगमरुइणं विचारतच्चण्हं।
पत्तंतरं सहस्सं णिदिट्ठं जिणवरिंदेहिं॥ १२३॥

अविरतदेशमहाव्रतिनां आगमरुचीनां विचारतत्त्वज्ञानां।
पात्रान्तरं सहस्रं निर्दिष्टं जिनवरेन्द्रैः॥

उवसमणिरीहझाणज्झयणाइमहागुणा जहा दिट्ठा।
जेसिं ते मुणिणाहा उत्तमपत्ता तहा भणिया॥ १२४॥

उपशमनिरीहध्यानाध्ययनमहागुणा यथा दृष्टाः।
येषां ते मुनिनाथा उत्तमपात्राणि तथा भणिताः॥

दंसणसुद्धो धम्मज्झाणरदो संगवज्जिदो णिसल्लो।
पत्तविसेसो भणियो तें गुणहीणो दु विवरीदो॥ १२५॥

दर्शनशुद्धो धर्म्यध्यानरतः संगवर्जितः निःशल्यः।
पात्रविशेषो भणितः तैर्गुणैः हीनस्तु विपरीतः॥

---

१ अस्या गाथाया भाषा नावगतः पुस्तकद्वयेऽपि अशुद्धात्मभाति। २ तं पुस्तकद्वयेऽपि पाठः ३ नेयं गाथा ख. पुस्तके।

सम्माइगुणविसेसं पत्तविसेसं जिणेहि णिद्दिट्ठं ।
तं........ .... ॥ १२६ ॥

सम्यक्त्वादिगुणविशेषः पात्रविशेषो जिनैः निर्दिष्टः ।
.... ॥

ण वि जाणइ जिणसिद्धसरूव तिविहेण तह णियप्पाणं ।
जो तिव्वं कुणइ तवं सो हिंडइ दीहसंसारे ॥ १२७ ॥

नापि जानाति जिनसिद्धस्वरूपं त्रिविधेन तथा निजात्मानं ।
यः तीव्रं करोति तपः स हिंडते दीर्घसंसारे ॥

णिच्छयववहारसरूवं जो रयणत्तयं ण जाणइ सो ।
जं कीरइ तं मिच्छारूवं सव्वं जिणुद्दिट्ठं ॥ १२८ ॥

निश्चयव्यवहारस्वरूपं यो रत्नत्रयं न जानाति सः ।
यत्करोति तन्मिथ्यारूपं सर्वं जिनदृष्टं ॥

किं जाणिऊण सयलं तच्चं किच्चा तवं च किं बहुलं ।
सम्मविसोहिविहीणं णाणतवं जाण भववीयं ॥ १२९ ॥

किं ज्ञात्वा सकलं तत्वं कृत्वा तपः च किं बहुलं ।
सम्यक्त्वविशुद्धिविहीनं ज्ञानतपः जानीहि भवबीजं ॥

वयगुणसीलपरीसहजयं च चरियं च तवं छडावसयं ।
झाण झयणं सव्वं सम्म विणा जाण भववीयं ॥ १३० ॥

व्रतगुणशीलपरीषहजयं च चरितं च तपः षडावश्यकानि ।
ध्यानं अध्ययनं सर्वं सम्यक्त्वं विना जानीहि भवबीजं ॥

राई पूजा लाहं मक्काराइं किमिच्छसे जोई ।
इच्छसि जइ परलोयं तेहिं किं तुझ परलोयं ॥ १३१ ॥

१ गाथेयं ख-पुस्तके नास्ति ।

ख्यातिं पूजा लाभ सत्कारादि किमिच्छसि योगिन्]।
इच्छसि यदि परलोकं तैः किं तव परलोकं ॥

कम्मादविहावसहावगुणं जो भाविऊण भावेण।
णियसुद्धप्पा रुच्चइ तस्स य णियमेण होइ णिव्वाणं ॥१३२॥

कर्मात्मविभावस्वभावगुणं यो भावयित्वा भावेन।
निजशुद्धात्मा रोचते तस्मै च नियमेन भवति निर्वाणं ॥

मूलुत्तरुत्तरदव्वादो भावकम्मदो मुक्को।
आसवबंधणसंवरणिज्जर जाणेह किं बहुणा ॥ १३३ ॥

मूलोत्तरोत्तरद्रव्यत भावकर्मतः मुक्त।
आस्रवबन्धनसंवरनिर्जरा जानीहि किं बहुना ॥

विसयविरत्तो मुंचइ विसयासत्तो ण मुंचए जोई।
बहिरंतरपरमप्पाभेयं जाणेह किं बहुणा ॥ १३४ ॥

विषयविरक्तो मुंचति विषयासक्तो न मुंचति योगी।
बहिरन्त परमात्मभेदं जानीहि किं बहुना ॥

अप्पाण णाणझाणज्झयणसुहमियरसायणप्पाणं।
मोत्तूणक्खाण सुहं जो भुंजइ सो हु बहिरप्पा ॥ १३५ ॥

आत्मनो ज्ञानध्यानाध्ययनसुखामृतरसायनपानं।
मुक्त्वा अक्षाणां सुखं यो भुंक्ते स हि बहिरात्मा ॥

किंपायफलं पक्कं विसमिस्सिदमोदगिंव चारुसुहं।
जिब्भसुहं दिट्ठिपियं जह तह जाणक्खसोक्खं पि ॥ १३६ ॥

किम्पाकफलं विषमिश्रितमोदकं चारुसुखं।
जिह्वासुखं दृष्टिप्रियं यथा तथा जानीहि अक्षसुखमपि ॥

---

१ आसवबंधसंवरणिज्जरमेय ख। २ णियअप्पाणं ख। ३ मोदगिंदवारुणसोहं ख।

देह कलत्तं पुत्तं मित्ताइ विहावचेदणारूवं ।
अप्पसरूवं भावइ सो चेव हवेइ बहिरप्पा ॥ १३७ ॥

देह कलत्र पुत्र मित्रादिक विभावचेतनारूप ।
आत्मस्वरूप भावयति स एव भवेत् बहिरात्मा ॥

इंदियविसयसुहाइसु मूढमई रमइ ण लहई तच्चं ।
बहुदुक्खमिदि ण चिंतइ सो चेव हवेइ बहिरप्पा ॥ १३८ ॥

इन्द्रियविषयसुखादिषु मूढमति रमते न लभते तत्त्व ।
बहुदु खमिति न चिन्तयति स एव भवेत् बहिरात्मा ॥

जं जं अक्खाण सुहं तं तं तिव्वं करेइ बहुदुक्खं ।
अप्पाणमिदि ण चिंतइ सो चेव हवेइ बहिरप्पा ॥१३९॥

यद्यदक्षाणा सुखं तत्तत्तीव्र करोति बहुदु ख ।
आत्मानमिति न चि तयति स एव भवेद्बहिरात्मा ॥

जेसिं अमेज्झमज्झे उप्पण्णाणं हवेइ तत्थेव रुई ।
तह बहिरप्पाणं बाहिरिंदियविसएसु होइ मई ॥ १४० ॥

येषा अमेध्यमध्ये उत्पन्नाना भवत तत्रैव रुचि ।
तथा बहिरात्मना बहिरिन्द्रियविषयेषु भवति मति ॥

सिविणे वि ण भुंजइ विसयाइं देहाइभिण्णभावमई ।
[1]जइ णियप्परूवो सिवसुहरत्तो दु मज्झिमप्पो सो ॥१४१॥

स्वप्नेऽपि न भुक्ते विषयान् देहादिभिन्नभावमति ।
भुक्ते निजात्मरूपं शिवसुखरक्त तु मध्यमात्मा स ॥

मलमुत्तघडव्व चिर वासिय दुव्वासणं ण मुंचेइ ।
पक्खालियसम्मत्तजलो यण्णाणम्मएण पुण्णो वि ॥ १४२ ॥

१ रमइ लहइ ण लहई त ख। २ वि य णाणावियेण पुण्णो वि ख।

मलमूत्रघटवत् चिरं वासिता दुर्वासना न मुञ्चति ।
प्रक्षालितसम्यक्त्वजलो यज्ज्ञानामृतेन पूर्णोऽपि ॥

सम्माइट्ठी णाणी अक्खाण सुहं कहं पि अणुहवइ ।
केणावि ण परिहारइ वाहेणविणासणट्ठ भेसज्जं ॥ १४३ ॥

सम्यग्दृष्टिः ज्ञानी अक्षाणां सुखं कथमपि अनुभवति ।
केनापि न परिहारयति व्याधिविनाशार्थं भेषजं ॥

किं बहुणा हो तजि बहिरप्पसरूवाणि सयलभावाणि ।
भजि मज्झिमपरमप्पा वत्थुसरूवाणि भावाणि ॥ १४४ ॥

किं बहुना अहो त्यज बहिरात्मस्वरूपान् सकलभावान् ।
भज मध्यमपरमात्मना वस्तुस्वरूपान् भावान् ॥

चउगइसंसारगमणकारणभूयाणि दुक्खहेऊणि ।
ताणि हवे बहिरप्पा वत्थुसरूवाणि भावाणि ॥ १४५ ॥

चतुर्गतिसंसारगमनकारणभूता दुःखहेतवः ।
ते भवन्ति बहिरात्मनां वस्तुस्वरूपा भावाः ॥

मोक्खगइगमणकारणभूयाणि पसत्थपुण्णहेऊणि ।
ताणि हवे दुविहप्पा वत्थुसरूवाणि भावाणि ॥१४६॥

मोक्षगतिगमनकारणभूताः प्रशस्तपुण्यहेतवः ।
ते भवन्ति द्विविधात्मनां वस्तुस्वरूपा भावाः ॥

दव्वगुणपज्जएहिं जाणइ परसमयसमयादिविभेयं ।
अप्पाणं जाणइ सो सिवगइपहणायगो होई ॥१४७॥

द्रव्यगुणपर्यायैः जानाति परसमयस्वसमयादिविभेदं ।
आत्मानं जानाति स शिवगतिपथनायको भवति ॥

---

१ वाहिविणासण ख ।

बहिरंतरप्पभेयं परसमयं भण्णये जिणिंदेहिं।
परमप्पो सगसमयं तब्भेयं जाण गुणठाणे ॥१४८॥
बहिरन्तरात्मभेदः परसमयः भण्यते जिनेन्द्रैः।
परमात्मा स्वकसमयः तद्भेदं जानीहि गुणस्थाने ॥

मिस्सोत्ति बाहिरप्पा तरतमया तुरिय अंतरप्पजहण्णा।
संतोत्ति मज्झिमंतर खीणुत्तम परम जिणसिद्धा ॥१४९॥
मिश्रेति बहिरात्मा तरतमकः तुर्ये अन्तरात्मजघन्यः।
शान्तेति मध्यमान्तः क्षीणे उत्तमः परमाः जिनसिद्धाः ॥

मुढत्तयसल्लत्तयदोसत्तयदंडगारवत्तयेहिं।
परिमुक्को जोई सो सिवगइपहणायगो होई ॥१५०॥
मूढत्रयशल्यत्रयदोषत्रयदण्डगारवत्रयैः।
परिमुक्तो योगी स शिवगतिपथनायको भवति।

रयणत्तयकरणत्तयजोगत्तयगुत्तित्तयविसुद्धेहिं।
संजुत्तो जोई सो सिवगइपहणायगो होई ॥१५१॥
रत्नत्रयकरणत्रययोगत्रयगुप्तित्रयविशुद्धैः।
संयुक्तो योगी स शिवगतिपथनायको भवति ॥

बहिरब्भंतरगंथविमुक्को सुद्धोवजोयसंजुत्तो।
मूलुत्तरगुणपुण्णो सिवगइपहणायगो होई ॥१५२॥
बहिरभ्यन्तरग्रन्थविमुक्तः शुद्धोपयोगसंयुक्तः।
मूलोत्तरगुणपूर्णः शिवगतिपथनायको भवति ॥

जं जाइ जरामरणंदुहदुट्ठविसाहिविसविणासयरं।
सिवसुहलाहं सम्मं संभावइ सुणई साहए साहू ॥१५३॥

१-२ य. ख। ३ थे. ख।

यज्जातिजरामरणदुःखदुष्टविपाहिविषविनाशकरं ।
शिवसुखलाभं सम्यक्त्वं संभावय शृणु साधक साधो ! ॥
किं बहुणा हो देविंदाहिंदणरिंदगणधरिंदेहिं ।
पुज्जा परमप्पा जे तं जाण पहाणसम्मगुणं ॥१५४॥
किं बहुना अहो देवेन्द्राहीन्द्रनरेन्द्रगणधरेन्द्रैः ।
पूज्याः परमात्मानः ये तज्जानीहि प्रधानसम्यक्त्वगुणं ॥
उवसमई सम्मत्तं मिच्छत्त बलेण पेल्लए तस्स ।
परिवट्टंति कसाया अवसप्पिणिकालदोसेण ॥१५५॥
उपशमकं सम्यक्त्वं मिथ्यात्वं बलेन क्षिपति तत् [१]।
परिवर्तन्ते कषाया अवसर्पिणीकालदोषेण ॥
गुणवयतवसमपडिमादाणं जलगालणं अणत्थमियं ।
दंसणणाणचरित्तं किरिया तेवण्ण सावया भणिया ॥१५६॥
गुणव्रततपःसमप्रतिमादानं जलगालनं अनस्तमितं [२]।
दर्शनज्ञानचारित्रं क्रिया त्रिपंचाशत् श्रावका भणिता ॥
णाणेण झाणसिद्धी झाणादो सव्वकम्मणिज्जरणं ।
णिज्जरणफलं मोक्खं णाणब्भासं तदो कुज्जा ॥१५७॥
ज्ञानेन ध्यानसिद्धिः ध्यानतः सर्वकर्मनिर्जरणं ।
निर्जरणफलं मोक्षः ज्ञानाभ्यासं ततः कुर्यात् ॥
कुसलस्स तवो णिवुणस्स संजमो समपरस्स वेरग्गो ।
सुदभावणेण तत्तिय तम्हा सुदभावणं कुणह ॥१५८॥

१ अस्माद्गाथासूत्रादग्र १२२ अङ्के स्थिता गाथा पुनरपि लिखित–पुस्तके वर्तते । सा तु अत्र पुनर्न मुद्रिता । ख पुस्तके तु अत्रैव वर्तते, न तु तत्र ।
२ रात्रिभुक्तिवर्जनं ।

कुशलस्य तप निपुणस्य सयम समपरस्य वैराग्य ।
श्रुतभावनेन तत्त्रय तस्माच्छ्रुतभावना कुर्यात् ॥

कालमणंतं जीवो मिच्छसरूवेण पंचसंसारे ।
हिंडदि ण लेई सम्मं संसारब्भमणपारंभो ॥१५९॥
कालमनन्त जीवो मिथ्यात्वस्वरूपेण पंचसंसारे ।
हिण्डते न लभते सम्यक्त्व संसारभ्रमणप्रारम्भ ॥

सम्मद्दंसणसुद्धं जाव दु लभते हि ताव सुही ।
सम्मद्दंसणसुद्धं जाव ण लभते हि ताव दुही ॥१६०॥
सम्यग्दर्शनशुद्ध यावत्तु लभते हि तावत् सुखी ।
सम्यग्दर्शनशुद्ध यावन्न लभते हि तावद्दुःखी ॥

किं बहुणा वयणेण दु सव्वं दुक्खेव सम्मत्त विणा ।
सम्मत्तेण वि जुत्तं सव्वं सोक्खेव जाणं खु ॥१६१॥
किं बहुना वचनेन तु सर्वं दुःखमेव सम्यक्त्वं विना ।
सम्यक्त्वेनापि युक्त सर्वं सुखमेव जानीहि खलु ॥

णिक्खेवणयप्पमाणं सद्दालंकारछंद लहिऊणं ।
णाटयपुराणकम्मं सम्म विणा दीहसंसारं[1] ॥१६२॥
निक्षेपनयप्रमाण शब्दालंकारछन्द . ।
नाटकपुराणकर्म सम्यक्त्व विना दीर्घससार ॥

रयणत्तयमेव गणं गच्छं गमणस्स मोक्खमग्गस्स ।
संघो गुणसंघाओ समयो खलु णिम्मलो अप्पा[4] ॥१६३॥

१ लहइ ख । २ दा ख । ३ संसारा ख । ४ अस्या अग्रे–चमही इति ११० पिच्छे इति १११ गाथाद्वय लिखित–पुस्तके वर्तते, तच्च पूर्वं ४१४ पृष्ठे आगत । ख–पुस्तके तु अत्रैव वर्तते न तु पूर्वं । ५ अस्मादग्रे मिहिरो इति, मिच्छध इति, पवयणसार इति, धम्मज्झाण इति च गाथाचतुष्टय । तच्च पूर्वं क्रमेण ५२–५३–५१–५६ अङ्के आगतं ।

रत्नत्रयमेव गणं गच्छं गमनस्य मोक्षमार्गस्य ।
संघो गुणसंघातः समयः खलु निर्मल आत्मा ॥

जिणलिंगधरो जोई विरायसम्मत्तसंजुदो णाणी ।
परमोवेक्खाइरियो सिवगइपहणायगो होई[1] ॥१६४॥

जिनलिङ्गधरो योगी विरागसम्यक्त्वसंयुतो ज्ञानी ।
परमोपेक्षादिरितः शिवगतिपथनायको भवति ॥

सम्मं णाणं वेरग्गतवोभावं णिरीहवित्तिचारित्तं ।
गुणसीलसहावं उप्पज्जइ रयणसारमिणं[2] ॥१६५॥

सम्यक्त्वं ज्ञानं वैराग्यतपोभावं निरीहवृत्तिचारित्रं ।
गुणशीलस्वभावं उत्पादयति रत्नसारोऽयं ॥

गंथमिणं जो ण दिट्ठइ ण हु मण्णइ ण हु सुणेइ ण हु पढइ ।
ण हु चिंतइ ण हु भावइ सो चेव हवेइ कुद्दिट्ठी ॥१६६॥

ग्रन्थमिमं यो न पश्यति न हि मन्यते न हि शृणोति न हि पठति ।
न हि चिन्तयति न हि भावयति स चैव भवेत् कुदृष्टिः ॥

इदि सज्जणपुज्जं रयणसारं गथं णिरालसो णिच्चं ।
जो पढइ सुणइ भावइ पावइ सो सासयं ठाणं ॥ १६७ ॥

इति सज्जनपूज्यं रत्नसारग्रन्थं निरालसो नित्यं ।
यः पठति शृणोति भावयति प्राप्नोति स शाश्वतं स्थानं ॥

समाप्तोऽयं रयणसारः

---

१ अस्या अग्रे ५४ अंके स्थिता कामदुहीति गाथा वर्तते लिखित-पुस्तके । ख-पुस्तके तु अत्रैव । २ अस्मादग्रे अजविसप्पिणी यादि ६० अंके स्थिता गाथा लिखित-पुस्तके, ख-पुस्तके त्वत्रैव ।

वारस अणुवेक्खा ।



णमिऊण सव्वसिद्धे झाणुत्तमखविददीहसंसारे ।
दस दस दो दो य जिणे दस दो अणुपेहणं वोच्छे ॥ १ ॥

नत्वा सर्वसिद्धान् ध्यानोत्तमक्षपितदीर्घसंसारान् ।
दश दश द्वौ द्वौ च जिनान् दश द्वौ अनुप्रेक्षा वक्ष्ये ॥

अद्धुवमसरणमेगत्तमण्णसंसार लोगमसुचित्तं ।
आसवसंवरणिज्जरधम्मं बोहिं च चिंतेज्जो ॥ २ ॥

अध्रुवमशरणमेकत्वमन्यसंसारे लोकमशुचित्वं ।
आस्रवसंवरनिर्जराधर्मं बोधिं च चिन्तयत् ॥

वरभवणजाणवाहणसयणासण देवमणुवरायाणं ।
मादुपिदुसजणभिच्चसंबंधिणो य पिदिवियाणिच्चा ॥ ३ ॥

वरभवनयानवाहनशयनासनानि देवमनुजराज्ञाम् ।
मातृपितृस्वजनभृत्यसम्बन्धिनश्च पितृव्योऽनित्याः ॥

सामग्गिंदियरूवं आरोग्ग जोव्वणं बलं तेजं ।
सोहग्गं लावण्णं सुरधणुमिव सस्सयं ण हवे ॥ ४ ॥

समग्रेन्द्रियरूपं आरोग्यं यौवनं बलं तेजः ।
सौभाग्यं लावण्यं सुरधनुरिव शाश्वतं न भवेत् ॥

जलबुब्बुदसक्कधणुखणरुचिघणसोहमिव थिरं ण हवे ।
अहमिंदट्ठाणाइं बलदेवप्पहुदिपज्जाया ॥ ५ ॥

जलबुद्बुदशक्रधनुःक्षणरुचिघनशोभेव स्थिरं न भवेत् ।
अहमिन्द्रस्थानानि बलदेवप्रभृतिपर्यायाः ॥

जीवणिबद्धं देहं खीरोदयमिव विणस्सदे सिग्घं।
भोगोपभोगकारणदव्वं णिचं कहं होदि ॥ ६ ॥
जीवनिबद्ध देह क्षीरोदकमिव विनश्यति शीघ्रम्।
भोगोपभोगकारणद्रव्य नित्य कथ भवति ॥
परमट्ठेण दु आदा देवासुरमणुवरायविहवेहिं।
वदिरित्तो सो अप्पा सस्सदमिदि चिंतए णिचं ॥ ७ ॥
परमार्थेन तु आत्मा देवासुरमनुजराजविभवैः।
व्यतिरिक्त स आत्मा शाश्वत इति चिन्तयेत् नित्यं ॥

इत्यध्रुवानुप्रेक्षा।

मणिमंतोसहरक्खा हयगयरहओ य सयलविज्जाओ।
जीवाणं ण हि सरणं तिसु लोए मरणसमयम्हि ॥ ८ ॥
मणिमन्त्रौषधरक्षा हयगजरथाश्च सकलविद्या।
जीवाना न हि शरणं त्रिषु लोकेषु मरणसमये ॥
सग्गो हवे हि दुग्गं भिच्चा देवा य पहरणं वज्जं।
अइरावणो गइंदो इंदस्स ण विज्जदे सरणं ॥ ९ ॥
स्वर्गो भवेत् हि दुर्गं भृत्या देवाश्च प्रहरण वज्र।
ऐरावणो गजेन्द्र इन्द्रस्य न विद्यते शरणं ॥
णवणिहि चउदहरयणं हयमत्तगइंदचाउरंगबलं
चक्केसस्स ण सरणं पेच्छंतो कद्दिये काले ॥ १० ॥
नवनिधि चतुर्दशरत्न हयमत्तगजेन्द्रचतुरङ्गबलम्।
चक्रेशस्य न शरण पश्यत कर्दितं कालेन ॥

---

१ रहइ सयल, पुस्तके पाठः।

जाइजरमरणरोगभयदो रक्खेदि अप्पणो अप्पा ।
तम्हा आदा सरणं बंधोदयसत्तकम्मवदिरित्तो ॥ ११ ॥
जातिजरामरणरोगभयत रक्षति आत्मानं आत्मा ।
तस्मादात्मा शरणं [illegible]धोदयसत्त्वकर्मव्यतिरिक्त ॥
अरुहा सिद्धाइरिया उवज्झाया साहु पंचपरमेट्ठी ।
ते वि हु चेट्ठदि आदे तम्हा आदा हु मे सरणं ॥ १२ ॥
अर्हन्त सिद्धा आचार्या उपाध्याया साधव पञ्चपरमेष्ठिन ।
ते पि हि तिष्ठन्ति आत्मनि तस्मात् आत्मा हि मे शरणम् ॥
सम्मत्तं सण्णाणं सच्चारित्तं च सत्तवो चेव ।
चउरो चेट्ठदि आदे तम्हा आदा हु मे सरणं ॥ १३ ॥
सम्यक्त्वं सद्ज्ञानं सच्चारित्रं च सत्तपश्चैव ।
चत्वारि तिष्ठन्ति आत्मनि तस्मात् आत्मा हि मे शरणम् ॥
इत्यशरणानुप्रेक्षा ।

एक्को करेदि कम्मं एक्को हिंडदि य दीहसंसारे ।
एक्को जायदि मरदि य तस्स फलं भुंजदे एक्को ॥ १४ ॥
एक करोति कर्म एक हिण्डति च दीर्घसंसारे ।
एक जायते म्रियते च तस्य फल भुङ्क्ते एक ॥
एक्को करेदि पावं विसयणिमित्तेण तिव्वलोहेण ।
णिरयतिरियेसु जीवो तस्स फलं भुंजदे एक्को ॥ १५ ॥
एक करोति पाप विषयनिमित्तेन तीव्रलोभेन ।
नरकतिर्यक्षु जीवो तस्य फलं भुङ्क्ते एक ॥
एक्को करेदि पुण्णं धम्मणिमित्तेण पत्तदाणेण ।
मणुवदेवेसु जीवो तस्स फलं भुंजदे एक्को ॥ १६ ॥

एकः करोति पुण्यं धर्मनिमित्तेन पात्रदानेन ।
मानवदेवेषु जीवो तस्य फलं भुङ्क्ते एकः ॥

उत्तमपत्तं भणियं सम्मत्तगुणेण संजुदो साहू ।
सम्मादिट्ठी सावय मज्झिमपत्तो हु विण्णेयो ॥ १७ ॥

उत्तमपात्रं भणितं सम्यक्त्वगुणेन संयुतः साधुः ।
सम्यग्दृष्टिः श्रावको मध्यमपात्रं हि विज्ञेयः ॥

णिद्दिट्ठो जिणसमये अविरदसम्मो जहण्णपत्तोत्ति ।
सम्मत्तरयणरहियो अपत्तमिदि संपरिक्खेज्जो ॥ १८ ॥

निर्दिष्टः जिनसमये अविरतसम्यक्त्वः जघन्यपात्रं इति ।
सम्यक्त्वरत्नरहितः अपात्रमिति संपरीक्ष्य ॥

दंसणभट्ठा भट्ठा दंसणभट्ठस्स णत्थि णिव्वाणं ।
सिज्झंति चरियभट्ठा दंसणभट्ठा ण सिज्झंति ॥ १९ ॥

दर्शनभ्रष्टा भ्रष्टा दर्शनभ्रष्टस्य नास्ति निर्वाणम् ।
सिद्ध्यन्ति चरित्रभ्रष्टा दर्शनभ्रष्टा न सिद्ध्यन्ति ॥

एक्कोहं णिम्ममो सुद्धो णाणदंसणलक्खणो ।
सुद्धेयत्तमुपादेयमेवं चिंतेइ संजदो ॥ २० ॥

एकोऽहं निर्ममः शुद्धः ज्ञानदर्शनलक्षणः ।
शुद्धैकत्वमुपादेयं एवं चिंतयेत् संयतः ॥

इत्येकत्वानुप्रेक्षा ।

मादापिदरसहोदरपुत्तकलत्तादिबंधुसंदोहो ।
जीवस्स ण संबंधो णियकज्जवसेण वट्टंति ॥ २१ ॥

मातृपितृसहोदरपुत्रकलत्रादिबन्धुसन्दोहः।
जीवस्य न सम्बन्धो निजकार्यवशेन वर्तन्ते॥

अण्णो अण्णं सोयदि मदोत्ति मम णाहगोत्ति मण्णंतो।
अप्पाणं ण हु सोयदि संसारमहण्णवे बुड्डं॥ २२॥

अन्यः अन्यं शोचति मदीयोऽस्ति मम नायक इति मन्यमानः।
आत्मानं न हि शोचति संसारमहार्णवे पतितम्॥

अण्णं इमं सरीरादिगंपि जं होज्ज बाहिरं दव्वं।
णाणं दंसणमादा एवं चिंतेहि अण्णत्तं॥ २३॥

अन्यदिदं शरीरादिकं अपि यत् भवति बाह्यं द्रव्यम्।
ज्ञानं दर्शनमात्मा एवं चिन्तय अन्यत्वम्॥

इत्यन्यत्वानुप्रेक्षा।

पंचविहे संसारे जाइजरामरणरोगभयपउरे।
जिणमग्गमपेच्छंतो जीवो परिभमदि चिरकालं॥ २४॥

पंचविधे संसारे जातिजरामरणरोगभयप्रचुरे।
जिनमार्गमपश्यन् जीवः परिभ्रमति चिरकालम्॥

सव्वे वि पोग्गला खलु एगे भुत्तुज्झिया हु जीवेण।
असयं अणंतखुत्तो पुग्गलपरियट्टसंसारे॥ २५॥

सर्वेऽपि पुद्गलाः खलु एकेन भुक्तोज्झिता हि जीवेन।
असकृदनंतकृत्वः पुद्गलपरिवर्तसंसारे॥

सव्वम्हि लोयखेत्ते कमसो तण्णत्थि जण्ण उप्पण्णं।
उग्गाहणेण बहुसो परिभमिदो खेत्तसंसारे॥ २६॥

सर्वस्मिन् लोकक्षेत्रे क्रमश तन्नास्ति यत्र न उत्पन्न ।
अवगाहनेन बहुश परिभ्रमित क्षेत्रससारे ॥

अवसप्पिणिउस्सप्पिणिसमयावलियासु णिरवसेसेसु ।
जादो मुदो य बहुसो परिभमिदो कालससारे ॥ २७ ॥

अवसर्पिण्युत्सर्पिणासमयावलिकासु निरवशेषासु ।
जात मृत च बहुश परिभ्रमित कालससारे ॥

णिरयाउजहण्णादिसु जाव दु उवरिल्लवा (गा) दु गेवेज्जा ।
मिच्छत्तसंसिदेण दु बहुसो वि भवट्ठिदी भमिदो ॥ २८ ॥

नरकायुर्जघन्यादिषु यावत् तु उपरितनानि ग्रैवेयिकाणि ।
मिथ्यात्वसश्रितेन तु बहुश अपि भवस्थिती भ्रमित ॥

सव्वे पयडिट्ठिदिओ अणुभागप्पदेसबंधठाणाणि ।
जीवो मिच्छत्तवसा भमिदो पुण भावससारे ॥ २९ ॥

सर्वा प्रकृतिस्थितयोऽनुभागप्रदेशबन्धस्थानानि ।
जीव मिथ्यात्ववशात् भ्रमित पुन भावसंसारे ॥

पुत्तकलत्तणिमित्त अत्थं अज्जयदि पावबुद्धीए ।
परिहरदि दयादाणं सो जीवो भमदि संसारे ॥ ३० ॥

पुत्रकलत्रनिमित्त अर्थं अर्जयति पापबुद्ध्या ।
परिहरति दयादान स जीव भ्रमति ससारे ॥

मम पुत्त मम भज्जा मम धणधण्णोत्ति तिव्वकंखाए ।
चइऊण धम्मबुद्धिं पच्छा परिपडदि दीहसंसारे ॥ ३१ ॥

मम पुत्रो मम भार्या मम धनधान्यमिति तीव्रकाङ्क्षया ।
त्यक्त्वा धर्मबुद्धिं पश्चात् परिपतति दीर्घससारे ॥

मिच्छोदयेण जीवो णिंदंतो जेण्णभासियं धम्मं।
कुधम्मकुलिंगकुतित्थं मण्णंतो भमदि संसारे ॥ ३२ ॥
मिथ्यात्वोदयेन जीवः निंदन् जैनभाषितं धर्मम्।
कुधर्मकुलिङ्गकुतीर्थं मन्यमानः भ्रमति संसारे ॥

हंतूण जीवरासिं महुमंसं सेविऊण सुरपाणं।
परदव्वपरकलत्तं गहिऊण य भमदि संसारे ॥ ३३ ॥
हत्वा जीवराशिं मधुमांसं सेवित्वा सुरापानम्।
परद्रव्यपरकलत्रं गृहीत्वा च भ्रमति संसारे ॥

जत्तेण कुणइ पावं विसयणिमित्तं च अहणिसं जीवो।
मोहंधयारसहिओ तेण दु परिपडदि संसारे ॥ ३४ ॥
यत्नेन करोति पापं विषयनिमित्तं च अहर्निशं जीवः।
मोहान्धकारसहितः तेन तु परिपतति संसारे ॥

णिचिदरधादुसत्त य तरुदस वियलिंदिएसु छच्चेव।
सुरणिरयतिरियचउरो चोद्दस मणुवे सदसहस्सा ॥ ३५ ॥
नित्येतरधातुसप्त च तरुदश विकलेन्द्रियेषु षट् चैव।
सुरनारकतिर्यक्चतस्रः चतुर्दश मनुजे शतसहस्राः ॥

संजोगविप्पजोगं लाहालाहं सुहं च दुक्खं च।
संसारे[1] भूदाणं होदि हु माणं तहावमाणं च ॥ ३६ ॥
संयोगविप्रयोगं लाभालाभं सुखं च दुःखं च।
संसारे भूतानां भवति हि मानं तथावमानं च ॥

कम्मणिमित्तं जीवो हिंडदि संसारघोरकांतारे।
जीवस्स ण संसारो णिचयणयकम्मणिम्मुक्को ॥ ३७ ॥

१ संसारे अभूदमाणं इति पुस्तके पाठः।

सर्वस्मिन् लोकक्षेत्रे क्रमश तन्नास्ति यत्र न उत्पन्न ।
अवगाहनेन बहुश परिभ्रमित क्षेत्रससारे ॥

अवसप्पिणिउस्सप्पिणिसमयावलियासु णिरवसेसेसु ।
जादो मुदो य बहुसो परिभमिदो कालससारे ॥ २७ ॥

अवसर्पिण्युत्सर्पिणीसमयावलिकासु निरवशेषासु ।
जात मृत च बहुश परिभ्रमित कालससारे ॥

णिरयाउजहण्णादिसु जाव दु उवरिल्लवा (गा) दु गेवेज्जा ।
मिच्छत्तसंसिदेण दु बहुसो वि भवट्ठिदी भमिदो ॥ २८ ॥

नरकायुर्जघन्यादिषु यावत् तु उपरितनानि ग्रैवेयिकाणि ।
मिथ्यात्वसंश्रितेन तु बहुश अपि भवस्थितो भ्रमित ॥

सव्वे पयडिट्ठिदिओ अणुभागप्पदेसबंधठाणाणि ।
जीवो मिच्छत्तवसा भमिदो पुण भावसंसारे ॥ २९ ॥

सर्वा प्रकृतिस्थितयोऽनुभागप्रदेशबन्धस्थानानि ।
जीव मिथ्यात्ववशात् भ्रमित पुन भावसंसारे ॥

पुत्तकलत्तणिमित्तं अत्थं अज्जयदि पावबुद्धीए ।
परिहरदि दयादाणं सो जीवो भमदि संसारे ॥ ३० ॥

पुत्रकलत्रनिमित्त अर्थ अर्जयति पापबुद्ध्या ।
परिहरति दयादान स जीव भ्रमति ससारे ॥

मम पुत्तं मम भज्जा मम धणधण्णोत्ति तिव्वकंखाए ।
चइऊण धम्मबुद्धिं पच्छा परिपडदि दीहसंसारे ॥ ३१ ॥

मम पुत्रो मम भार्या मम धनधान्यमिति तीव्रकाक्षया ।
त्यक्त्वा धर्मबुद्धिं पश्चात् परिपतति दीर्घसंसारे ॥

मिच्छोदयेण जीवो णिंदंतो जेण्णभासियं धम्मं।
कुधम्मकुलिंगकुतित्थं मण्णंतो भमदि संसारे ॥ ३२ ॥
मिथ्यात्वोदयेन जीव निंदन् जैनभाषित धर्मम्।
कुधर्मकुलिङ्गकुतीर्थं मन्यमान भ्रमति ससारे ॥

हंतूण जीवरासिं महुमंसं सेविऊण सुरपाणं।
परदव्वपरकलत्तं गहिऊण य भमदि संसारे ॥ ३३ ॥
हत्वा जीवराशिं मधुमांसं सेवित्वा सुरापानम्।
परद्रव्यपरकलत्रं गृहीत्वा च भ्रमति ससारे ॥

जत्तेण कुणइ पावं विसयणिमित्तं च अहणिसं जीवो।
मोहंधयारसहिओ तेण दु परिपडदि संसारे ॥ ३४ ॥
यत्नेन करोति पाप विपयनिमित्त च अहर्निश जीव।
मोहान्धकारसहित तेन तु परिपतति ससारे ॥

णिचिदरधादुसत्त य तरुदस वियलिंदिएसु छच्चेव।
सुरणिरयतिरियचउरो चोद्दस मणुवे सदसहस्सा ॥ ३५ ॥
नित्येतरधातुसप्त च तरुदश विकलेन्द्रियेषु पट् चैव।
सुरनारकतिर्यक्चतस्र चतुर्दश मनुजे शतसहस्रा ॥

संजोगविप्पजोगं लाहालाहं सुहं च दुक्खं च।
संसारे भूदाणं होदि हु माणं तहावमाणं च ॥ ३६ ॥
सयोगविप्रयोगं लाभालाभ सुख च दु ख च।
ससारे भूताना भवति हि मान तथावमान च ॥

कम्मणिमित्तं जीवो हिंडदि संसारघोरकांतारे।
जीवस्स ण संसारो णिचयणयकम्मणिम्मुको ॥ ३७ ॥

१ ससारे अभूद्माण इति पुस्तके पाठ ।

कर्मनिमित्त जीव हिंडति संसारघोरकान्तारे ।
जीवस्य न संसार निश्चयनयकर्मनिर्मुक्त ॥

संसारमदिक्कंतो जीवोवादेयमिदि विचिंतेज्जो ।
संसारदुहक्कंतो जीवो सो हेयमिदि विचिंतेज्जो ॥ ३८ ॥

संसारमतिक्रान्त जीव उपादेय इति विचिन्तनीयम् ।
संसारदुःखाक्रान्त जीव स हेय इति विचिन्तनीयम् ॥

इति संसारानुप्रेक्षा ।

जीवादिपयट्ठाणं समवाओ सो णिरुच्चये लोगो ।
तिविहो हवेइ लोगो अहमज्झिमउड्ढभेएण ॥ ३९ ॥

जीवादिपदार्थाना समवाय स निरुच्यते लोक ।
त्रिविध भवेत् लोक अधोमध्योर्ध्वभेदेन ॥

णिरया हवंति हेट्ठा मज्झे दीवंबुरासयोसंखा ।
सग्गो तिसट्ठिभेओ एत्तो उड्ढं हवे मोक्खो ॥ ४० ॥

नरका भवति अधस्तने मध्ये द्वीपाम्बुराशया असख्या ।
स्वर्ग त्रिपष्टिभेद एतस्मात् ऊर्ध्वं भवेत् मोक्ष ॥

इगितीस सत्त चत्तारि दोण्णि एक्केक छक्क चदुकप्पे ।
तित्तिय एक्केक्केंदियणामा उडआदितेसट्ठी ॥ ४१ ॥

एकत्रिंशत् सप्त चत्वारि द्वौ एकैकं षट्क चतु कल्पे ।
त्रित्रिकमेकैकेन्द्रकनामानि ऋत्वादित्रिपष्टि ॥

असुहेण णिरयतिरियं सुहउवजोगेण दिविजणरसोक्खं ।
सुद्धेण लहइ सिद्धिं एवं लोयं विचिंतिज्जो ॥ ४२ ॥

अशुभेन नरकतिर्यञ्च शुभोपयोगेन दिविज नरसौख्यम्।
शुद्धेन लभते सिद्धिं एवं लोकं विचिन्तनीयं ॥
इति लोकानुप्रेक्षा।

अट्ठीहिं पडिबद्धं मंसविलित्तं तएण ओच्छण्णं।
किमिसंकुलेहिं भरिदमचोक्खं देहं सयाकालं ॥ ४३ ॥
अस्थिभिः प्रतिबद्धं मांसविलिप्तं त्वचा अवच्छन्नम्।
क्रिमिसंकुलैः भरितं अप्रशस्तं देहं सदाकालम् ॥
दुग्गंधं बीभत्थं कलिमलभरिदं अचेयणं मुत्तं।
सडणप्पडणसहावं देहं इदि चिंतये णिच्चं ॥ ४४ ॥
दुर्गंधं बीभत्सं कलिमलभृतं अचेतनं मूर्तम्।
स्खलनपतनस्वभावं देहं इति चिन्तयेत् नित्यम् ॥
रसरुहिरमंसमेदट्ठीमज्जसंकुलं मुत्तपूयकिमिबहुलं।
दुग्गंधमसुचि चम्ममयमणिच्चमचेयणं पडणम् ॥ ४५ ॥
रसरुधिरमांसमेदास्थिमज्जासंकुलं मूत्रपूयक्रमिबहुलम्।
दुर्गन्धं अशुचि चर्ममयं अनित्यं अचेतनं पतनम् ॥
देहादो वदिरित्तो कम्मविरहिओ अणंतसुहणिलयो।
चोक्खो हवेइ अप्पा इदि णिच्चं भावणं कुज्जा ॥ ४६ ॥
देहात् व्यतिरिक्तः कर्मविरहितः अनन्तसुखनिलयः।
प्रशस्तः भवेत् आत्मा इति नित्यं भावनां कुर्यात् ॥
इत्यशुचित्वानुप्रेक्षा।

मिच्छत्तं अविरमणं कसायजोगा य आसवा होंति।
पणपणचउतियभेदा सम्मं परिकित्तिदा समए ॥ ४७ ॥

मिथ्यात्वं अविरमणं कषाययोगाश्च आस्रवा भवन्ति ।
पञ्चपञ्चचतुः त्रिकभेदाः सम्यक् प्रकीर्तिताः समये ॥

एयंतविणयविवरियसंसयमण्णाणमिदि हवे पंच ।
अविरमणं हिंसादी पंचविहो सो हवइ णियमेण ॥ ४८ ॥

एकान्तविनयविपरीतसंशय अज्ञानं इति भवेत् पञ्च ।
अविरमणं हिंसादि पञ्चविधं तत् भवति नियमेन ॥

कोहो माणो माया लोहो वि य चउविहं कसायं खु ।
मणवचिकाएण पुणो जोगो तिवियप्पमिदि जाणे ॥ ४९ ॥

क्रोधः मानः माया लोभः अपि च चतुर्विधः कषायः खलु ।
मनोवचःकायेन पुनः योगः त्रिविकल्पः इति जानीहि ॥

असुहेदरभेदेण दु एक्केक्कं वण्णिदं हवे दुविहं ।
आहारादीसण्णा असुहमणं इदि विजाणेहि ॥ ५० ॥

अशुभेतरभेदेन तु एकैकं वर्णितं भवेत् द्विविधम् ।
आहारादिसंज्ञा अशुभमनः इति विजानीहि ॥

किण्हादितिण्णि लेस्सा करणजसोक्खेसु गिद्धिपरिणामो ।
ईसाविसादभावो असुहमणं त्ति य जिणा वेंति ॥ ५१ ॥

कृष्णादितिस्रः लेश्या करणजसौख्येषु गृद्धिपरिणामः ।
ईर्षाविषादभावः अशुभमनः इति च जिना ब्रुवन्ति ॥

रागो दोसो मोहो हास्सादीणोकसायपरिणामो ।
थूलो वा सुहुमो वा असुहमणो त्ति य जिणा वेंति ॥ ५२ ॥

रागः द्वेषः मोहः हास्यादि नोकषायपरिणामः ।
स्थूलः वा सूक्ष्मः वा अशुभमनः इति च जिना ब्रुवन्ति ॥

भत्तिच्छिरायचोरकहाओ वयणं वियाण असुहमिदि।
बंधणछेदणमारणकिरिया सा असुहकायेत्ति ॥ ५३ ॥

भक्तस्त्रीराजचोरकथा वचन विजानीहि अशुभमिति।
बन्धनछेदनमारणक्रिया सा अशुभकाय इति ॥

मोत्तूण असुहभावं पुव्वुत्तं णिरवसेसदो दव्वं।
वदसमिदिसीलसंजमपरिणामं सुहमणं जाणे ५४ ॥

मुक्त्वा अशुभभाव पूर्वोक्त निरवशेषत द्रव्यम्।
व्रतसमितिशीलसयमपरिणाम शुभमन जानीहि ॥

संसारछेदकारणवयणं सुहवयणमिदि जिणुद्दिट्ठं।
जिणदेवादिसु पूजा सुहकायं त्ति य हवे चेट्ठा ॥ ५५ ॥

ससारच्छेदकारणवचन शुभवचनमिति जिनोद्दिष्टम्।
जिनदेवादिषु पूजा शुभकायमिति च भवेत् चेष्टा ॥

जम्मसमुद्दे बहुदोसवीचिये दुक्खजलचराकिण्णे।
जीवस्स परिब्भमणं कम्मासवकारणं होदि ॥ ५६ ॥

जन्मसमुद्रे बहुदोषवीचिके दु खजलचराकीर्णे।
जीवस्य परिभ्रमण कर्मास्रवकारण भवति ॥

कम्मासवेण जीवो बूडदि संसारसागरे घोरे।
जण्णाणवसं किरिया मोक्खणिमित्तं परंपरया ॥ ५७ ॥

कर्मास्रवेण जीव बुडति ससारसागरे घोरे।
या ज्ञानवशा क्रिया मोक्षनिमित्त परम्परया ॥

आसवहेदू जीवो जम्मसमुद्दे णिमज्जदे खिप्पं।
आसवकिरिया तम्हा मोक्खणिमित्तं ण चिंतेज्जो ॥ ५८ ॥

आस्रवहेतोः जीवः जन्मसमुद्रे निमज्जति क्षिप्रम् ।
आस्रवक्रिया तस्मात् मोक्षनिमित्तं न चिन्तनीया ॥

पारंपज्जाएण दु आसवकिरियाए णत्थि णिव्वाणं ।
संसारगमणकारणमिदि णिंदं आसवो जाण ॥ ५९ ॥

पारम्पर्येण तु आस्रवक्रियया नास्ति निर्वाणम् ।
संसारगमनकारणमिति निन्द्य आस्रवं जानीहि ॥

पुव्वुत्तासवभेया णिच्छयणयएण णत्थि जीवस्स ।
उहयासवणिम्मुक्कं अप्पाणं चिंतए णिच्चं ॥ ६० ॥

पूर्वोक्तास्रवभेदा निश्चयनयेन न सन्ति जीवस्य ।
उभयास्रवनिर्मुक्तं आत्मानं चिन्तयेत् नित्यं ॥

इत्यास्रवानुप्रेक्षा ।

चलमलिणमगाढं च वज्जिय सम्मत्तदिढकवाडेण ।
मिच्छत्तासवदारणिरोहो होदित्ति जिणेहिं णिद्दिट्ठं ॥६१॥

चलमलिनमगाढं च वर्जयित्वा सम्यक्त्वदृढकपाटेन ।
मिथ्यात्वास्रवद्वारनिरोधः भवति इति जिनैः निर्दिष्टम् ॥

पंचमहव्वयमणसा अविरमणणिरोहणं हवे णियमा ।
कोहादिआसवाणं दाराणि कसायरहियपल्लगेहिं (?) ॥६२॥

पञ्चमहाव्रतमनसा अविरमणनिरोधनं भवेत् नियमात् ।
क्रोधादि आस्रवाणां द्वाराणि कषायरहितपरिणामैः ॥

सुहजोगेसु पवित्ती संवरणं कुणदि असुहजोगस्स ।
सुहजोगस्स णिरोहो सुद्धुवजोगेण संभवदि ॥ ६३ ॥

शुभयोगेषु प्रवृत्तिः संवरणं करोति अशुभयोगस्य ।
शुभयोगस्य निरोधः शुद्धोपयोगेन सम्भवति ॥

सुद्धुवजोगेण पुणो धम्मं सुक्कं च होदि जीवस्स।
तम्हा संवरहेदू झाणोत्ति विचिंतये णिच्चं॥ ६४॥

शुद्धोपयोगेन पुनः धर्मं शुक्लं च भवति जीवस्य।
तस्मात् संवरहेतुः ध्यानमिति विचिन्तयेत् नित्यम्॥

जीवस्स ण संवरणं परमट्ठणएण सुद्धभावादो।
संवरभावविमुक्कं अप्पाणं चिंतये णिच्चं॥ ६५॥

जीवस्य न संवरणं परमार्थनयेन शुद्धभावात्।
संवरभावविमुक्त आत्मानं चिन्तयेत्॥

इति संवरानुप्रेक्षा।

बंधपदेसग्गलणं णिज्जरणं इदि जिणेहि पण्णत्तम्।
जेण हवे संवरणं तेण दु णिज्जरणमिदि जाणे॥ ६६॥

बन्धप्रदेशगलनं निर्जरणं इति जिनैः प्रज्ञप्तं।
येन भवेत्संवरणं तेन तु निर्जरणमिति जानीहि॥

सा पुण दुविहा णेया सकालपक्का तवेण कयमाणा।
चदुगदियाणं पढमा वयजुत्ताणं हवे विदिया॥ ६७॥

सा पुनः द्विविधा ज्ञेया स्वकालपक्वा तपसा क्रियमाणा।
चतुर्गतिकानां प्रथमा व्रतयुक्तानां भवेत् द्वितीया॥

इति निर्जरानुप्रेक्षा।

एयारसदसभेयं धम्मं सम्मत्तपुव्वयं भणियं।
सागारणगाराणं उत्तमसुहसंपजुत्तेहिं॥ ६८॥

एकादशदशभेदो धर्मो सम्यक्त्वपूर्वको भणितः।
सागारानगाराणां उत्तमसुखसम्प्रयुक्तैः॥

दंसणवयसामाइयपोसहसचित्तरायभत्ते य।
बम्हारंभपरिग्गहअणुमणमुद्दिट्ठ देसविरदेदे॥ ६९॥

दर्शनव्रतसामायिकप्रोषधसचित्तरात्रिभक्ता च ।
ब्रह्मारम्भपरिग्रहानुमतोद्दिष्टा दशविरतस्यैत ॥

उत्तमखममद्दवज्जवसच्चसउच्चं च संजमं चेव ।
तवचागमकिंचण्हं बम्हा इदि दसविहं होदि ॥ ७० ॥

उत्तमक्षमामार्दवार्जवसत्यशौचं च सयम च ।
तपस्त्याग आकिञ्चन्य ब्रह्म इति दशविध भवति ॥

कोहुप्पत्तिस्स पुणो बहिरंगं जदि हवेदि सक्खादं ।
ण कुणदि किंचि वि कोह तस्स खमा होदि धम्मोत्ति ॥७१॥

क्रोधोत्पत्ते पुन बहिरङ्ग यदि भवेत् साक्षात् ।
न करोति किञ्चिदपि क्रोधं तस्य क्षमा भवति धर्म इति ॥

कुलरूवजादिबुद्धिसु तवसुदसीलेसु गारवं किंचि ।
जो ण वि कुव्वदि समणो मद्दवधम्मं हवे तस्स ॥ ७२ ॥

कुलरूपजातिबुद्धिषु तपश्रुतशीलेषु गर्वं किंचित् ।
य नैव करोति श्रमणो मार्दवधर्मो भवेत् तस्य ॥

मोत्तूण कुडिलभावं णिम्मलहिदयेण चरदि जो समणो ।
अज्जवधम्मं तइयो तस्स दु संभवदि णियमेण ॥ ७३ ॥

मुक्त्वा कुटिलभावं निर्मलहृदयेन चरति य श्रमण ।
आर्जवधर्म तृतीय तस्य तु सभवति नियमेन ॥

परसंतावयकारणवयणं मोत्तूण सपरहिदवयणं ।
जो वददि भिक्खु तुरियो तस्स दु धम्मो हवे सच्च ॥७४॥

परसतापककारणवचन मुक्त्वा स्वपरहितवचनम् ।
य वदति भिक्षु तुरीय तस्य तु धर्म भवेत् सत्यम् ॥

कंखाभावणिवित्तिं किच्चा वेरग्गभावणाजुत्तो ।
जो वट्टदि परममुणी तस्स दु धम्मो हवे सोच्चं ॥ ७५ ॥

काङ्क्षाभावनिवृत्तिं कृत्वा वैराग्यभावनायुक्तः ।
यः वर्तते परममुनिः तस्य तु धर्मः भवेत् शौचम् ॥

वदसमिदिपालणाए दंडच्चाएण इंदियजएण ।
परिणममाणस्स पुणो संजमधम्मो हवे णियमा ॥ ७६ ॥

व्रतसमितिपालनेन दण्डत्यागेन इन्द्रियजयेन ।
परिणममानस्य पुनः संयमधर्मः भवेत् नियमात् ॥

विसयकसायविणिग्गहभावं काऊण झाणसज्झाए ।
जो भावइ अप्पाणं तस्स तवं होदि णियमेण ॥ ७७ ॥

विषयकषायविनिग्रहभावं कृत्वा ध्यानस्वाध्यायेन ।
यः भावयति आत्मानं तस्य तपः भवति नियमेन ॥

णिव्वेगतियं भावइ मोहं चइऊण सव्वदव्वेसु ।
जो तस्स हवे चागो इदि भणिदं जिणवरिंदेहिं ॥ ७८ ॥

निर्वेगत्रिकं भावयेत् मोहं त्यक्त्वा सर्वद्रव्येषु ।
यः तस्य भवेत् त्यागः इति भणितं जिनवरेन्द्रैः ॥

होऊण य णिस्संगो णियभावं णिग्गहित्तु सुहदुहदं ।
णिद्दंदेण दु वट्टदि अणयारो तस्स किंचण्हं ॥ ७९ ॥

भूत्वा च निःसङ्गः निजभावं निगृह्य सुखदुःखदम् ।
निर्द्वन्द्वेन तु वर्तते अनगारः तस्याकिञ्चन्यम् ॥

सव्वंगं पेच्छंतो इत्थीण तासु मुयदि दुब्भावं ।
सो बम्हचेरभावं सुक्कदि खलु दुद्दरं धरदि ॥ ८० ॥

कंखाभावणिवित्तिं किच्चा वेरग्गभावणाजुत्तो ।
जो वट्टदि परममुणी तस्स दु धम्मो हवे सोच्चं ॥ ७५ ॥

काक्षाभावनिवृत्तिं कृत्वा वैराग्यभावनायुक्तः ।
यः वर्तते परममुनिः तस्य तु धर्मः भवेत् शौचम् ॥

वदसमिदिपालणाए दंडच्चाएण इंदियजएण ।
परिणममाणस्स पुणो संजमधम्मो हवे णियमा ॥ ७६ ॥

व्रतसमितिपालनेन दण्डत्यागेन इन्द्रियजयेन ।
परिणममानस्य पुनः संयमधर्मः भवेत् नियमात् ॥

विसयकसायविणिग्गहभावं काऊण झाणसज्झाए ।
जो भावइ अप्पाणं तस्स तवं होदि णियमेण ॥ ७७ ॥

विषयकषायविनिग्रहभावं कृत्वा ध्यानस्वाध्यायेन ।
यः भावयति आत्मानं तस्य तपः भवति नियमेन ॥

णिव्वेगतियं भावइ मोहं चइऊण सव्वदव्वेसु ।
जो तस्स हवे चागो इदि भणिदं जिणवरिंदेहिं ॥ ७८ ॥

निर्वेगत्रिकं भावयेत् मोहं त्यक्त्वा सर्वद्रव्येषु ।
यः तस्य भवेत् त्यागः इति भणितं जिनवरेन्द्रैः ॥

होऊण य णिस्संगो णियभावं णिग्गहित्तु सुहदुहदं ।
णिद्दंदेण दु वट्टदि अणयारो तस्स किंचण्हं ॥ ७९ ॥

भूत्वा च निःसङ्गः निजभावं निगृह्य सुखदुःखदम् ।
निर्द्वन्द्वेन तु वर्तते अनगारः तस्याकिञ्चन्यम् ॥

सव्वंगं पेच्छंतो इत्थीणं तासु मुयदि दुब्भावं ।
सो बम्हचेरभावं सुकदि खलु दुद्धरं धरदि ॥ ८० ॥

सर्वाङ्गं पश्यन् स्त्रीणां तासु मुञ्चति दुर्भावम् ।
स ब्रह्मचर्यभावं सुकृती खलु दुर्द्धरं धरति ॥

सावयधम्मं चत्ता जदिधम्मे जो हु वट्टए जीवो ।
सो ण य वज्जदि मोक्खं धम्मं इदि चिंतये णिच्चं ॥ ८१ ॥

श्रावकधर्मं त्यक्त्वा यतिधर्मे य हि वर्तते जीवः ।
स न च वर्जति मोक्षं धर्ममिति चिन्तयेत् नित्यम् ॥

णिच्छयणएण जीवो सागारणगारधम्मदो भिण्णो ।
मज्झत्थभावणाए सुद्धप्पं चिंतये णिच्चं ॥ ८२ ॥

निश्चयनयेन जीवः सागारानागारधर्मतः भिन्नः ।
मध्यस्थभावनया शुद्धात्मानं चिन्तयेत् नित्यम् ॥

इति धर्मानुप्रेक्षा ।

उप्पज्जदि सण्णाणं जेण उवाएण तस्सुवायस्स ।
चिंता हवेइ बोही अच्चंतं दुल्लहं होदि ॥ ८३ ॥

उत्पद्यते सद्ज्ञानं येन उपायेन तस्योपायस्य ।
चिन्ता भवेत् बोधिः अत्यन्तं दुर्लभं भवति ॥

कम्मुदयजपज्जाया हेयं खाओवसमियणाणं खु ।
सगदव्वमुवादेयं णिच्छित्ति होदि सण्णाणं ॥ ८४ ॥

कर्मोदयजपर्याया हेयं क्षायोपशमिकज्ञानं खलु ।
स्वकद्रव्यमुपादेयं निश्चिति भवति सद्ज्ञानम् ॥

मूलुत्तरपयडीओ मिच्छत्तादी असंखलोगपरिमाणा ।
परदव्वं सगदव्वं अप्पा इदि णिच्छयणएण ॥ ८५ ॥

मूलोत्तरप्रकृतय मिथ्यावादय असंख्यलोकपरिमाणा ।
परद्रव्य स्वकद्रव्य आत्मा इति निश्चयनयेन ॥

एव जायदि णाणं हेयमुवादेय णिच्छये णत्थि ।
चिंतेज्जइ मुणि बोहिं संसारविरमणट्ठे य ॥ ८६ ॥
एव जायते ज्ञान हेयोपादेय निश्चयेन नास्ति ।
चिन्तयेत् मुनि बोधिं ससारविरमणार्थं च ॥

इति बोध्यनुप्रेक्षा ।

बारसअणुवेक्खाओ पच्चक्खाणं तहेव पडिक्कमणं ।
आलोयण समाही तम्हा भावेज्ज अणुवेक्खं ॥ ८७ ॥
द्वादशानुप्रेक्षा प्रत्याख्यान तथैव प्रतिक्रमणम् ।
आलोचन समाधि तस्मात् भावयेत् अनुप्रेक्षाम् ॥

रत्तिदिव पडिकमण पच्चक्खाण समाहिं सामइयं ।
आलोयणं पकुव्वदि जदि विज्जदि अप्पणो सत्ती ॥ ८८ ॥
रात्रिदिवं प्रतिक्रमण प्रत्याख्यान समाधिं सामयिकम् ।
आलोचना प्रकुर्यात् यदि विद्यते आत्मन शक्ति ॥

मोक्खगया जे पुरिसा अणाइकालेण बारअणुवेक्खं ।
परिभाविऊण सम्मं पणमामि पुणो पुणो तेसिं ॥ ८९ ॥
मोक्षगता ये पुरुषा अनादिकालेन द्वादशानुप्रेक्षाम् ।
परिभाव्य सम्यक् प्रणमामि पुन पुन तान् ॥

किं पलविंयेण बहुणा जे सिद्धा णरवरा गये काले ।
सिज्झिहहि जे वि भविया तज्जाणह तस्स माहप्पं ॥९०॥
किं प्रलपितेन बहुना ये सिद्धा नरवरा गते काले ।
सेत्स्यन्ति येऽपि भविका तद् जानीहि तस्या माहात्म्यम् ॥

इदि णिच्छयववहारं जं भणियं कुंदकुंदमुणिणाहें ।
जो भावइ सुद्धमणो सो पावइ परमणिव्वाणं ॥ ९१ ॥
इति निश्चयव्यवहारं यत् भणितं कुन्दकुन्दमुनिनाथेन ।
यः भावयति शुद्धमनाः स प्राप्नोति परमनिर्वाणम् ॥

इति श्रीकुन्दकुन्दाचार्यविरचिता द्वादशानुप्रेक्षा
समाप्ता ।

समाप्तोऽयं षट्प्राभृतादिसंग्रहः ।

शुभं भूयात् ।

षट्प्राभृतीय-मूलगाथानामकारादिक्रमेण

सूची ।

इति मूलानुक्रमणिका ।

षट्प्राभृतटीकोक्तोद्धरण–श्लोकानामकारादिक्रमेण

सूची ।

समाप्तेयमनुक्रमणिका ।

प्रकीर्णकसूत्रवाक्यानां

सूची ।

लिंगशीलप्राभृत-रयणसार-द्वादशानुप्रेक्षाणां

अकाराद्यनुक्रमणिका ।

रयणसारस्य पाठभेदः ।

रयणसाराख्यस्य ग्रन्थस्य मुद्रणानन्तरं पुस्तकमेकं ब्रह्मचारिशीतलप्रसादद्वारेण लाला हरसुखराय जैनपुस्तकालयस्य सम्प्राप्तं । तत्रत्य पाठभेदोऽत्र मुद्यते—

पृष्ठसंख्या	गाथासंख्या	मुद्रितपाठ	पाठान्तरम्
३९६	१९	बाहमिसय	बाहणैविहव ।
३९९	३४	बाह्यामनायरोसे	वाहीगमायैरो सो
३९९	३५	विहामदिट्ठी य	विहीणदिट्ठी यै
३९९	३६	सूलो व्वयि	सूलाव्वय
३९९	३६	सीदुण्हबाहिराइ	सीदुण्हमरोइ
४००	३८	परिही ण	परिहीणो
४०१	४५	पविख	मविख
४०२	४९	तवसार	तवसायार
४०२	४९	जिणवरवयण	जिणवयण
४०२	५२	जहा विणसिजइ	जहा वि य मिजइ
४०३	५४	परम	पुरुडं
४०३	५५	णिम्मलवय	णिम्मलभरैव
४०६	७४	अण्णाणी	अण्णाणीदो ।
४०७	७६	कण्णाइ	कणयाइ
४०८	८०	मुंडदरो	मुडाभो
,,	,,	णिरमुंडदरो	णिरमुडाभो
,,	८४	सम्माण विण य रुइ	सम्माणविणयरुैवा
४१०	९२	सालविहीणो राउ	सील विहीणो भाभो
४१६	१२१	यत्ने	एवे
,	१२३	आगमदट्ठण	आगम लस
४१७	१२५	स,	स जाणिऊण देइ सुदीण जो सो हु मोक्खरओ ।
४१७	१२९	णाणतव	अणाणतव

१ वाहनविभव । २ व्याधीनामाकर स । ३ विहीनदृष्टिय । ४ निर्मल जलवत् । ५ सम्मानविनयरुचा । ६ शीलवेदीनराभाग । ७ ■ ज्ञात्वा ददाति सुदान यः स हि मोक्षरत । ८ अज्ञानतप ।

४१८	१३६	मोदगिण चाकसुद	मोदगिदचाहणिमोह
४१९	१४०	मइ	कई
	१४१	भुंजइ	भुञ्जई
४२०	१४३	देणावि ण परिहारण वाहण	तेण विणा परिहरणं वाहीण (व्याधीनां)

४१९ पृष्ठे १४० गाथासूत्रतोऽग्रे इद गाथासूत्रमधिकं वर्तते—

गुणसूपरसाणाण सारामिमभवभवसणाण पि ।

मणु जाइ जहो मज्झ बहिरप्पाण तहा णेय ॥

४२१ पृष्ठे १६२ अङ्क वर्तमान गाथासूत्र तृतीयपुस्तके नास्ति ।

अथ विशेषोऽत्र रयणसारतृतीयपुस्तके अन्तिम गाथासूत्रत्रय १५८ गाथातोऽग्रे वर्तते । तत्पश्चात् उवसमइ सम्मत्त इत्यादीनि गाथासूत्राणि यथाक्रमं वर्तन्ते । अन्त च पवयणसार मास धम्मज्झाणब्भासं अज्झवसप्पिणि ६० इती मानि त्रीणि गाथासूत्राणि प्राग्युक्तान्येवात्र पुनरपि सन्ति । अतो ग्रन्थसंख्या १७० प्रमिता सजाता । उक्तसूत्रत्रयेऽग्रहणे १६७ प्रमितेव संख्या संजायते । द्वितीय मुद्रितपुस्तके तु १५५ परिमिता गाथा सन्ति अस्मिन् पुस्तके यानि गाथा सूत्राणि नैवोपलभ्य त तेषां तत्र तत्रोल्लेख कृत एव ।

शुद्धयशुद्धिपत्रम् ।

अशुद्धयः	शुद्धय	पंक्तय	पृष्ठ
इतिदश	इति दश	६	९
दिङ्र	दिङ्ङ	१३	९
आपया	आपाया	१२	३८
सूतस्य	सुतस्य	१४	५८
पक्किा	पक्किमा	२५	८०
मविचार्य	सुविचार्य	२	९१
ओक्रोश	आक्रोश	९	११०
उक्ङि	उक्ङ्ग	७	४०
उक्त	उक्त	११	१२२
कीर्ति वद्य	कीर्तिर्वद्य	१२	१२६
तत् स्वनन्त	तत्स्वनन्त	८	१४७
हलानोभार	हलाना भार	६	१६८
विशयरवान्	विशेषत्वात्	८	,,
वृद्धिमिन्द्वा	वृद्धिमिन्वा	६	१७१
तिति	तीति	४	,,
रात्रावेव	रात्रानेव	१७	,,
भुदाटित	भुरघाटित	१७	,,
कर्तुं	कर्तुं	३०	१८१
मुरालीवीरवरो	मुराली वीरवरो	१	१८२
भवर्ता	भवती	२३	२१६
मजति	मजन्ति	१	२१८
बोधि	बोधि	२	,,

नुला	नुला	२
मघमांण	मधमणि	१८
धरमनो	धर मनो	१
रवोय	स्वैाय	१०
बोहेतं	बेहित	२१
उग्गम	उग्गमं	८
ञीकादि	श्रीकादि ।	८
भादेहि	आदे हि	१९
सहिय	हिय	१९
यार	याता	२२
तहा सूया	तहासूया	११
तघा सूया	तथाऽसूया	१२
दवग्र	दवग्र	७

शुद्ध्यशुद्धिपत्रम् ।

अशुद्ध्य	शुद्ध्य	पङ्क्तय	पृष्ठ
इतिदश	इति दश	६	९
विद्र	विद्व	१३	९
भाषया	भाषाया	१२	२८
सूत्तत्थ	सुत्तत्थ	१४	५८
पक्तिया	पड्डिमा	२५	८०
सविचार्यं	सुविचार्य	२	९१
ओकोश	आक्रोश	९	११०
उकिट	उकिट्ठ	७	११७
उक्त	उक्त	२३	१२२
कीति बद्य	कीर्तिर्वंद्य	१२	१२३
तत् स्वनन्त	तत्स्वनन्त	८	१४७
हलानोमार	हलानो मार	६	१६८
विशापत्वात्	विशेषत्वात्	८	,,
शुद्धिमि'वा	शुद्धिमित्वा	६	१७५
तिति	तीति	४	,,
राम्रावेष	रात्रावेव	१७	
मुद्घाटित	मुद्घाटित	१७	
कर्तुं	कर्तुं	२०	
मुशलीवीरवरो	मुशली वीरवरो	१	
भवर्ता	भवती	२३	
मजलि	मञ्जलि	१	
बोधि	बोधि	२	